रामकृष्ण शर्मा
हिन्दी साहित्य संसार, दिल्ली–[illegible]

ब्रांच
खजान्ची रोड, पटना–४

प्रथम संस्करण
अक्टूबर १९६३

मूल्य
साढ़े बारह रुपये (१२.५०)

मुद्रक
भारत मुद्रणालय (रजि०)
शाहदरा, दिल्ली–३२

दो शब्द

हिन्दी भाषा-साहित्य मे टीका ग्रथो को जो उपेक्षा एव निरादर प्राप्त हुआ है उसका एकमात्र कारण यह है कि इस 'टीका' शब्द का प्रयोग बहुत रूढ अर्थ मे होता रहा है। अन्य भाषाओ के साहित्य मे इस शब्द की दशा इस प्रकार की नही है। मराठी मे टीका आलोचना को ही कहा जाता है। महाराष्ट्र का आलोचक टीकाकार ही कहलाता है। सस्कृत मे भी टीका शब्द उपेक्षणीय नही है। आदरणीय श्री राजशेखर ने 'काव्यमीमासा' मे टीका को आलोचना का ही एक रूप माना है। पाश्चात्य जगत् मे भी टीकाकार होना गौरव की बात ही समझी जाती है। यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो टीका उस व्याख्यात्मक आलोचना, जिसे मौल्टन ने सर्वश्रेष्ठ समीक्षा-पद्धति की सज्ञा दी है, का ही एक रूप है। वस्तुतः टीकाकार मे भी वही प्रतिभा अपेक्षित है जो एक सत्समालोचक मे होनी चाहिए।

यह भी सत्य है कि हिन्दी मे टीका-ग्रथो का अभाव है। जो कुछ पुस्तकें टीका ग्रथ के नाम से प्रकाशित की जा रही हैं वे वस्तुत टीका ग्रथ नही कहला सकतीं। बाजार मे जो पुस्तकें कुंजी, मार्गदर्शक, पथप्रदर्शक तथा गाइड आदि नामो से बिक रही हैं उन्हें टीका की सज्ञा देना 'टीका' जैसे महान् शब्द का अपमान करना है। सच पूछा जाय तो इसी प्रकार की पुस्तको की बहुलता के कारण ही टीका उपेक्षा की वस्तु बन गई है। इसी अभाव की पूर्ति के हेतु इन पक्तियो के लेखक ने महाकवि सूरदास के 'सूरसागर' नामक काव्यग्रथ के आधार पर प्रस्तुत भ्रमरगीत का सम्पादन (टीका सहित) किया है। शायद प्रस्तुत पुस्तक टीका के प्रति उपेक्षा को कम करने मे किसी दृष्टिकोण से किसी न किसी मात्रा मे सहायक बने।

व्याख्या के सम्बन्ध मे एक बात और कह देना चाहता हूँ। मराठी मे 'व्याख्या' को रसग्रहण कहा गया है। मराठी का यह 'रसग्रहण' शब्द व्याख्या के लिए अत्यन्त उपयुक्त एव सार्थक शब्द है। व्याख्याकार किसी भी पद अथवा पक्ति का स्पष्टीकरण ठीक तभी कर सकता है जबकि वह उसका रसास्वादन कर सके। यदि मैं कहना चाहूँ तो कह सकता हूँ कि हमारे कुंजी लेखक महाशयो के सम्मुख रसग्रहण का प्रश्न ही नही उठता। वे तो प्रकाशक महोदय द्वारा प्रदान किये हुए चश्मे से रसग्रहण करने के आदी बन चुके हैं। उनकी इन पुस्तको के विषय मे यदि यह कह दिया जाय कि वे 'लोकहिताय' के स्थान पर लोकभ्रमाय का ही आदर्श प्रस्तुत करती हैं तो कुछ भी अत्युक्ति न होगी। इन पक्तियो का लेखक अपनी इस टीका की नूतनता पर कोई गर्व

प्रगट करना तो नहीं चाहता किन्तु हाँ, इतना अवश्य कह सकता है कि उसने सूर के पदों को समझने का प्रयास अवश्य किया है।

सूर का 'भ्रमरगीत' प्रायः प्रत्येक विश्वविद्यालय की एम०ए० कक्षा में पढ़ाया जाता है। लेखक ने पुस्तक के लिखने में जहाँ सूर के रसिक पाठकों को सामग्री दी है वहाँ इन उच्च कक्षाओं के विद्यार्थियों के हित का भी ध्यान रखा है। पहले कुछ पृष्ठों मे भ्रमरगीत से सम्बन्धित एक भूमिका है जो सूर के इन पदों को समझने मे पाठक को सहायता प्रदान करेगी तथा साथ ही विद्यार्थियों के लिए परीक्षोपयोगी प्रश्नों के उत्तर भी दे सकेगी।

अतृप्ति लक्ष्यपूर्ति मे साधक होती है, इस बात को समझते हुए लेखक अपनी इस कृति पर पूर्ण संतोष नहीं कर पा रहा है। अत वह अपने उन मित्रों का सदैव आभारी रहेगा जो इसकी त्रुटियों और अभावो की ओर उसका ध्यान आकृष्ट करावेंगे।

पुस्तक आपके हाथो मे है। कैसी बन पड़ी है, इसका निश्चय आप ही करेंगे। मैं तो केवल इतना ही कह सकता हूँ कि इसकी उपादेयता का श्रेय महाकवि सूरदास को है जिनके पदो से यह अलङ्कृत हो पायी है और इसकी त्रुटियो का दायित्व मेरी स्वयं की अल्पज्ञता पर है।

हापुड़ — दामोदरदास गुप्त
१५–१०–६३

विशेष

महाकवि महात्मा सूरदास के 'सूरसागर' काव्य पर आधारित प्रस्तुत भ्रमरगीत मे यद्यपि वे ही चार सौ पद हैं जिन्हे श्री आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'भ्रमरगीत सार' नामक सग्रह मे रखा है किन्तु दोनो के पद-क्रम मे पर्याप्त असमानता है। भ्रमरगीत की कथा को शुक्ल जी ने जिन शीर्षको मे विभाजित किया है, प्रस्तुत सग्रह मे वही कथा कुछ भिन्न शीर्षको मे उपस्थित की गई है। विषय-क्रम का यह उलट-फेर, जिससे दोनो सग्रहो के पदो के क्रम मे महान् अन्तर आ गया है, आवश्यक एव उपयुक्त समझ कर ही किया गया है। निम्न विवरण जहा एक ओर पदो के क्रम के महान् अन्तर का स्पष्ट प्रमाण है वहाँ दूसरी ओर सभवत. एक की अपेक्षा दूसरे की उपयुक्तता पर भी कुछ प्रकाश डाल सकेगा, ऐसी आशा करना निरर्थक न होगा।

शीर्षकों में अन्तर

शुक्ल जी के सग्रह में	प्रस्तुत संग्रह मे
१. श्रीकृष्ण का वचन उद्धव प्रति १ से ११ तक	१. उद्धव का श्रीकृष्ण के निकट आगमन १
२. उद्धव प्रति कुब्जा के वाक्य १२	२ श्रीकृष्ण वचन उद्धव-प्रति २ से ११ तक
३. उद्धव का व्रज मे आना १३	३. कुब्जा वचन उद्धव-प्रति १२
४. उद्धव का व्रज में दिखाई पड़ना १४ से १६७ तक	४. उद्धव का व्रज में आना तथा गोपियों का उनके आगमन पर विचार १३ से १५ तक
५. उद्धव वचन १६८ से ३७४ तक	५ भ्रमरगीत की सारी कथा सक्षेप में एक पद में १६
६ यशोदा का वचन उद्धव-प्रति ३७५ से ३७७ तक	६. उद्धव द्वारा गोपियो को श्रीकृष्ण का सदेश १७
७ कुब्जा-सदेश ३७८	७ उद्धव द्वारा गोपियों को कुब्जा का

८. उद्धव-गोपी संवाद ३७६
९. मथुरा लौटने पर उद्धव का वचन कृष्ण-प्रति ३८० से ३९९ तक
१०. कृष्ण-वचन उद्धव-प्रति ४००

८. उद्धव-गोपी संवाद १९
९. गोपी वचन २० से ३७६ तक
१०. यशोदा का वचन उद्धव-प्रति ३७७ से ३७९ तक
११. मथुरा लौटने पर उद्धव-वचन कृष्ण-प्रति ३८० से ३९९ तक
१२. श्रीकृष्ण-वचन उद्धव-प्रति ४००

पदों के क्रम में अन्तर

निम्न विवरण से जहाँ एक ओर सूर के भ्रमरगीत के विद्यार्थियों को यह ज्ञात होगा कि इन दोनों संग्रहों के पदों के क्रम में महान् अन्तर है, वहाँ साथ ही उन्हें यह भी सुगमता से पता लग जायगा कि इस संग्रह का कौनसा पद दूसरे संग्रह में किस स्थान पर संगृहीत है।

प्रस्तुत संग्रह के पद		शुक्ल जी के संग्रह में
१	—	३
२.	—	४
३.	—	५
४.	—	६
५	—	१
६.	—	७
७.	—	८
८.	—	९
९	—	२
१०	—	१०
११	—	११
१२.	—	१२
१३.	—	१३
१४.	—	१४
१५.	—	१५
१६.	—	१७

प्रस्तुत संग्रह के पद		शुक्ल जी के संग्रह में
१७.	—	१६८
१८.	—	३७८
१९.	—	३७९
२०.	—	१६
२१.	—	१८
२२.	—	१९
२३.	—	२२
२४.	—	२३
२५.	—	२०
२६.	—	२१
२७.	—	२६
२८	—	२७
२९.	—	२४
३०.	—	२५
३१.	—	३०
३२.	—	३१

प्रस्तुत संग्रह के पद		शुक्ल जी के संग्रह में	प्रस्तुत संग्रह के पद		शुक्ल जी के संग्रह मे
३३.	—	२६	६४.	—	६१
३४.	—	२८	६५.	—	६४
३५.	—	३४	६६.	—	६५
३६.	—	३५	६७.	—	६२
३७.	—	३२	६८.	—	६३
३८	—	३३	६९.	—	६८
३९	—	३८	७०.	—	६९
४०.	—	३९	७१.	—	६६
४१.	—	३६	७२.	—	६७
४२.	—	३७	७३.	—	७०
४३.	—	४०	७४.	—	७१
४४.	—	४१	७५	—	७४
४५	—	४२	७६.	—	७५
४६.	—	४३	७७.	—	७२
४७.	—	४६	७८.	—	७३
४८.	—	४७	७९.	—	७८
४९.	—	४४	८०.	—	७९
५०.	—	४५	८१.	—	७६
५१.	—	५०	८२	—	७७
५२.	—	५१	८३.	—	८४
५३.	—	४८	८४.	—	८५
५४.	—	४९	८५.	—	८६
५५.	—	५४	८६.	—	८७
५६.	—	५५	८७.	—	८८
५७.	—	५२	८८.	—	८९
५८.	—	५३	८९.	—	९०
५९.	—	५८	९०.	—	९१
६०.	—	५९	९१.	—	८२
६१.	—	५६	९२.	—	८३
६२.	—	५७	९३.	—	९२
६३.	—	६०	९४.	—	९३

प्रस्तुत संग्रह के पद		शुक्ल जी के संग्रह में
९५.	—	९४
९६.	—	९५
९७.	—	९६
९८.	—	९७
९९	—	८०
१००.	—	८१
१०१.	—	९८
१०२.	—	९९
१०३.	—	१००
१०४.	—	१०१
१०५.	—	१०२
१०६.	—	१०३
१०७.	—	१०४
१०८.	—	१०५
१०९.	—	१०६
११०	—	१०७
१११.	—	१०८
११२.	—	१०९
११३	—	११०
११४.	—	१११
११५	—	११२
११६.	—	११३
११७.	—	११४
११८.	—	११५
११९.	—	११६
१२०.	—	११७
१२१.	—	११८
१२२.	—	११९
१२३.	—	१२०
१२४	—	१२१
१२५.	—	१२२

प्रस्तुत संग्रह के पद		शुक्ल जी के संग्रह में
१२६.	—	१२३
१२७.	—	१२४
१२८.	—	१२५
१२९.	—	१२६
१३०.	—	१२७
१३१.	—	१२८
१३२.	—	१२९
१३३.	—	१३०
१३४.	—	१३१
१३५.	—	१३२
१३६.	—	१३३
१३७.	—	१३४
१३८.	—	१३५
१३९.	—	१ ६
१४०.	—	१३७
१४१.	—	१३८
१४२.	—	१३९
१४३.	—	१४०
१४४.	—	१४१
१४५.	—	१४२
१४६.	—	१४३
१४७.	—	१४४
१४८.	—	१४५
१४९.	—	१४६
१५०.	—	१४७
१५१.	—	१४८
१५२.	—	१४९
१५३.	—	१५०
१५४	—	१५१
१५५.	—	१५२
१५६.	—	१५३

प्रस्तुत संग्रह के पद		शुक्ल जी के संग्रह में	प्रस्तुत संग्रह के पद		शुक्ल जी के संग्रह में
१५७.	—	१५४	१८८.	—	१८६
१५८.	—	१५५	१८९.	—	१८७
१५९.	—	१५६	१९०.	—	१८८
१६०.	—	१५७	१९१.	—	१८९
१६१.	—	१५८	१९२.	—	१९०
१६२.	—	१५९	१९३.	—	१९१
१६३.	—	१६०	१९४.	—	१९२
१६४.	—	१६१	१९५.	—	१९३
१६५.	—	१६२	१९६.	—	१९४
१६६.	—	१६३	१९७.	—	१९५
१६७.	—	१६४	१९८.	—	१९६
१६८.	—	१६५	१९९.	—	१९७
१६९.	—	१६६	२००.	—	१९८
१७०	—	१६७	२०१.	—	१९९
१७१.	—	१६८	२०२.	—	२००
१७२.	—	१६९	२०३.	—	२०१
१७३.	—	१७०	२०४.	—	२०२
१७४.	—	१७१	२०५	—	२०३
१७५.	—	१७२	२०६	—	२०४
१७६.	—	१७३	२०७	—	२०५
१७७.	—	१७४	२०८	—	२०६
१७८.	—	१७५	२०९.	—	२०७
१७९.	—	१७६	२१०.	—	२०८
१८०.	—	१७७	२११.	—	२०९
१८१.	—	१७८	२१२.	—	२१०
१८२.	—	१७९	२१३.	—	२११
१८३.	—	१८०	२१४.	—	२१२
१८४.	—	१८१	२१५.	—	२१
१८५.	—	१८२	२१६.	—	२१४
१८६.	—	१८३	२१७	—	२१५
१८७	—	१८४	२१८.	—	२[illegible]

प्रस्तुत सग्रह के पद	शुक्ल जी के सग्रह में
२१९	२१७
२२०.	२१८
२२१.	२१९
२२२	२२०
२२३.	२२१
२२४	२२२
२२५	२२३
२२६	२२४
२२७	२२५
२२८.	२२६
२२९.	२२७
२३०.	२२८
२३१	२२९
२३२	२३०
२३३	२३१
२३४	२३२
२३५.	२३३
२३६	२३४
२३७.	२३५
२३८	२३६
२३९	२३७
२४०.	२३८
२४१	२३९
२४२	२४०
२४३	२४१
२४४	२४२
२४५	२४३
२४६	२४४
२४७	२४५
२४८.	२४६
२४९.	२४७

प्रस्तुत सग्रह के पद	शुक्ल जी के सग्रह मे
२५०	२४८
२५१	२४९
२५२.	२५०
२५३	२५१
२५४.	२५२
२५५	२५३
२५६.	२५४
२५७.	२५५
२५८	२५६
२५९	२५७
२६०.	२५८
२६१	२५९
२६२.	२६०
२६३.	२६१
२६४.	२६२
२६५	२६३
२६६	२६४
२६७.	२६५
२६८	२६६
२६९.	२६७
२७०.	२६८
२७१	२६९
२७२.	२७०
२७३	२७१
२७४	२७२
२७५	२७३
२७६.	२७४
२७७	२७५
२७८	२७६
२७९.	२७७
२८०.	२७८

प्रस्तुत सग्रह के पद		शुक्ल जी के संग्रह में
२८१.	—	२७९
२८२.	—	२८०
२८३.	—	२८१
२८४.	—	२८२
२८५.	—	२८३
२८६.	—	२८४
२८७.	—	२८५
२८८.	—	२८६
२८९.	—	२८७
२९०.	—	२८८
२९१.	—	२८९
२९२.	—	२९०
२९३.	—	२९१
२९४.	—	२९२
२९५.	—	२९३
२९६.	—	२९४
२९७.	—	२९५
२९८.	—	२९६
२९९.	—	२९७
३००.	—	२९८
३०१.	—	२९९
३०२.	—	३००
३०३.	—	३०१
३०४.	—	३०२
३०५.	—	३०३
३०६.	—	३०४
३०७	—	३०५
३०८.	—	३०६
३०९.	—	३०७
३१०.	—	३०८
३११.	—	३०९

प्रस्तुत संग्रह के पद		शुक्ल जी के संग्रह मे
३१२.	—	३१०
३१३.	—	३११
३१४.	—	३१२
३१५.	—	३१३
३१६.	—	३१४
३१७.	—	३१५
३१८.	—	३१६
३१९.	—	३१७
३२०.	—	३१८
३२१.	—	३१९
३२२.	—	३२०
३२३.	—	३२१
३२४.	—	३२२
३२५.	—	३२३
३२६.	—	३२४
३२७.	—	३२५
३२८.	—	३२६
३२९.	—	३२७
३३०.	—	३२८
३३१.	—	३२९
३३२.	—	३३०
३३३.	—	३३१
३३४.	—	३३२
३३५.	—	३३३
३३६.	—	३३४
३३७.	—	३३५
३३८.	—	३३६
३३९.	—	३३७
३४०.	—	३३८
३४१.	—	३३९
३४२.	—	३४०

प्रस्तुत संग्रह के पद		गुप्त जी के संग्रह में
३४३	—	३४१
३४४	—	३४२
३४५	—	३४३
३४६	—	३४४
३४७	—	३४५
३४८	—	३४६
३४९	—	३४७
३५०	—	३४८
३५१	—	३४९
३५२	—	३५०
३५३	—	३५१
३५४	—	३५२
३५५	—	३५३
३५६	—	३५४
३५७	—	३५५
३५८	—	३५६
३५९	—	३५७
३६०	—	३५८
३६१	—	३५९
३६२	—	३६०
३६३	—	३६१
३६४	—	३६२
३६५	—	३६३
३६६	—	३६४
३६७	—	३६५
३६८	—	३६६
३६९	—	३६७
३७०	—	३८८
३७१	—	३९९

प्रस्तुत संग्रह के पद		गुप्त जी के संग्रह में
३७२	—	३७०
३७३	—	३७१
३७४	—	३७२
३७५	—	३७३
३७६	—	३७४
३७७	—	३७५
३७८	—	३७६
३७९	—	३७७
३८०	—	३८०
३८१	—	३८१
३८२	—	३८४
३८३	—	३८५
३८४	—	३८६
३८५	—	३८७
३८६	—	३८८
३८७	—	३८२
३८८	—	३८३
३८९	—	३९३
३९०	—	३९४
३९१	—	३९५
३९२	—	३९६
३९३	—	३९७
३९४	—	३९८
३९५	—	३८९
३९६	—	३९०
३९७	—	३९९
३९८	—	३९१
३९९	—	३९२
४००	—	४००

अनुक्रमणिका

आलोचना-खण्ड

व्याख्या-खण्ड

: १ :

जीवन-परिचय और भ्रमरगीत-मूल्यांकन

जीवन-झाँकी

हिन्दी साहित्य के स्वर्ण-युग भक्ति-काल के कवियों के व्यक्तिगत जीवन विषय में प्रामाणिक एवं निश्चित रूप से कुछ कहना बड़ा कठिन है। इस काल कवि, कवि होने से पूर्व अपने आराध्यदेव के महान् प्रेमी भक्त थे। ... एवं स्वार्थ अपने प्रिय द्वारा निर्मित सृष्टि के कण-कण में व्याप्त हो गया था। वे अपने प्रिय के प्रेम में इतने तन्मय हो गये थे कि अपने विषय में वे न तो कुछ ही चाहते थे और न उनके पास इसके लिए कोई अवकाश ही था। उनके संसर्ग आने वाले व्यक्तियों ने भी उनके जीवन के विषय में बहुत कम लिखा है। 'सूरसागर' रचयिता महात्मा सूरदास के जीवन के विषय में भी यह कथन बावन तोले पाव रत्ती सही ही उतरता है। उनके जीवन का प्रामाणिक एवं मतभेदों से मुक्त वृत्त अप्राप्य है।

किन्तु तो भी विभिन्न विद्वानों ने इस विषय में अब तक अनेकों खोज की और अन्त साक्ष्य एवं बाह्यसाक्ष्य के आधार पर अपने अपने मतों की पुष्टि करने प्रयास किया है। यहाँ हम उन सब विवादग्रस्त मतों के चक्कर में न पड़कर सव ... उपयुक्त, प्रामाणिक एवं तर्कसंगत मतों के आधार पर ही उनके जीवन की प्रस्तुत करने का प्रयत्न करेंगे। सारल्य की दृष्टि से यदि हम अपने चरितनायक जीवन-क्रम को विभिन्न शीर्षकों में विभक्त कर लें, तो उचित ही रहेगा।

जन्म-स्थान तथा जन्म तिथि

वह कौनसा पावन स्थान था जिस पर भक्तराज सूरदास ने जन्म लिया था? इस विषय में गोपाचल, रुनकुता, गऊघाट तथा सीही आदि स्थानों का अनुमान ... जाता है। डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल गोपाचल को सूर की जन्मभूमि मानते हैं आचार्य शुक्ल तथा डॉ० श्यामसुन्दर दास ने अपना मत रुनकुता के पक्ष में ... किया है। गऊघाट वाली बात तो लगभग सभी प्रमुख विद्वान नहीं मानते। यहाँ तो सूरदासजी बाद में आये थे। सर्वाधिक प्रामाणिक, उपयुक्त एवं तर्कसंगत मत हमें वार्ता-साहित्य से ही उपलब्ध होता है। इसके अनुसार दिल्ली से चार कोस ... सीही नामक ग्राम ही सूर की जन्मभूमि है। इस मत की पुष्टि के प्रमाण सर्वा युक्तिसंगत प्रतीत होते हैं। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' के भावप्रकाश में श्री हरिरायजी

ने तो 'सीही' को इनकी जन्मभूमि बताया ही है, श्री गोकुलनाथ के समकालीन प्राणनाथ कवि का 'अष्टसखामृत' भी इसी की पुष्टि करता है।

इसी प्रकार इनकी जन्मतिथि के विषय मे भी कोई निश्चित मत अभी तक स्थिर नही हो पाया है। इस विषय मे 'सूर-सारावली' के १००२ वें पद की आयु-सम्बन्धी एक पंक्ति तथा साहित्यलहरी का 'मुनि पुनि रसन के रस लेख' वाला पद उल्लेखनीय है। इन दोनों पदो को लेकर विद्वानो मे पर्याप्त वादविवाद हुआ है। कुछ विद्वान 'सूर सारावली' तथा 'साहित्य लहरी' को एक साथ की रचना कहकर सूरदासजी का जन्म सम्वत् १५४० निश्चित करते हैं। किन्तु एक साथ की रचना होने के पुष्ट प्रमाणो की अनुपस्थिति मे ऐसा मानना हमारे वश के बाहर है। श्री नलिनीमोहन सान्याल के अनुसार इनका जन्म सवत १५४०-४१ के आस-पास ठहरता है। प्रमाणो के अभाव मे इस विचार को मान लेना भी युक्तिसगत प्रतीत नही होता।

पुष्टि सम्प्रदाय मे सूरदासजी श्री आचार्यजी से दस दिन छोटे माने जाते हैं। 'निजवार्ता' के सर्वाधिक प्राचीन प्रमाण के अतिरिक्त इस कथन की पुष्टि अन्य पुराने भक्तों तथा लेखको श्री द्वारिकेशजी, श्री रसिकदासजी तथा श्री जमुनादासजी द्वारा भी होती है। अभी डॉक्टर दीनदयाल गुप्त ने भी नाथद्वारे मे यही खोज की है। श्री आचार्यजी का जन्म स० १५३५ वैशाख कृष्ण ११ रविवार को हुआ था। अतः सूरदासजी की जन्मतिथि १५३५ वैशाख शुक्ला ५ ठहरती है। यही मत अभी तक अधिक युक्तिसगत माना जा रहा है।

डॉ० नन्ददुलारे वाजपेयी ने इस विषय मे बडौदा कालिज के संस्कृत के प्रो० श्री भट्टजी की खोज का भी सकेत दिया है। श्री भट्टजी ने भी आचार्यजी के जीवन से सम्बन्धित समस्त ग्रंथों के आधार पर यह सिद्ध किया है कि आचार्यजी का जन्म संवत १५३० मानना अधिक युक्तिसगत है। अतः यदि भट्टजी की बात सत्य रही तो फिर सूरदासजी का जन्म सम्वत् हमें १५३० ही मानना पडेगा।

वंश और जाति

महाकवि सूरदास के वंश के विषय मे भी कोई निश्चित मत स्थिर नही हो पाया है। उनके पिता एवं भाइयों तक के नाम अभी तक भी पूर्णरूप से अज्ञात ही हैं। कुछ लोगों ने इनके पिता को अकबर के दरबार का गायक बताकर उनका नाम रामदास बताया है किन्तु यह मत नितान्त भ्रमपूर्ण है। श्री मुन्शीराम शर्मा ने प० नानूराम से प्राप्त वंशावली मे सूर के पिता का नाम रामचन्द्र दिया है और उसी को वैष्णवो मे रामदास होना अनुमानित किया है। पहले तो नानूराम वाली वंशावली ही अप्रामाणिक सिद्ध हो चुकी है, फिर इस प्रकार का अनुमान भी एक विशुद्ध अनुमान ही तो है। साहित्य लहरी मे एक ऐसा पद है जिसमे दी गई वंशावली मे को पृथ्वीराज चौहान के दरबारी कवि तथा रासो के रचयिता चन्दबरदाई का बताया गया है। सर जार्ज ग्रियर्सन, एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका, मुन्शी

देवीप्रसाद आदि 'साहित्य लहरी' के इसी पद को ठीक मानकर सूर को चन्द्रबरदाई का वंशज मानते है। आगरा का 'एजुकेशनल गजट' तथा 'कल्याण' का 'योगांक' भी इसी के पक्ष मे दृष्टिगत हुआ है। प्राप्त साक्ष्यो के आधार पर चन्द्रबरदाई भाट ठहरते है अत यदि सूरदास इनके वंशज थे तो वे जाति से भाट हुए। किन्तु यह मत हमें भ्रामक प्रतीत होता है। गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के पुत्र गोस्वामी यदुनाथ जी ने विट्ठलनाथ जी के ही सेवक श्रीनाथ भट्ट ने तथा इन्ही के समकालीन कवि श्री प्राणनाथ ने सूर को स्पष्ट रूप से ब्राह्मण लिखा है। ये सूरदास के समकालीन थे। अत इनकी बातो पर उपर्युक्त विद्वानो से अधिक विश्वास करना न्यायसगत तथा उचित है अत निश्चित है कि सूरदास जी चन्द्रबरदाई के वंशज नही थे। चन्द्रबरदाई भाट थे और सूर ब्राह्मण जाति के थे।

नेत्रहीनता

इसमे तो अब कोई सन्देह ही नही है कि सूरदास जी नेत्रविहीन थे। वाद-विवाद का विषय तो यह बना हुआ है कि व जन्म से ही अन्धे थे अथवा उनके नेत्रो की ज्योति बाद मे किसी कारणवश चली गई थी। अधिकांश विद्वान अन्त साक्ष्य एव बाह्यसाक्ष्य के आधार पर इन्हे जन्माध ही बताते हैं। श्री मुन्शीराम शर्मा, प० द्वारिकाप्रसाद पारीख तथा डॉ० नन्ददुलारे वाजपेयी उनके समकालीन कवियो जैसे श्री नाथ भट्ट, प्राणनाथ तथा हरिराय जी के अनेक कथन उद्धृत कर इनका जन्माध होना ही प्रमाणित करते हैं। जो विद्वान जन्माध होने मे सन्देह करते हैं उनका सबसे प्रबल तर्क यह है कि एक जन्म से अधा इस प्रकार के पूर्ण, सूक्ष्म, स्वाभाविक एव मनोरम वर्णन नही कर सकता। यह तर्क हमे भी कुछ कम प्रभावशाली तथा तर्कसगत प्रतीत नही होता। सूरदास जी दिव्य-दृष्टि सम्पन्न थे—ठीक है होगे। किन्तु अपनी दिव्य दृष्टि से ही इतने सूक्ष्म निरीक्षण कर लिये, यह बात हमारी समझ मे नही आती। हाँ, अभी हाल मे ही प्रकाशित 'सूर-निर्णय' मे सूरदास के कुछ ऐसे पद खोजकर उद्धृत किये गये हैं जो उनके जन्म से ही नेत्रविहीन होने का स्पष्ट उल्लेख करते हैं। यदि ये पद पूर्णत प्रामाणिक सिद्ध हो जायें तो यह विवाद सदैव के लिए मिट जाय।

संक्षिप्त जीवन क्रम तथा देहावसान

अब तक की समस्त खोजो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सूरदास लगभग छ वर्ष की आयु तक अपने माता-पिता के साथ रहे तथा तत्पश्चात् घर छोड कर चले गये। अपने जन्म स्थान से चार कोस दूर जाकर वे एक ग्राम मे रहने लगे और अट्ठारह वर्ष की आयु तक वही रहे। यहाँ इस काल मे वे सच्ची भविष्य वाणी करने वाले के रूप म बहुत प्रसिद्ध हो गये थे। यहाँ उनके कई सेवक भी बन गये तथा धन भी पर्याप्त अर्जित किया। इसी बीच उन्होंने सगीत-कला का भी अच्छा अभ्यास कर लिया।

किन्तु शान्ति का खोजी अशान्ति की दलदल म फँस गया। घर से निकले थे

सच्ची शान्ति की प्राप्ति के लिए, माया के चक्कर में फँसकर फँस गये अशान्ति की दलदल में। इस समय उन्हें इस अवस्था में महान पश्चात्ताप हुआ, उनके विनय के पद इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं। सम्भवतः इसी कारण सूरदास जी ने पुनः अपना सब वैभव त्याग दिया और व्रज की भूमि में चले गये। पहले कुछ समय तक वे मथुरा रहे और फिर गऊघाट (मथुरा और आगरा के बीच) पर अपना निवास स्थान बना लिया। यहाँ वे पूर्णत विरक्त रहकर स्वरचित विनय के पद गाया करते थे कि एक दिन एक महान् सुधारक (श्री वल्लभाचार्य) गऊघाट पर ठहरे और सूरदास को भक्तराज ही बना गये। उन्होंने आचार्यजी को विनय और दीनता से पूर्ण पद सुनाए। श्री आचार्य जी ने कहा 'तुम सूर होवे ऐसे घिघियात काहे को हो—कछु भगवद्लीला गावो।' अब क्या था, सूर ने पुष्टि सम्प्रदाय की दीक्षा ली तथा आचार्यजी से भगवद्लीलाओं का ज्ञान प्राप्त किया। इसके पश्चात् सूर आचार्यजी के साथ ही चल दिये और गोवर्धन पर्वत पर पहुँच कर श्रीनाथ जी के मन्दिर में कीर्तन करने का भार प्राप्त किया।

सूरदास जी का शेष जीवन स्थायी रूप से श्रीनाथ जी का कीर्तन करते हुए ही व्यतीत हुआ। यहाँ कीर्तन करते हुए इन्होंने सहस्रों पद बनाये। धीरे-धीरे सूर की प्रसिद्धि सर्वत्र फैल गई। कहते हैं कि तत्कालीन भारत सम्राट अकबर ने भी इनसे भेंट करने की इच्छा प्रकट की थी जो पूरी हुई। श्री आचार्यजी की मृत्यु के पश्चात् उनके पुत्र श्री विट्ठलनाथ ने उनकी गद्दी सभाली। इन्होंने अपने पिता के चार तथा अपने चार शिष्यों को लेकर अष्टछाप की स्थापना की। सूरदास जी का स्थान इसमें सर्व-प्रमुख था। कहते हैं कि एक बार जबकि सूर श्री विट्ठलनाथ जी के साथ जगन्नाथपुरी की यात्रा को जा रहे थे तो मार्ग में इन्होंने कामतानाथ पर्वत पर तुलसीदास जी से भेंट की थी।

जन्म-सवत् के समान सूर का निधन सवत् भी विवादग्रस्त बना हुआ है। 'सूर निर्णय' का मत इस विषय में कुछ अधिक प्रामाणिक माना जाता है। इसके अनुसार इनका देहावसान स० १६४० में हुआ। कहते हैं कि अपनी मृत्यु का अनुमान उन्होंने पहले से ही लगा लिया था। उस दिन वे मन्दिर में अपना [illegible] करके [illegible]

देखने को मिलता है। उसमे यह प्रसंग इस रूप मे है कि जब मथुरा मे निवास करते-करते कृष्ण को पर्याप्त समय हो गया तो उन्हे व्रज मे अपने वियोग से पीडित माता-पिता तथा गोपियो के नाम कुछ सदेश भेजने की इच्छा हुई। इस कार्य की पूर्ति के लिए उन्हें वृष्णि-वंशियो मे श्रेष्ठ और अपने सर्वाधिक प्रिय सखा उद्धव जी उपयुक्त पात्र प्रतीत हुए। अतः उन्होने अपने हाथ मे उनका हाथ लेकर कहा कि हे सखा उद्धव! व्रज से आये हुए मुझे कई दिन हो चुके। वहाँ माता यशोदा, बाबा नद तथा परम प्रिय गोपियाँ मेरे विरह मे व्याकुल हैं। तुम वहाँ कुशलता का सदेश ले जाओ और उन्हें सात्वना देने का पूर्ण प्रयास करो। मुझे इस बात का दृढ विश्वास है कि गोपियो को मेरे अतिरिक्त और कुछ सूझता ही न होगा। उनके लिए मैं ही सब कुछ हूँ। मैं भी उनके लिए जो सब कुछ मुझे ही मानकर अपने समस्त लौकिक और पारलौकिक धर्मों का त्याग कर देते है, सदैव तत्पर रहता हूँ। वे सभी अब वास्तव मे मेरे बिना बहुत दुखी हैं। वे सब जीवित भी इसी आशा मे हैं कि मैं लौटकर जाऊँगा क्योकि मैं ही उन्हे ऐसा आश्वासन देकर आया था। अतः हे उद्धव! तुम जाओ और उन्हे समझाओ।

इस प्रकार का आदेश पाकर उद्धव जी व्रज को चल दिये और गोधूलि के पश्चात् वहाँ पहुंच गये। व्रज की गोधन से सम्पन्न शोभा ने उनका मन हर लिया। सर्वप्रथम वे नद जी से मिले। नद जी ने इनका पर्याप्त सत्कार किया और कृष्ण की कुशल मगल तथा कंसवधादि की बात सुनकर वे बडे आनन्दित हुए। इस प्रकार का आश्वासन देते हुए कि कृष्ण शीघ्र ही लौटेंगे, उद्धव जी ने यशोदा और नद को उपदेश देना आरम्भ कर दिया। उनके उपदेश का सार यही था कि कृष्ण तो निराकार सर्वव्यापी परमब्रह्म है इसलिए उनका वियोग ही क्या? उपदेश देते-देते रात्रि व्यतीत हो गई। प्रातःकाल जब गोपियों ने नन्द के द्वार पर एक वैसा ही रथ खडा देखा जैसा कि कृष्ण को ले जाने वाले अक्रूर का था, तो वे उनको कोसने लगी। तभी उद्धव जी उनके पास तक आ पहुँचे। कृष्ण सखा का भान होने पर गोपियाँ बहुत प्रसन्न हुईं। सत्कार के पश्चात् वे कटाक्ष करती हुई कृष्ण को उपालम्भ देने लगी। इसी समय एक भ्रमर अपनी अस्पष्ट गुंजन करता हुआ वहाँ आ पहुँचा। खीझ से भरी हुई गोपियो ने इसी भ्रमर को सम्बोधित करके अपने तीव्र व्यग्य-बाण छोडने आरम्भ कर दिये। कृष्ण की निष्ठुरता की भ्रमर की निष्ठुरता मे समानता प्रदर्शित करते हुए उन्होंने अनेक व्यग्य कसे। किन्तु इतना होते हुए भी साथ ही वे ऐसे निष्ठुर की चर्चा छोडने मे भी अपनी असमर्थता प्रकट करती हैं। उन्हे कृष्ण पर क्रोध अवश्य था किन्तु उनसे सम्बन्ध-विच्छेद भी उन्हें असह्य था। उन्होने उपालम्भ भी अवश्य दिये तथा व्यग्य बाण भी खूब तीखे कसे किन्तु प्रत्युत्तर तथा कृष्ण सदेश सुनने की उत्सुकता को दबाना उनके वश के बाहर था।

कृष्ण के प्रति गोपियो के इस अटूट प्रेम को देखकर उद्धव भी उनकी प्रशंसा किये बिना नही रह सके। किन्तु फिर भी उन्हे इनके इस प्रेम मे उन्हे मोहायता का अंश दिखाई दिया। अतः उन्होंने प्रेम-भक्ति के स्थान पर ज्ञान और योग का सन्देश

दिया। उन्होंने कृष्ण की ओर से भी इसी प्रकार का सन्देश सुनाया कि वे तो सर्वव्यापी परमब्रह्म है अतः फिर वियोग कैसा ? प्रियतम के इस प्रकार के ज्ञान-भरे सन्देश को सुनकर गोपियाँ बहुत प्रसन्न हुई। इस संदेश से उनके दिव्य चक्षु खुल गये और उन्हें शुद्ध ज्ञान की प्राप्ति हो गई। उनका विरह वेग अब सन्तुलित हो गया। उद्धवजी इसी प्रकार वहाँ कई माह रहे और उनके शोक को कम करने के लिए उपदेश देते रहे।

गोपियाँ कुछ शान्त सी अवश्य हो गई किन्तु कृष्ण-दर्शन और सहवास की लालसा उनमे अब भी दृष्टिगत थी। किन्तु उनकी विह्वलता मन शान्ति मे अवश्य बदल गई। इस प्रकार भागवतकार के अनुसार उद्धवजी के ज्ञानोपदेश से गोपियो का विरहवेग शान्त हो गया और उनके हृदय की उदार वृत्तियाँ जाग गई।

यह है भागवत मे वर्णित कथा का अत्यन्त सक्षिप्त रूप जो भ्रमरगीत काव्यो का आधार रही है। हिन्दी के कवियो को यह विषय कुछ इतना प्रिय लगा है कि उन्होंने इसी के आधार पर अलग से काव्य लिखने आरम्भ कर दिये और उसकी एक लम्बी परम्परा चल पडी। इस परम्परा मे रचित काव्यो मे व्यक्ति विशेष के अनुसार पारस्परिक विभिन्नतायें चाहे रही हो किन्तु मूल रूप में उनकी विचारधारा एक ही रही। एक बात अवश्य है। इन सभी का दृष्टिकोण भागवतकार के बिल्कुल विपरीत रहा है। कथावस्तु तक मे इन्होने अनेक परिवर्तन कर दिये। इन्हे न तो उद्धव की ज्ञान-चर्चा ही अच्छी लगी और न उसका गोपियो द्वारा शिरोधार्य करना ही पसन्द आया। गोपियो के वचनो से भी इन्हे कोई विशेष संतोष नही हुआ। वास्तव मे इन्होने इस प्रसग को कुछ नया ही रग दे दिया। भागवत और इन भ्रमरगीतो मे कई अन्तर हो गये जो निम्न रूप मे दर्शनीय हैं—

१. भागवतकार के अनुसार उद्धव का ज्ञानोपदेश गोपियाँ मान लेती हैं और उनका शोकावेग कम हो जाता है, जिसका तात्पर्य यह हुआ कि ज्ञान और योग ने प्रेम-भक्ति पर विजय प्राप्त कर ली। ठीक इसके विपरीत इन भ्रमरगीतो मे ज्ञान-योग पर प्रेम-भक्ति की विजय प्रदर्शित की गई है। गोपियो के शान्त होने के स्थान पर इनमे उद्धव का ज्ञानवेग शान्त दिखा दिया है। वे गोपियो की प्रेम-लग्न को देखकर चकित रह गये तथा स्वय प्रेमी बन कर लौटे।

२ दूसरा अन्तर है गोपियो की वार्ता प्रणाली मे। भागवत मे भी उपालम्भ तो अवश्य हैं किन्तु इसकी गोपिया के स्वर म वह तीव्रता, व्यग्य, कटाक्ष तथा तर्क नही है जो इन भ्रमरगीत काव्यकारो की गोपिया के स्वर में दृष्टिगत है।

३ राधा जिसका भागवत मे नाम तक नही है, बाद के इन भ्रमरगीतो मे स्वाभाविक रूप से एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है।

४. भागवत मे यह प्रसग एक कथा-मात्र ही है जबकि बाद में भ्रमरगीत महत्त्वपूर्ण काव्य हैं।

इन मौलिक उद्भावनाओ का श्रेय है हमारे चरितनायक महात्मा सूरदास को जिन्होंने भागवत मे वर्णित उद्धव के ब्रज गमन साधारण प्रसग को इतना महत्त्वपूर्ण

बना दिया। भागवत की सिसकती हुई गोपियाँ सूर द्वारा इतनी अश्रुमयी बन गई कि एक विशाल सरिता ही उमड पडी।

हमारा यहाँ मुख्य विषय है—सूर का भ्रमरगीत, अतः उसकी विषय-वस्तु पर ही कुछ प्रकाश डालना उचित रहेगा। सूर के भ्रमरगीत का आरम्भ भी कृष्ण के अतीत-स्मरण तथा उद्धव से सदेश लेकर व्रज जाने को कहने से ही होता है। इस सदेश के भेजने मे कृष्ण की आकुलता के तो दर्शन होते ही है किन्तु इसके पीछे एक महान् उद्देश्य और दिखाई देता है। उद्धवजी को अपने ज्ञान पर बडा गर्व था, वे कृष्ण को भी ज्ञान का उपदेश देते रहते थे। गोपियो की दृढ तथा तीव्र प्रेमभक्ति की प्रबल पवन के आगे उद्धव की ज्ञान-भित्ति उड जायगी, ऐसा सोचकर ही वे उन्हे वहाँ भेजते है। सदेश देने से पूर्व कृष्णजी उद्धव को जो-कुछ समझाते है वैसे तो बहुत साधारण सी बातें हैं किन्तु सूर ने उनका वर्णन कर उन्हे बहुत आकर्षक बना दिया है। पहले नन्द से प्रणाम करना और इसके पश्चात् यशोदा माता को पालागन कहना आदि कुछ शिष्टाचार की ही तो बातें हैं। इसके पश्चात् वे उन्हे प्रत्येक बात समझाते हैं कि उन्हे किस प्रकार किस-किस से भेंट करनी है? इधर कुब्जा भी अपनी ओर से उन्हे कुछ विशेष सलाह देती है। इन सब बातो को हृदयगम करके उद्धवजी व्रज पहुँचते हैं। इनके आगमन की सूचना समस्त व्रज प्रदेश म हलचल उत्पन्न कर देती है। पहले तो उन्हे कृष्ण ही समझा जाता है किन्तु बाद मे उद्धव जानकर भी उनका प्रेमपूर्ण सत्कार होता है। नन्द के आँगन मे एक सभा जुडती है जहाँ उद्धव कृष्ण द्वारा भेजी हुई सदेश की पाती उनको देते हैं। लेकिन प्रेम-पाती पढे कैसे, नयन तो जल से भर गये।

यहीं से अवसरवश आये हुए भ्रमर पर डालकर गोपियो के तीखे उपालम्भ आरम्भ हो जाते हैं। इनके उपालम्भो की विशेषता यह है कि वे कटु होते हुए भी मधुर है। शायद ही कोई उपालम्भ और उपालम्भ का ढग बचा हो जिसका प्रयोग इनके भ्रमरगीत मे न हो। लगभग ढाई सौ पदो मे गोपियों के हृदय मे भरा हुआ गुबार ही बाहर आया है। गुबार की यह विशालता इस तथ्य को प्रमाणित करती है कि वास्तव मे नारी के पास अश्रुओ का कोष ही होता है। गुबार निकलने के पश्चात् आखिर गोपियो का हृदय फूट ही पडता है। कृष्ण के वियोग मे व्रज की जो दयनीय दशा हो गई है उसका चित्रण हृदयवेधक शब्दो मे विद्यमान है। शाब्दिक तथा सैद्धान्तिक युद्ध ने यदि उद्धवजी को निरुत्तर कर दिया था तो वस्तुस्थिति के इस प्रकार के वर्णन ने उनको बिल्कुल ही भुना दिया। वास्तव मे उद्धव पर जितना प्रभाव उनकी विषम स्थिति का पडा उतना तर्कों का नही। व्रज स लौटने पर उन्होने कृष्ण से गोपियो की लगन की प्रशसा करते हुए उनकी विषम स्थिति का ही वर्णन किया, उनके तर्कों का नही। एक बात और भी उल्लेखनीय है। गोपियो का अपनी दशा का वर्णन वास्तविक ही है। उसमे कुछ अतिशयोक्ति नही है।

गोपियो की लगन को देखकर उद्धव निरुत्तर हो जाते हैं और उनको अपने पास

कोई ऐसा तर्क नहीं दिखाई देता जिससे वे गोपियों को प्रेम-भक्ति से हटा कर अपना योग-ज्ञान सिखा सकें। गोपियों के रंग-में-रंग कर वे कृष्ण के पास वापिस लौटते हैं और कृष्ण से गोपियों आदि की विषम दशा का वर्णन कर उनसे ब्रज जाने का आग्रह करते हैं। कृष्ण मुस्करा कर यह देते हैं कि 'आयहु जोग सिखाय' जोग सिखा आये।- अर्थात् आखिर पराजित होकर चले आये न वापिस। गये सिखाने अपना योग-ज्ञान, सीख आये प्रेम-भक्ति।

यह है सूरदास के भ्रमरगीत की विषय-वस्तु का संक्षिप्त विवरण।

यदि यहीं तनिक यह भी विचार कर लिया जाय कि सूर का भ्रमरगीत किस प्रकार का काव्य है, तो अप्रासंगिक न होगा। इसका निर्णय विषय, शैली तथा स्वरूप तीन दृष्टियों से होना चाहिए। विषय की दृष्टि से यह स्पष्ट रूप में एक उपालम्भ काव्य है। शैली की दृष्टि से निस्सन्देह रूप में यह गीतात्मक है। परन्तु स्वरूप की दृष्टि से इसे मुक्तक काव्य कहा जाय अथवा प्रबन्ध काव्य। यह तनिक कठिन है। मुक्तक काव्य किसी शृंखला से मुक्त अपना एक अलग अस्तित्व रखने वाले छोटे कलेवर वाले काव्य को कहते हैं। इसमें एक पद दूसरे पद से अपना कोई सम्बन्ध नही रखता। कम से-कम इतना सम्बन्ध तो वास्तव मे नही होता कि दूसरे पद का अर्थ लगाने के लिए पहले पद से कुछ सहायता लेनी पड़े। उसका अर्थ अपने आप अलग स्पष्ट होता है। इसके विपरीत प्रबन्ध काव्य मे छन्दो की एक शृंखला होती है। दूसरे छन्द का सम्बन्ध पहले पद से जुड़ा रहता है। पहले के बिना दूसरे का प्रसंग अथवा अर्थ कुछ भी स्पष्ट नही होता। इसका कलेवर बड़ा होता है। इतिवृत्ति का स्थान इसमें बहुत महत्वपूर्ण है। मुक्तक के विपरीत इसका प्रभाव भी स्थायी होता है। मुक्तक की भाँति थोड़ी देर रहने वाला नहीं।

सूरकृत भ्रमरगीत के पदो की यदि अलग अलग परीक्षा की जाय तो निश्चय रूप से वह एक मुक्तक काव्य ही प्रतीत होता है। उसका प्रत्येक पद अपना एक अलग स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है और वह अपना प्रसंग एव अर्थ स्वय स्पष्ट करने मे पूर्ण रूप से समर्थ है। कथावस्तु भी इतनी छोटी है कि उसे प्रबन्ध काव्य के अनुपयुक्त कहा जायगा। किन्तु इसके सब मुक्तक पदो म प्रबन्ध का एक पतला सा धागा निकलता चला गया है, यह भी निश्चित ही है। दूसरे सारे भ्रमरगीत का उद्देश्य भी एक ही है, पदो के उद्देश्य कुछ अलग अलग नहीं है। विशेष रूप से उल्लेखनीय तथ्य तो यह है कि अन्त म पाठक के हृदय पर उसका प्रभाव भी स्थायी रूप म पड़ता है जो प्रबन्ध काव्य के अनुरूप ही है। मुक्तक काव्य का प्रभाव इस प्रकार का नहीं होता।

इस प्रकार दोनो ओर के लिए प्रबल तर्क हैं। अतः उसे दोनों का समन्वित रूप कहना ही उपयुक्त है। अत हमारी दृष्टि मे इसे मुक्तक-प्रबन्ध काव्य कहना उचित है।

भ्रमरगीत की परम्परा

भ्रमरगीत काव्य परम्परा का बीजारोपण जो आगे चलकर एक विशाल वृक्ष के रूप में विकसित हुआ श्रीमद्भागवत में दिखाई देता है। यहाँ श्रीकृष्ण द्वारा प्रेषित उद्धव व्रज में आते हैं और नन्द, यशोदा आदि से कृष्ण के ब्रह्म रूप का प्रतिपादन करते हैं। भगवान के निर्विकार, अनादि, अनन्त और सर्वगत रूप का निवेदन करके वे नन्द और यशोदा आदि को उनके इसी स्वरूप की प्राप्ति के लिए ज्ञान का उपदेश देते है। बाद में गोपियाँ उन्हे एकान्त मे ले जाती हैं। बीच एक भ्रमर भ्रमता हुआ वहाँ आ पहुँचता है और गोपियाँ भ्रमर के बहाने उपालम्भ करना आरम्भ कर देती हैं। उनका इस प्रकार का यह उपालम्भ ही 'भ्रमरगीत' के नाम से प्रसिद्ध है।

श्रीमद्भागवत मे इस प्रसंग को कुछ विशेष महत्त्व नही दिया गया है। इसमे सौन्दर्य भरने का श्रेय परवर्ती हिन्दी कवियो को है जिन्होंने इस प्रसग को अत्यन्त प्रभावशाली बना दिया। भागवत मे इस प्रसंग का कोई स्वतन्त्र महत्त्व न होने के कारण वर्णनात्मकता ही अधिक दिखाई देती है। चित्रोपमता तो कुछ है भी, भावनात्मकता का तो नितान्त अभाव है। भागवतकार की दृष्टि योग और ज्ञान पर ही केन्द्रित रही है। परवर्ती हिन्दी-कवियो ने इसके स्थान पर प्रेम और भक्ति की भावना को सामने रखकर इस प्रसग को इतना मोहक बनाना आरम्भ कर दिया कि हिन्दी मे इसकी एक लम्बी परम्परा चल पडी और 'भ्रमरगीत' नाम से एक अलग साहित्य खड़ा हो गया। सर्वप्रथम इस प्रकार का कार्य महात्मा सूरदास ने आरम्भ किया। इन्होने इस प्रसंग को कुछ ऐसे रूप मे अपनाया कि वह इतना मोहक सिद्ध हुआ कि वामपक्षी विचारधारा के आने तक कोई भी सहृदय कवि इस प्रसंग पर कुछ न कुछ लिखने का मोह सवरण नही कर सका।

इस परम्परा के अन्तर्गत आने वाले कवियो को दो भागो मे बाँटा जा सकता है—ग्रन्थकार कवि तथा दूसरे फुटकर पद रचना करने वाले कवि। कालक्रम के अनुसार इन कवियो की यदि हम एक तालिका बना दे तो कुछ अधिक उत्तम रहेगा। तालिका निम्न प्रकार से बनाई जा सकती है—

भ्रमरगीत की परम्परा

ग्रन्थकार कवि	फुटकर क
(अ) भक्तिकाल—कवि तथा ग्रंथ	(अ) भक्तिकाल
१. सूरदास (भ्रमरगीत)	१ तुलसीदास
२. परमानन्ददास (परमानन्दसागर)	२ रहीम
३ नन्ददास (भँवरगीत)	(ब) रीतिकाल
४ अक्षर अनन्य (प्रेम दीपिका)	१ मतिराम
(ब) रीतिकाल	२. देव
१ रसनायक (विरह विलास)	३ घनानन्द
२. रसरासि (रसिकपच्चीसी)	४ दास
३ ग्वाल (गोपी पच्चीसी)	५ सेनापति
४. व्रजनिधि (प्रीति पच्चीसी)	६ पद्माकर
(स) आधुनिक काल	(स) आधुनिक काल
१. हरिऔध (प्रियप्रवास)	१. भारतेन्दु
२ रत्नाकर (उद्धव शतक)	२. प्रेमघन
३. मैथिलीशरण गुप्त (द्वापर)	
४ सत्यनारायण 'कविरत्न' (भ्रमरदूत)	
५ डॉ० रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' (रसालमंजरी)	

अब इन कवियो तथा इनकी रचनाओ की विशेषताओ पर संक्षिप्त प्रकाश डाल देना अनुपयुक्त न होगा। जैसा हमने पीछे कहा कि इस प्र बीजारोपण भागवतकार द्वारा हुआ। हिंदी मे इस परम्परा को आरम्भ करने सूरदासजी को है। इन्होंने इस प्रसग को एक प्रकार से नितान्त मौलिक हं दिया। वास्तव मे इस प्रसग की लोकप्रियता ही सूरदासजी के कारण हुई। उद्धव और गोपियो के आधार पर एक ओर तो ज्ञान की नीरसता और भक्ति की सरसता प्रदर्शित करके भक्ति की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया तथा दूसरी ओर विरह और उपालम्भ काव्य का एक अद्वितीय नमूना उपस्थित कर दिया। विचारधारा ही नही उनकी कथा मे भी सूर ने परिवर्तन कर दिया है। ब्रज मे आकर उद्धव भागवतकार के उद्धव की भाँति नन्द और यशोदा के समीप नही जाते। गोपियाँ दूर से ही उनके रथ को देख लेती हैं। उन्हें कृष्ण के आने का सन्देह होता है। मिलने पर कृष्ण सखा जानकर कुशल-मगल पूछती हैं। ऊधोजी इनके कृष्ण-मोह के निवारण के हेतु ज्ञानोपदेश करते हैं। गोपियाँ उनको उत्तर देकर अपनी विवशता प्रगट करती हैं। उत्तर के साथ ही भागवत के भ्रमरगीत के आधार पर भ्रमर की कल्पना करके सूरदासजी गोपियों के द्वारा अनेक व्यग्य कसवाते हैं। गोपियाँ एक ओर अपने प्रेम

को 'सहज लरिकाई को प्रेम' बता कर तथा 'एक हुतो सो गयो स्याम संग को ईस' आदि कह कर अपनी विवशता प्रगट करती हैं तथा दूसरी ओर ज्ञान और की ओर उपहासास्पद संकेत करती हैं। उद्धवजी इनके सहज प्रेम से इतने प्रभा होते हैं कि मथुरा लौटकर कृष्णजी से ब्रज जाने की प्रार्थना करने लगते है। प्रकार सूरदासजी ने भागवत की कथा आदि में परिवर्तन करके इस प्रसंग को अत्य मनमोहक बना दिया और एक महान् परम्परा का निर्माण किया।

इस विषय में दूसरा नाम अष्टछाप के प्रमुख कवि परमानन्ददास जी आता है। यद्यपि इस प्रसंग पर इनका कोई स्वतन्त्र ग्रंथ नहीं है किन्तु किंचित् विस्त प्रभावशाली शैली तथा सरस व्यंजना के कारण इस परम्परा में इनका भी महत्त्व स्थान है। इनकी गोपियाँ भी अत्यन्त भोली-भाली और कृष्ण के प्रेम में सराबोर हैं सतर्क बुद्धि उनके पास नहीं है किन्तु गम्भीरता उनके वचनों में सदैव रहती है। किसी भी प्रकार उद्धव का उपदेश उन पर प्रभाव नहीं डालता।

इस परम्परा में नंददास जी का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन्होंने भ्रमरगीत की कथा को उद्धव गोपी संवाद ही बना डाला। सूरदास जी तो पहले कृ उद्धव वार्ता करवाते हैं और कृष्ण नंद, यशोदा और गोपियों के लिए अपना अलग संदेश भेजते है। गोपियाँ उन्हें दूर से ही देख लेती हैं किन्तु नंददास के भ्रमरगीत का आरम्भ ही 'ऊधो को उपदेश सुनो ब्रज नागरी' से होता है। ग के मिलने से पूर्व की कथा की नंददासजी चर्चा तक नहीं करते। वे तो सीधे गो के बीच उपस्थित होकर कृष्ण संदेश कहना आरम्भ कर देते हैं। कृष्ण का नाम ही गोपियों को उनका स्मरण हो उठता है और वे चेतनाहीन हो जाती हैं। उद्धव उन्हें जल के छींटे देकर जगाते है और ज्ञान का उपदेश देने लगते हैं। गोपियाँ भी आध्यात्मिक तर्कों का उत्तर ठीक उसी प्रकार देती हैं। निर्गुण-सगुण तथा ज्ञान पर सुन्दर तर्क वितर्क होता है जिसमे स्पष्ट रूप मे उद्धव जी की हार होती है। की तार्किकता के सामने उद्धव जी का ज्ञान गर्व घुटने टेक देता है और वे कभी और पुराण की दुहाई देने लगते है तो कभी उन्हें जोग की लोक-प्रसिद्धि का सहा लेना पड़ता है। तर्क का यह क्रम न तो भागवत में ही है और न 'सूर सागर' में ही हाँ, सूरदासजी का एक पद ऊधो को उपदेश सुनो किन कान दै' अवश्य ही कुछ पद्धति का तथा अन्य पदों से बड़ा है। इसमें वादविवाद का थोड़ा सा क्रम भी है। स ही इसमें संक्षिप्त में सम्पूर्ण भ्रमरगीत भी है। सम्भवतः नंददास जी ने इस पद आधार लेकर विस्तार कर दिया है। इस प्रकार स्पष्ट है कि नंददास जी के गीत में दार्शनिक पक्ष अधिक प्रबल है। उनकी विशेषता यह है कि उन्होंने ग नंददास के गूढ़ से-गूढ़ दार्शनिक सिद्धान्तों को सरल और सीधे शब्दों में समझा दिया है। यही कारण है कि इनका भवरगीत सम्प्रदाय की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ माना जाता है। कलात्मकता की दृष्टि से भी यह ग्रंथ कृष्ण काव्य में अपना एक बिल्कुल अलग और विशिष्ट स्थान रखता है। 'और कवि गढ़िया नंददास जड़िया' ...

वित वस्तुत. सत्य ही है।

अक्षर अनन्य का नाम भी इस परम्परा मे साधारण रूप से आता है। परम्परागत दृत्व की दृष्टि से इनमें कोई विशेष उल्लेखनीय बात नही दिखाई देती। प्रारम्भिक वियो की प्रणाली के आधार पर ही इन्होंने भी रचना कर दी है। हाँ, इनकी पियो की ग्रामीणता तथा तीव्रता अवश्य स्मरणीय है। भक्तिकाल मे फुटकर कवियो तुलसी और रहीम का नाम भी आता है। तुलसी का तो इस परम्परा मे कोई महत्त्व ही नही हाँ, रहीम का कुछ विशिष्ट स्थान अवश्य है। इन्होंने बड़े व्यापक आधार पर ष्ण के वियोग से उत्पन्न गोपियो की वेदना को ग्रहण किया है। उनकी मौलिकता व सहृदयता वास्तव मे देखने योग्य है। इन्हें बरवै छन्द के अत्यन्त छोटे से शरीर मे वस्तृत भावो के प्रगट करने मे कोई बाधा नही है। इनकी गोपियो को सहज-मुग्ध ायिका की सज्ञा दी जा सकती है। उनके वचनो मे कृत्रिमता नही है किन्तु साधारण ग से वस्तु स्थिति का स्पष्टीकरण है।

रीतिकालीन कवियो मे इस परम्परा की दृष्टि से फुटकर रचना करने वाले वियो का ही अधिक महत्त्व है। इस काल के फुटकर छद हृदय मे जो क्षणिक मत्कार उत्पन्न करते हैं वैसा प्रभाव इस काल के ग्रथो का नही पडता। ग्रथकार कवियो मे रसनायक, रसरासि, ग्वाल, ब्रजनिधि के नाम आते हैं। फुटकर छदो के रचने ाला म मतिराम, देव तथा घनानन्द का नाम विशेप रूप से उल्लेखनीय है।

आधुनिक काल म कालक्रम के अनुसार सर्वप्रथम फुटकर कवियो मे भारतेन्दु या प्रेमघन का नाम लिया जाता है। बिखरे हुए होते हुए भी पद लालित्य ौर स्वाभाविक भाव व्यजना के कारण भारतेन्दुजी के पदो का महत्त्व विशेष । इन दो कवियो के अतिरिक्त इस काल के ग्रथकारो का बहुत महत्त्व है। इनमे प्रत्येक का अलग अलग व्यक्तित्व है। ब्रजभाषा म रत्नाकरजी का उद्धव शतक इस रम्परा म अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है। इनके ग्रथ का आरम्भ ही बहुत धुर है। इन्होंने जो उक्तियाँ गोपियो के मुख से कहलाई है उसके लिए उनका काव्य हृदया म सदैव ही स्मरण किया जायगा। वास्तव म भ्रमरगीत की परम्परा का मस्त निचोड सुव्यवस्थित रूप म हमे उद्धव-शतक मे दिखाई दे जाता है। कहें ता सकन है कि उनकी गोपियो म हम सूर की भाव प्रबल नारिया स लेकर आज क की स्पष्ट वक्ता कहलाने वाली महिलाओ क दर्शन हो जाते हैं। खडी बोली म म परम्परा म एक ग्रथ का नाम बहुत आदर के साथ लिया जाता है। वह ग्रथ है रिऔधजी का 'प्रियप्रवास' जिस खडी बोली का प्रथम महाकाव्य कहलाने का हान् गौरव प्राप्त है। सस्कृत वर्ण वृत्ता म मतुकान्त प्रणाली म लिखा हुआ यह हाकाव्य वास्तव म अपनी तुलना नही रखता। इस ग्रथ म यह प्रसग पूर्ण रूप स तैनिक दृष्टिकोण रखता है। इस ग्रथ का आधार शुद्ध मनोवैज्ञानिक और तर्क-गत्रीय है। कुछ ऐसी घटनाये जो कृष्ण के विषय म प्रचलित हैं और जिन पर ाज का बुद्धिवादी युग विश्वास तक नही करता, इसमे इस रूप से वर्णित है कि कोई

अस्वाभाविकता नहीं लगती। मैथिलीशरण गुप्तजी ने इस प्रसंग में अपने स्वभाव के अनुकूल एक सन्तुलन बनाये रखने का प्रयास किया है। उनके 'द्वापर' वास्तविक महत्त्व तो उस समय दिखाई देता है जबकि वे उर्मिला और यशोधरा भाँति इसमें भी उपेक्षिता नारियों को प्रधानता देने में प्रयत्नशील दिखाई पड़ते हैं

सत्यनारायण 'कविरत्न' के भ्रमरदूत का नाम भी यद्यपि इस परम्परा लिया जाता है किन्तु उसका स्वरूप सर्वथा भिन्न है। यह गोपियों का भ्रमरगीत न है। इसमें तो यशोदा (भारत माता) कृष्ण के पास अपना भ्रमर दूत भेजती है उन्हें बुलाने का प्रयत्न करती है। इस प्रकार इसमें राष्ट्रीय-भावना का ही अ... है, अतः हमारी दृष्टि में इस काव्य का अध्ययन तो अलग ही दृष्टिकोण से ... चाहिए।

हाँ, डॉ० रमाशंकर शुक्ल रसाल ने इस परम्परा के निर्वाह में सफलता अ... की है। भावों की दृष्टि से इनकी 'रसाल मंजरी' में मौलिकता के दर्शन भी होते हैं

आज के इस तर्क और विज्ञान के युग में इस विषय पर कुछ और उदीयम... कवियों ने भी लेखनी चलाई है जिनका मूल्यांकन होने की अभी आवश्यकता है।

यही है उस भ्रमरगीत परम्परा का संक्षिप्त विवरण जिसका बीजारोपण हुआ था भागवतकार के द्वारा और वृक्ष विकसित हुआ सूर आदि के हाथों।

आधारभूत दार्शनिक और जीवन-सिद्धान्त

भारतीय दर्शन का प्रारम्भ सभी विद्वान् वेदों से मानते हैं। यद्यपि वेदों सैद्धान्तिक विवेचन नहीं है, किन्तु सृष्टि के अनन्त व्यापार के प्रति आश्चर्य तथा नियन्ता के प्रति व्यापक श्रद्धा अवश्य ही अभिव्यक्त है। यह तो ठीक है कि ... विवेचन तथा दर्शन के क्षेत्र में बुद्धिगत तर्क-वितर्क का श्रीगणेश आगे चलकर हुआ कि यह कहना भी नितान्त सही है कि सभी ने वेदों को सदैव माना है। ... को अपना आधार बनाया है और अपने सिद्धान्तों की साक्षी दिलवाने के लिए ... के सूत्रों की शरण ली है। षड्दर्शन के रचयिता महर्षि बादरायण आदि के द्वारा भारतीय दर्शन अत्यन्त गहन बन गया था। किन्तु पौराणिक काल की समाप्ति ... पश्चात् सर्वसाधारण पर शुद्ध रूप में उसका कोई प्रभाव नहीं रह गया था। ऐतिहासिक काल में आकर उनसे एक नई ज्योति की लहर दौड़ गई। कौन नहीं जानता कि श्री शंकराचार्य ने वेदान्त को सम्पूर्ण भारत में फिर से गुंजा दिया था। अद्वैतवाद आज भी सर्व प्रसिद्ध सिद्धान्त है। उनके पश्चात् उनके सिद्धान्तों में कुछ उलट ... करके तीन नये सिद्धान्त और बन गये थे। इन तीनों में श्री वल्लभाचार्य जी का शुद्ध द्वैतवाद सर्व साधारण पर प्रभाव की दृष्टि से अपना एक विशेष स्थान रखता है।

इन दोनों सिद्धान्तों की तुलना करना हमारे लिए उपयोगी होगा। श्रीशंकराचार्य जी ईश्वर को निर्गुण, निर्विकार तथा नित्य मानते थे। उनकी दृष्टि ... न वह कर्ता है और न भोक्ता। जगत की कोई वास्तविक सत्ता उनकी दृष्टि में ... है। जीव और ब्रह्म का उनकी दृष्टि में अविच्छिन्न सम्बन्ध है। उसके ...

श्रीवल्लभाचार्य जी ने परमात्मा को सगुण और निर्गुण दोनों रूपों में बताया। उनकी दृष्टि में जहाँ वह निराकार एवं निर्विशेष है, वहाँ सर्वशक्तिमान तथा सर्वधर्मा भी है। वही सर्वकर्ता है और वही सर्वभोक्ता। सृष्टि की रचना वह लीला के निमित्त करता है। जगत ब्रह्म का परिणाम रूप है अतः वह असत अथवा मिथ्या नहीं है। जीवात्मा को श्री आचार्य जी भिन्न और अभिन्न दोनो मानते हैं। आत्मा और परमात्मा दोनों का सम्बन्ध पूर्णरूपेण शुद्ध है। 'माया' जैसी कोई शक्ति दोनों के बीच मे नही है। उक्त दोनों विद्वानो के दार्शनिक मत मे सिद्धान्त पक्ष के इस अन्तर के कारण साधन-पक्ष मे भी अन्तर हो जाता है। शंकराचार्य ब्रह्म-प्राप्ति के लिए ज्ञान और योग का विधान बताते हैं। अपनी आत्मा मे ज्ञान उत्पन्न करके, माया को अपने वशीभूत बनाकर तथा भ्रान्ति का निवारण करके निर्गुण ब्रह्म की उपासना करना ही उनका मार्ग है। ठीक इसके विपरीत श्री वल्लभाचार्य भक्ति योग का प्रतिपादन करते हैं। उनके मतानुसार अपने हृदय में ईश्वर के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करके तथा धीरे-धीरे उसके प्रेम मे अनन्य होकर ईश्वर की प्राप्ति करना ही ईश्वर प्राप्ति का सुगम मार्ग है। जिस तत्त्व की प्राप्ति ऋषि मुनियो तक को गहन तपस्या करने के पश्चात् भी नही होती वह प्रेम के कारण साधारण प्राणियो को सहज ही प्राप्त हो जाता है।

भ्रमरगीत में उक्त दोनों ही आचार्यों की विचार धाराओं के विवरण दिखाई देते हैं। शंकराचार्य का मत ज्ञानी उद्धव के द्वारा तथा वल्लभाचार्य का मत प्रेम विह्वल गोपियों द्वारा प्रतिपादित होता है। यह दोनो मतो का पारस्परिक वाद-विवाद भी लक्षित होता है। जो सम्भवत तत्कालीन परिस्थितियो के प्रभाव के कारण आया हुआ प्रतीत होता है। सूरदास जी ने यद्यपि वल्लभाचार्य जी के मत को ही शंकराचार्य के मत से अधिक महत्त्व दिया है किन्तु तो भी अद्वैतवाद को उन्होंने हेय कहीं नहीं माना। निर्गुण का खंडन वे कहीं नहीं करते। हाँ, उसे शुभ साध्य और इसे सहज बता कर इसका महत्त्व अवश्य प्रदर्शित किया है। उद्धव जब गोपियों को योग ज्ञान की शिक्षा देते हैं तो गोपियाँ उनके इस मार्ग को स्वीकार नही करतीं। वे कुछ अपने सिद्धान्तो का विवेचन नहीं करतीं। वे तो अपनी अटूट भक्ति तथा प्रिय-वियोग से उत्पन्न विरह वेदना का ही वर्णन करती हैं। इस प्रकार परोक्ष रूप से वल्लभाचार्य के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करती हैं। वे उद्धव के कथन को विकृत कभी नहीं कहतीं, हाँ, परिस्थितियों के प्रतिकूल बताकर अग्राह्य अवश्य कहती हैं।

सूर के समय मे योगमार्ग की तूती की ध्वनि भी बहुत तीव्र थी। इस साधना प्रणाली के अन्तर्गत भिन्न-भिन्न प्रकार की क्रियाओं द्वारा शरीर को साधा जाता है और उसके भीतर ही सकल ब्रह्माण्ड के दर्शन किये जाते हैं। सूरकृत भ्रमरगीत मे निर्गुण सिद्धान्तो के साथ-साथ अपने आप ही इस मार्ग का भी विरोध होता गया है। यदि ध्यान से देखा जाय तो कहा जा सकता है कि सूर ने योग-मार्ग का तो तीव्र शब्दों में खडन किया है।

इस प्रकार यह भली-भाँति स्पष्ट है कि सूर-कृत भ्रमरगीत में वल्लभाचार्य जी के शुद्ध द्वैतवाद का ही मंडन है। उनके दार्शनिक सिद्धान्तों की पृष्ठभूमि में यही वाद कार्य कर रहा है। किन्तु एक बात अवश्य है। उन्होंने भ्रमरगीत में इन सिद्धान्तों का समावेश शुद्ध रागात्मक आधार पर किया है। धर्म के तीन प्रधान अंग माने जाते हैं—ज्ञान, भक्ति और कर्म। इन तीनों का ही यहाँ समन्वय दिखाई देता है। परिणाम यह हुआ है कि यह काव्य परब्रह्म की प्राप्ति के ध्येय से च्युत नहीं हुआ है और साथ ही उसमें लोक-संग्रह का पुट भी आ गया है।

जब किसी व्यक्ति के दार्शनिक सिद्धान्तों को केन्द्र बनाकर उसके आत्मा-परमात्मा सम्बन्धी विचारों का अध्ययन किया जाता है तो इस बात का पता लगाना भी आवश्यक हो जाता है कि उसका जीवन के प्रति क्या दृष्टिकोण रहा है ? उसका यह दृष्टिकोण स्वस्थ है अथवा नहीं। यदि उसका जीवन के प्रति जो दृष्टिकोण है, स्वस्थ नहीं है तो फिर चाहे उसके दार्शनिक सिद्धान्त कितने ही गहन हों, हमारी दृष्टि में वे अवांछनीय ही समझे जायँगे। संसार में अब तक दार्शनिकों के प्रति यही समझा जाता रहा है कि वे जीवन के प्रति कोई उत्साहवर्धक दृष्टिकोण नहीं रखते। किन्तु उनका यह समझना नितान्त गलत है। वास्तविकता तो यह है कि अब तक जितने भी उच्च दार्शनिक हुए हैं सभी का जीवन के प्रति स्वस्थ दृष्टिकोण ही रहा है। माना जा सकता है कि कुछ लोक प्रसिद्ध दार्शनिकों ने जीवन के प्रति स्वस्थ दृष्टिकोण नहीं रखा। ऐसे दार्शनिकों के विषय में हमारा तो यही विचार है कि वे समाज के विकास में बाधा ही बने हैं। वास्तव में जीवन सिद्धान्तों को दार्शनिक सिद्धान्तों से अलग रखकर देखना अनुचित ही है। ये दोनों एक ही प्रश्न के दो पहलू हैं। एक के अभाव में दूसरे के अस्तित्व की कल्पना भी नहीं हो सकती।

भारतीय संस्कृति का जीवन के प्रति सदैव से ही स्वस्थ दृष्टिकोण रहा है। उद्योग, संयम तथा समन्वय पर आधारित संतुलित जीवन उसका आदर्श रहा है। उसका आदर्श कभी भी अव्यवहारिक अथवा अस्वाभाविक नहीं हो पाया है। हमें इस बात पर गर्व है कि संसार में जितने भी आदर्श प्रचलित हैं उन सब में यह आदर्श अद्वितीय है। यह हम मान सकते हैं कि प्रवृत्ति-मार्ग की अपेक्षा निवृत्ति-मार्ग को ही अधिक श्रेयस्कर माना जाता रहा है किन्तु क्या इससे जीवन की उपेक्षा होती है। उससे तो केवल इतना ही तात्पर्य होता है कि उसके द्वारा मानव के प्राकृतिक स्वार्थों का दमन हो जाय, समाज में अव्यवस्था एवं अशान्ति का अड्डा न बन जाय तथा समभाव का संग्रह करके व्यक्ति के हृदय में काल-गति के प्रभाव से कोई क्षोभ उत्पन्न न हो जाय। वस्तुतः यह निवृत्ति-मार्ग जीवन को सदैव आनन्दमय बनाये रखने के लिए प्रयत्नशील है, इसे जीवन के प्रति उदासीन नहीं कहा जा सकता। उस सिद्धान्त को जो आत्मा को अजर और अमर मानता हो, जीवन के प्रति निराशात्मक दृष्टिकोण रखने वाला कौन कह सकता है ? कुछ विचारकों का कहना है कि भारतीय दर्शन जीवन को गौण समझता है। हमारा विचार है कि शायद उन्होंने वैदिक कवि 'जीवेम शरद शतम्' उत्साहमय

घोष नहीं सुना, नहीं तो वे ऐसा नहीं कहते। ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम और सन्यास जिनमे उपभोग और सयम का आनन्दमय सतुलन है जीवन के सच्चे स्वरूप का आदर्श-चित्र नही तो और क्या है ? इस प्रणाली के द्वारा एक व्यक्ति तथा सम्पूर्ण समाज दोनो के जीवन में महत्त्व पर दृष्टि डाली गई है। समाज के जीवन की परम्परा अमर है जबकि एक व्यक्ति का जीवन सीमित है। दोनो म मेल रखने के लिए आवश्यक है कि नई पीढ़ी तथा समाज मे उठती हुई नयी विचारधाराओ के लिए पुरानी पीढ़ी स्वय स्थान रिक्त कर दे। यही यहाँ की जीवन प्रणाली का मूलभूत आदर्श रहा है। कौन कह सकता है कि यह आदर्श विकास को अवरुद्ध करता है ? *भ्रमरगीत की मूल भावनाओं मे सर्वत्र जीवन के प्रति यही स्वस्थ दृष्टिकोण दिखाई देता है।*

कुछ विद्वानों की दृष्टि मे कर्तव्य का भावना से बहुत ऊँचा स्थान है। हम भी इस बात से सहमत हैं किन्तु हम एक बात अवश्य कहना चाहते हैं। बात यह है कि भावनाओ के प्रति क्या कुछ हमारे कर्तव्य नहीं हैं ? है, और अवश्य है। जो उपदेशक शुष्कता के रेगिस्तान मे विचरण करत हैं वे तथ्यो का नहो समझते। किन्तु जीवन तथ्यो से अलग हो ही नही सकता। वस्तुत जीवन का लक्ष्य जीवन से हटकर नही है, उसकी सीमा म ही है। किसी समस्या का हल भी उतना ही यथार्थ है जितनी कि स्वय वह समस्या। यही दृष्टिकोण भ्रमरगीत मे गोपियो के माध्यम से ज्ञात होता है। वैसे भ्रमरगीत मे पात्रानुसार अलग अलग दृष्टिकोण दिखाई देते हैं—कृष्ण और गोपियों का अलग, उद्धव का अलग तथा कुब्जा का अलग। किन्तु सूरदास का अपना दृष्टिकोण है कृष्ण और गोपियो का दृष्टिकोण। यही भ्रमरगीत की केन्द्रीय भावना है।

यहाँ हम जीवन निर्यापन प्रणाली को स्पष्ट रूप स दो रूपो मे विभक्त देख रहे हैं—एक है बौद्धिक और दूसरी है हृदयगत भावनाओ स मडित। सूरकृत भ्रमरगीत की भावना के अनुसार जीवन म कोरी बौद्धिकता हेय है। व ता उसक स्थान पर हृदयगत सम्बन्धों पर ही अधिक बल देत हैं। इस प्रकार भ्रमरगीत मे निहित जीवन-सिद्धान्तो मे एक ओर जहाँ उद्धव के कल्पनात्मक आध्यात्मवाद का तिरस्कार दृष्टिगत है और इसके स्थान पर जीवन की अमर सत्यता का उद्घाटन है, वहाँ दूसरी ओर इसम उस बौद्धिकता की भी उपेक्षा है जो जीवन को अतिभौतिक और आजकल के समान कृत्रिम बना देती है। भ्रमरगीत के ये जीवन सिद्धान्त नितान्त सरल और *सहज गम्य हैं।*

इस प्रकार स्पष्ट है कि भ्रमरगीत का जीवन सिद्धान्त पूर्णतया स्वस्थ एवं सतुलित है। आवश्यकता तो आज इस बात की है कि हम उसम से आज के युग के लिए एक सदेश की खोज करें और उस अपने जीवन म अपना कर अपना और समाज का कल्याण करें।

काव्यगत सौन्दर्य

समय-समय पर विभिन्न विद्वानों ने काव्य की एक निश्चित परिभाषा देने का प्रयास किया है किन्तु तो भी आज तक उसकी कोई एक सर्वमान्य परिभाषा स्थिर नहीं हो पाई है। वस्तुत उसे एक निश्चित सीमा मे बाँधना भी नही चाहिये क्योंकि यदि प्रयत्न करके एक परिधि का निर्माण कर भी दिया तो यह व्यर्थ ही प्रमाणित होगा। कारण, समय परिवर्तनशील है, इसकी गति उस परिधि को तोड देगी। हम वैसे ही यह भविष्यवाणी नही कर रहे हैं, इतिहास इस तथ्य का साक्षी है। कितनी ही बार ऐसा हो चुका है। कोई देश और कोई भाषा समय की परिवर्तनशीलता के आघात से नही बची। इतना सब-कुछ होते हुए भी काव्य के दो तत्त्व सर्वदा अपरिवर्तित रहे हैं। इन दो तत्त्वों के विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न नाम रखे हैं। किन्तु साधारण रूप मे इन्हें आन्तरिक पक्ष तथा बाह्य पक्ष अथवा भावपक्ष और कलापक्ष कहा जाता है। भावपक्ष के अन्तर्गत सुन्दर सुललित भाव, हृदयग्राही कल्पनाएँ, संवेदनशील अनुभूतियाँ तथा प्रभावशाली विचार आते हैं। कलापक्ष मे अभिव्यंजना सौष्ठव, आकर्षक शैली, अनुपम चित्रोपमता, सौन्दर्यमयी अलंकार-योजना, भावानुकूल प्रौढ भाषा तथा विषयानुकूल छन्दोबद्धता का समावेश होता है। इन्ही कसौटियो के आधारो पर किसी काव्य के महत्त्व का मूल्यांकन किया जाता रहा है। हम भी इन्ही कसौटियो के आधार पर सूरकृत 'भ्रमरगीत' के काव्यगत सौन्दर्य की परख करेंगे।

भावपक्ष

कहने की आवश्यकता नही कि भ्रमरगीत वियोग शृंगार से सम्बन्धित एक सफल काव्य है। किन्तु इसमे केवल वियोग दशा का ही चित्रण नही है, अपितु वियोगिनी गोपियों के द्वारा परोक्ष रूप मे कृष्ण को दिये गये उपालम्भो का कोष है। इस काव्य मे अधिकांशत स्वयं गोपियो के ही कथन हैं। कवि ने जहाँ तक गोपियो का सम्बन्ध है स्वयं अपनी ओर से कुछ नही कहा है। यदि कही कभी कुछ कहा भी है तो वह 'न' के बराबर है और काव्य मे कथासूत्र जोडने के लिए ही है। साथ ही इसमे निर्गुण और सगुण-जैसे गम्भीर विषय पर वादविवाद भी देखने को मिल जाता है। अत यह काव्य केवल भावमग्न करने वाला ही नही, विचारोत्तेजक भी बन जाता है।

'Our sweatest songs are those which tell our saddest thoughts' के अनुसार यह काव्य स्वत ही हृदयग्राही है। फिर जब अमर प्राकृतिक प्रतिभा वाले कवि सूरदास के हाथो मे पड कर एक निश्चित् उद्देश्य को लेकर हमारे सम्मुख आता है तो और भी प्रभावोत्पादक बन जाता है। कुछ विद्वानो का कथन है कि यह तो पूर्णत उपालम्भ-काव्य ही है। ठीक है, इसमे उपालम्भो का अक्षय भण्डार है किन्तु इन उपालम्भो मे ही तो गोपियो का प्रेम-विह्वल हृदय स्पष्ट रूप मे खुलकर सामने आता है। इन गोपियों के हृदय का वह कौन-सा कोना है जहाँ सूर की दृष्टि नही पहुँची है? असीम वेदना का वह कौन सा पक्ष है जिसे सूर ने स्पर्श नही किया है?

वेदना की वह कौन-सी अन्तिम से अन्तिम गहराई है जहाँ सूर न पहुँचे हों? प्रेम रस में डूबे हुए गोपियों के हृदय को शुष्क वार्ता तथा अपरिचित उपेक्षा से जो ठेस पहुँची तथा फलस्वरूप उनपर इसकी जो प्रतिक्रिया हुई उसे सहज स्वाभाविक किन्तु मार्मिक रूप में वर्णित देख कर कौन ऐसा आलोचक होगा जो उनकी अद्भुत अन्तर्दृष्टि की सराहना न कर उठेगा। यदि यह कोई अद्वितीय बात नहीं थी तो फिर उनके परवर्ती कवि उनका आधार लेकर भी सफलता का मुख क्यों नहीं देख सके? गोपियों के उपालम्भ ऐसे प्रतीत होते हैं जैसे मानो अवसरानुकूल हमारे हृदय में ही निकल पड़े हों। उनके काव्यों में हमारे हृदयों की एकत्रित खीझ ही दिखाई पड़ती है। वास्तव में गोपियों की वेदना केवल गोपियों की ही वेदना नहीं है, वह तो नारी-मात्र की वेदना है। हम कह सकते हैं कि वह प्रत्येक बिछुड़ी हुई आत्मा की वेदना है जो परम प्राप्ति की इच्छा में चिरन्तन काल से जलती चली आ रही है। वस्तुतः प्रस्तुत काव्य में ईश्वर के सगुण रूप की महत्ता का जो प्रतिपादन है, वह मनुष्य-जीवन की सार्थकता का अमिट उद्घोष ही कहा जाना चाहिए।

भ्रमरगीत के भाव पक्ष का वास्तविक सौन्दर्य दो स्थानों पर विशेष रूप से देखने को मिलता है। एक तो विरह संतप्त हृदया की मनोदशाओं के अत्यन्त सूक्ष्म, स्वाभाविक एवं मार्मिक चित्रण में तथा दूसरे गोपियों की उन उक्तियों में जिनके द्वारा वे ज्ञान के देवता उद्धव का मधुर तिरस्कार करती हैं, कृष्ण को उपालम्भ देती हैं, अपने हृदय की खीझ का प्रगटीकरण करती हैं, अपने प्रेम की अनन्यता स्पष्ट करती हैं तथा साथ ही सगुण रूप की महत्ता का भी प्रतिपादित करने में सफल होती हैं।

आइये, अब कुछ तनिक विस्तार में विचार करलें। कृष्ण के आग्रह पर उद्धव का संदेश लेकर ब्रज जाने तक की घटनाओं पर सूर ने बहुत संक्षेप में प्रकाश डाला है। स्पष्टतः प्रतीत होता है कि सूर का हृदय यहाँ तक रमा ही नहीं है। उनके हृदय में तो सम्भवतः उत्सुकता शीघ्र ही गोपियों और उद्धव के वार्तालापों में पहुँचने की थी। काव्य का केन्द्रीय उद्देश्य भी गोपियों के वचनों में ही था किन्तु तो भी वे यहाँ वात्सल्य को नहीं भूले जो उनकी सफलता का ही प्रमाण है। सूर अनुपम स्नेहमयी माता यशोदा के प्रति कृष्ण के हृदय में उमड़ती हुई भावनाओं को पहचानते थे। यदि वे यशोदा के पुत्र वियोग से व्यथित हृदय को विस्मृत कर देते तो उनकी सफलता ही क्या रहती? उन्होंने उसे कृष्ण का जो संदेश भिजवाया है, दर्शनीय है—

'नीके रहिए जसुमति मैया।
आवेंगे दिन-चार पाँच में हम हलधर दोऊ भैया॥'

अपनी भूल को हँसी में टालते हुए स्वयं नन्द को जो कृष्ण द्वारा मीठा उलाहना दिलवाया है वह भी देखिये कितना हृदयग्राही है—

'कहियो जाय नंद बाबा सों निपट कठिन हिय कीन्हों।
सूर स्याम पहुँचाय मधुपुरी बहुरि संदेस न लीन्हों॥'

यशोदा के पश्चात् गोपियों का नम्बर आता है। विरह से व्यथित गोपियाँ इतने दिनों बाद जब अपने प्रिय का संदेश पाने की आशा देखती हैं तो उनकी भाव-विह्वलता की सीमा टूट जाती है। कृष्ण की संदेश-पत्रिका को देखकर देखिए गोपियों का क्या दशा हो जाती है—

'निरखत अंक स्याम सुन्दर के बार बार लावति छाती।
लोचन जल कागद मसि मिलि के ह्वै गई स्याम स्याम की पाती॥'

गोपियों को आशा थी कि वे उद्धव के मुख से प्रिय के शीघ्र ही आगमन का सुखद संदेश सुनेंगी। किन्तु इसके स्थान पर जब उन्होंने सुना उद्धव का शुष्क तथा दम घोटने वाला ज्ञानोपदेश तो उनके हृदय को एक बड़ा गहरा धक्का लगा। एक क्षण तो वे ठगी-सी ही रह गईं। जब आशा के बिल्कुल विपरीत इस प्रकार कोई संदेश मिले तो मनुष्य ठगा सा रह ही जाता है। अब निम्नलिखित के अतिरिक्त उनके पास चारा ही क्या था—

'सुनत संदेश दुसह माधव के गोपीजन बिलखाती।
सूर विरह की कौन चलावै नयन ढरत अति पानी॥'

इसके पश्चात् तो उनके हृदय का वेदना-सागर क्षीभ बनकर बाहर आ निकला और कई रूपों में प्रस्फुटित हो गया। गोपियाँ कभी तो उद्धव को उपालम्भ देकर अपना व्यथित हृदय शान्त करती हैं। कभी उपहास करके कुछ सुख का अनुभव कर लेती हैं और कभी अपने रुदन तथा विषम स्थिति का प्रकटीकरण करके कुछ हल्कापन अनुभव करती हैं। गोपियों के इस प्रकार के वचनों से यह प्रमाणित हो जाता है कि सूर में जहाँ एक ओर नवीन प्रसंगों की उद्भावना की शक्ति थी वहाँ दूसरी ओर हृदय के अनन्त भावों को पकड़ने की शक्ति भी थी। सूर से पहले के कवि वियोग-पक्ष में प्राय बाह्य पक्ष का ही चित्रण किया करते थे किन्तु सूर ने इसके स्थान पर आन्तरिक पक्ष को ही अधिक महत्त्व दिया है और इस प्रकार अपनी अनुपमता तथा श्रेष्ठता का परिचय दिया है।

गोपियों को पहले तो यही विश्वास नहीं होता कि उद्धव जी जो कुछ कह रहे हैं उनसे ही कह रहे हैं। जब यह विश्वास हो जाता है कि उद्धव जी जो कुछ कह रहे हैं उनसे ही कह रहे हैं तथा वही कह रहे हैं जो वे समझ रही हैं तो उन्हें उद्धव पर विश्वास ही नहीं होता। वे सोचती हैं कि कृष्ण तो कभी ऐसा कह ही नहीं सकते। कृष्ण पर इतना अटूट विश्वास उनके प्रेम की अनन्यता का कितना सबल प्रमाण है। निम्न उक्ति उदाहरण स्वरूप दृष्टव्य है—

'ऊधो जाय बहुरि सुनि आयो कहा कह्यो है नन्दकुमार।
यह न होय उपदेस स्याम को कहत लगावन छार॥'

किन्तु जब उन्हें यह विश्वास हो जाता है कि वास्तव में यह संदेश उनके निष्ठुर प्रियतम का ही है तो उनका दुःख सीमाहीन हो जाता है। इस दुःख का प्रगटीकरण निम्न पद में देखिये—

'ऊधो ! यह हरि कहा करयो ?
राजकाज चित्त दये साँवरे गोकुल क्यों बिसरयो ?
जो लों घोस रहे तो लों हम सन्तत सेवा कीनी ।
बारक कबहुँ उलूखल बाँधे सोई मानि जिय लीनी ।।
जो तुम कोटि करो ब्रजनायक बहुतै राजकुमार ।
तौ ये नंद पिता कह मिलि हैं ग्रब जसुमति महतारि ।।
कहँ गोधन कहँ गोप-वृन्द सब गोरस को संचो ?
'सूरदास' ग्रब सोई करो जिहि होय कान्ह को ऐचो ।'

गोपियों को इस बात का दुख तो था ही कि कृष्ण उनसे बिछुड कर चले गये, किन्तु इससे भी बडा दुख इस बात का हुआ कि मथुरा जाकर इतनी उपेक्षा कर दी। उन्हें बडा दुख होता है कि कृष्ण ने तो प्रेम की रीति को ही कलक लगा दिया। दुख के साथ कहती हैं —

'प्रीति करि दीन्ही गरे छुरी ।
जैसे बधिक चुगाय कपट कन पाछे करत बुरी ।।'

ग्रब तनिक उपालम्भो की भी परख कर लीजिये। उपालम्भ का सबसे बडा कारण है कुब्जा जिसे कृष्ण ने मथुरा जाकर अपना लिया था। कुब्जा को लक्षित करके गोपियो ने जो तीखे ताने कसे हैं उनमे सह-पत्नी के हृदय मे समायी हुई ईर्ष्या का प्रगटीकरण देखते ही बनता है—

'कुबजा काज कस को मारयो भई निरन्तर प्रीति ।
सूर विरह ब्रज भलो ना लागत जहाँ ब्याहु तहँ गीति ।।'
'हरि सों भलो सो पति सीता को ।
दूत हाथ लिख उन्हें न पठायो निगम ज्ञान गीता को ।।
ग्रब धों कहाँ परेखो कीजै कुबिजा के मीता को ।।'

गोपियों के उपहास करने मे भी सर्वत्र सूर ने एक स्तर रखा है। उस स्तर से पतन होता कही नही दिखाई देता। इनके उपहास मे वह प्रौढता तथा सरलता विद्यमान है जो प्रत्येक परिष्कृत ग्रथवा ग्रपरिष्कृत हृदय को प्रभावित कर सकती है। इन उपहासो की शक्ति का तो कहना ही क्या ? इन्हीं से उद्धव का रग फीका हुआ, इन्ही से उद्धव का ज्ञान गर्व चूर-चूर हुआ, इन्ही के द्वारा एक महान् उद्देश्य की पूर्ति हुई। इन उपहासों मे हास्य की ग्रवस्थिति मानी जा सकती है किन्तु यह हास्य भी कुछ ग्रौर ही प्रकार का है। उस पर वेदना ग्रौर क्षोभ का ग्रावरण चढा हुआ है। उसे करुणात्मक हास्य की सज्ञा दी जा सकती है। कुछ उदाहरण दृष्टव्य हैं—

"बिलगि जनि मानहु ऊधो प्यारे ।
ये मथुरा काजर की कोठरी, जे ग्रावहि ते कारे ।।
तुम कारे, सुफलक सुत कारे, कारे मधुप सवारे ।"

'मधुकर यह कारे की रीति।
मन दै हरत परायो सर्वसु करै कपट की प्रीति ॥'

× × ×

ऊधो जाहु तुम्हें हम जाने।
स्याम तुम्हें यहाँ नहिं पठाए तुम तो बीच भुलाने ॥
ब्रजवासिन सो जोग कहत हो बातहु कहत न जाने।'

'आयो घोस बड़ो व्यापारी।
लादि खेप गुन ज्ञान जोग की ब्रज मे आय उतारी।'

'आये जोग सिखावन पाँडे।
परमारथी पुराननि लादे ज्यों बनजोर टाँडे ॥'

ये तो हुए उन उपहासो के उदाहरण जिनमे गोपियो ने स्पष्ट रूप से उद्धवजी पर तीखे छींटे कसे हैं। इनका एक दूसरा भाग भी है जिसमे तार्किकता का अश अधिक है। इन उपहासों के द्वारा सूर ने निर्गुण ब्रह्म की साधना के स्थान पर सगुण-साधना तथा योग-मार्ग के स्थान पर प्रेम-मार्ग की महत्ता प्रदर्शित की है। ऐसा करने मे गोपियो को कुछ अधिक परिश्रम नही करना पडा है। उन्होने अपने मत के प्रतिपादन के लिए कारण और तर्क नही दिये है। अधिकाश मे उद्धव से प्रश्न पूछने मे ही सारी बातें स्वत ही स्पष्ट हो जाती है। एक उदाहरण ही इस बात की पुष्टि के लिए पर्याप्त होगा—

"निर्गुन कौन देस को वासी।
मधुकर! कहि समुझाय सौंह दै बूझत, सांच न हाँसी ॥
को है जनक, जननि को कहियत, कौन नारि को दासी। आदि

विश्वास के लिए आवश्यकता होती है आत्मीयता की और आत्मीयता का आधार होने है स्पष्ट तथ्य। गोपियाँ उद्धव की बात भी मानने को तैयार हैं किन्तु कब? जबकि वे अपने निर्गुण ब्रह्म को उनके सामने लाकर खडा कर दें—

"तो हम मानैं बात तुम्हारी।
अपनो ब्रह्म दिखावहु ऊधो, मुकुट पीताम्बर धारी ॥
भजि तब ताको सब गोपी सहि रहि हैं बरुगारी।"

गोपियो के मनोभावो के चित्रण के अन्तर्गत यदि उनकी दशा तथा उनके हृदय की विह्वलता और प्रेम की अनन्यता पर कुछ प्रकाश न डाला गया तो बात कुछ अधूरी-सी ही रह जायगी। गोपियो ने चाहे कितना ही उपहास किया, कितना ही व्यग्य किया तथा कितना ही अपने को सँभालने का प्रयास किया, आखिर थी तो साधारण नारियाँ ही। वे अपने मुख से अपनी व्यथा प्रगट किये बिना कैसे रह सकती थी? उद्धव को प्रभावित करने के हेतु भी ब्रज की वास्तविक स्थिति का दिग्दर्शन आवश्यक था। हीन दशा का यह चित्रण इतना स्पष्ट तथा हृदयभेदी शब्दों मे है कि इसका चित्र तो नेत्रो मे सम्मुख नाच ही जाता है, पाठक भी असीम वेदना मे डूब

जाता है। उद्धव सबसे अधिक प्रभावित इसी दशा के वर्णन से हुए थे। उन्होंने कृष्ण के पास जाकर पहले इसी दीन दशा का ही वर्णन किया है। एक उदाहरण देखिये गोपियाँ क्या कह रही हैं—

'निसि दिन बरसत नैन हमारे।
सदा रहत पावस ऋतु हमपै जबतें स्याम सिधारे॥'

उद्धव के शब्दों में इसका मार्मिक चित्र निम्न शब्दों में दर्शनीय है—

"कहाँ लौं कहिए ब्रज की बात।
सुनहु स्याम तुम बिन उन लोगन जैसे दिवस बिहात॥
गोपी ग्वाल गाय गोसुत सब मलिन बदन, कृस गात।
परम दीन जनु सिसिर हेम हत अम्बुज गन बिनु पात॥
जो कोई आवत देखि दूर तें सब पूछति कुसलात।
चलन न देति प्रेम आतुर उर कर चरनन लपटात॥
पिक चातक बन बसन पावै बायस बलिहिं न खात।
सूर स्याम संदेसन के डर पथिक न वा मग जात॥"

इस पद से जहाँ ब्रज की आकुलता स्पष्ट होती है वहाँ उनके प्रेम की अनन्यता भी झलक रही है। कृष्ण की इतनी उपेक्षा होने पर भी गोपियों को अपने प्रेम पर अटल विश्वास है। अनन्य प्रेमी को भी यदि इतना विश्वास न होगा तो फिर और किसे होगा? वे अपनी अनन्यता तथा असमर्थता के लिए इतने सुन्दर तर्क देती हैं कि हृदय बस उनकी न्याय संगतता को स्वीकार करता ही दिखाई देता है—

"ऊधो! मन नाही दसबीस।
एक हुतो सो गयो स्याम संग, को अवराधै तुव ईस।"

⊠ ⊠ ⊠

"उर मे माखन चोर गड़े।
अब कैसेहूँ निकसत नाहीं ऊधो! तिरछे ह्वै जु अड़े॥"

इस प्रकार उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि सूरकृत भ्रमरगीत का भावपक्ष अत्यन्त सबल है। सुन्दर सुललित भाव, हृदयग्राही कल्पना, संवेदनाशील अनुभूतियाँ तथा प्रभावशाली विचार आदि ने इस काव्य को अत्यन्त उच्च श्रेणी का काव्य बना दिया है।

कलापक्ष

कलापक्ष में अन्तर्गत जैसा कि हमने पीछे बताया कि भाषा, शैली, अभिव्यंजना सौष्ठव, छन्दोबद्धता, चित्रोपमता, अलंकार-योजना की गणना की जाती है। सूरकृत 'भ्रमरगीत' के कलापक्ष को कसौटी पर कसने के हेतु, अपने विवरण को इन्हीं शीर्षकों में विभक्त कर लेना उपयुक्त रहेगा।

भाषा

विचारों और मनोभावों के प्रगट करने का साधन भाषा होती है। जिस

साहित्यकार का भाषा पर अधिकार नही है वह साहित्यकार ही क्या ? जिनका भाषा पर अधिकार नही होता उनके भाव अस्फुट ही रह जाते है। काव्यकार के लिए तो भाषा पर सच्चा और पूर्ण अधिकार होना बहुत ही आवश्यक है क्योकि वहाँ केवल महत्त्व इस बात का नही है कि क्या कहा जा रहा है, इस बात का भी है किस प्रकार कहा जा रहा है ? बिना भाषा पर असाधारण अधिकार हुए कोई भी कवि महान् कवि कहला ही नही सकता।

महात्मा सूरदास का भाषा पर असाधारण अधिकार दिखाई देता है। उनके पास शब्दो का अभाव कभी नही रहा। भावो के प्रकट करने के तो न जाने वे कितने ढग जानते थे। सबसे बडी विशेषता तो उनकी यह है कि उनकी भाषा सदैव भावानुकूल रही है। यदि वियोग का स्थल है तो भाषा भी विह्वल दिखाई देगी, यदि व्यग्य का स्थल है तो उसमे भी वैसी ही तीव्रता के दर्शन होते हैं, स्नेह का अवसर है तो उसमे कोमलता रहेगी और यदि भक्ति का अवसर है तो उसमे भी अपेक्षित दीनता दिखाई देगी। 'भ्रमरगीत' म तो उनकी भाषा का यह गुण और भी स्पष्ट रूप मे दिखाई देता है।

महाकवि सूरदास ने अपने काव्य की रचना ब्रजभाषा मे की है। यदि हम सूर की शुद्ध साहित्यिक ब्रजभाषा के पूव के राजस्थानी से मिश्रित ब्रजभाषा के विकास पर एक दृष्टि डालें तो कहना पडेगा कि वे किसी ब्रजभाषा की अज्ञात परम्परा मे अवतरित हुए थे। किन्तु जिस प्रकार द्विवेदी युग के कवियो ने खडीबोली की सत्ता पहले से ही रहने पर भी, उसे भावनाओ का वाहक बनाया था, उसी प्रकार ब्रजभाषा के परिष्कार और अलकृति मे सूर का एक ऐतिहासिक महत्त्व है। सूर के ब्रज-भाषा प्रयोग की कुछ विशेषताओ पर दृष्टिपात कर लेना अत्यन्त आवश्यक सा प्रतीत हो रहा है। इस भाषा को कोमलता का चोला पहनाने के हेतु उन्होंने वैदिक 'ऋ' के स्थान पर 'रि', 'र' का प्रयोग किया। स्वरो के प्रयोग और विशेष रूप से सानुनासिक स्वरो के प्रयोग ने इस दृष्टि से उनकी बहुत सहायता की है। कुछ लोगो के विचार मे डिंगल मिश्रित ब्रज भाषा मे प्रयुक्त द्वित्वप्रधान तथा सयुक्ताक्षरो का प्रयोग कम करके भी सूरदास ने कोमलता की सृष्टि की है। कुछ लोगा का विचार है कि सूर साहित्य मे सस्कृत के तत्सम शब्दो का प्रयोग बहुत मिलता है। किन्तु हम उनकी बात से सहमत नही हैं। जहाँ वे भागवत का आधार लेते है वहाँ अवश्य ही कुछ तत्सम शब्दो की प्रधानता लक्षित हो जाती है किन्तु भ्रमरगीत मे जहाँ कवि भाव-विभोर ही रहना चाहता है, शास्त्रीय शब्दावली का प्रयोग बहुत कम है। वहाँ लोक साहित्य की शब्दावली ही वे अधिक प्रयोग मे लाते हैं। इनके तो सधिपूर्ण शब्द भी अपेक्षाकृत सरल हैं। सूर की भाषा का विशेष अध्ययन करने वाले श्री प्रेमनारायण टडन ने स्पष्टत लिखा है कि सूर-साहित्य मे स्वर-सधि-प्रधान शब्द ही अधिक मिलते हैं, व्यजन-सधि तो अपवाद ही समझना चाहिए। सूर प्राय उन शब्दो के प्रयोग से बचते ही रहे हैं जो भाव प्रवाह के मध्य पत्थर की भाँति अडकर काव्य की प्रेषणीयता

की हानि पहुँचाते हैं। 'भ्रमरगीत' में इस विषय में वे विशेष सतर्क दिखाई पड़ते हैं। प्राकृत के शब्दों के विषय में भी यही बात है। 'साहित्यलहरी' तथा अन्यत्र उन्होंने प्राकृत शब्दों का प्रयोग अधिक मात्रा में किया है। 'भ्रमरगीत' में तो यदि कुछ शब्द अपनाये भी हैं तो वे अत्यन्त मधुर हैं जैसे चिहुर, फटिक, बेहरि आदि। इसी प्रकार क्या अवधी, क्या अरबी और क्या फारसी सभी देशी विदेशी भाषाओं के शब्दों का प्रयोग पहले तो सूर ने किया ही बहुत कम है यदि कहीं किया भी है तो अत्यन्त मधुर बनाकर।

सूरदास जी की भाषा की एक और विशेषता है ध्वन्यार्थमूलक शब्दों का प्रयोग। श्री प्रेमनारायण टंडन के अनुसार इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग सूर ने देशज शब्दों से कहीं अधिक किया है। 'भ्रमरगीत' में इस प्रकार के भी शब्द कम ही मिलते हैं क्योंकि यहाँ सूर का उद्देश्य वातावरण की सृष्टि करना नहीं था। 'भ्रमरगीत' की भाषा की तो सबसे बड़ी विशेषता है परिस्थिति के अनुकूल उसका प्रयोग। कुछ उदाहरण इसकी पुष्टि के लिए यहाँ प्रस्तुत करना अनुपयुक्त न होगा। उपहास और विद्रूप करते समय देखिये सूर की भाषा भी कितनी व्यंगमयी और चपल हो जाती है—

"ऊधो, जाहु तुम्हें हम जाने।
स्याम तुम्हें ह्याँ नाहिं पठाए, तुम हो बीच भुलाने।"
× × ×
कहो कहा ते आए हो
जानति हो अनुमान मनो तुम। जादवनाथ पठाए हो।
× × ×
ऊधो, भली करी तुम आये।
ये बातें कहि कहि या दुख में ब्रज के लोग हँसाये॥

भावातिरेक प्रधान स्थलों की सूर की भाषा तो भाषा और अभिव्यक्ति के सभी बन्धन तोड़ डालती है। वहाँ तो सूर की भाव धार ब्रह्मपुत्र नदी के समान 'हहरि हहरि' बहती हुई दौड़ती दृष्टिगोचर होती है। हाँ उद्धव के प्रति व्यंग्य करते हुए सूरदास में जो चपलता और अत्यधिक व्यवहारिकता दृष्टिगोचर होती है, उसका ऐसे स्थलों पर अभाव ही रहता है। उपहास अथवा व्यंग्य करते समय सूर बाह्य जीवन पर ही अधिक ध्यान देते हैं। उस समय वे बाहर से ही अधिक शब्द चुनते हैं किन्तु भावुकतापूर्ण स्थलों में तो ऐसा प्रतीत होता है कि मानो भाषा कवि के मानस से ही निकल रही है। व्यंग्य करने समय जो खीझ और झल्लाहट दिखाई पड़ती है। वह यहाँ दैन्य, विवशता और अवसाद में परिवर्तित हो जाती है। कुछ उदाहरण दृष्टव्य हैं—

काहे को गोपीनाथ कहावत ?
जो पै मधुकर कहत हमारे, गोकुल काहे न आवत।
× × ×

जीवन मुँह चाही को नीको ।
दरस परस दिन रात करति हैं, कान्ह पिआरे पी को ।

× × ×

बिरही कहँ लौ आपु संभारै ?
जब तें गग परी हरिपद तें, बहिबों नाहिं निवारै ।

भाषा भी बेचारी ऐसे प्रसगो मे मानो अपने आप को नही सभाल पा रही है, उसे गगा की भाँति प्रवाहित होते रहना ही पडता है ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि सूरदास जी पात्रो की मानसिक स्थिति से नही, उनकी अभिव्यक्ति के भिन्न-भिन्न रूपो से भी परिचित थे । भिन्न-भिन्न मानसिक स्थितियो में भाषा का रूप भी भिन्न भिन्न दिखाई देता है ।

कहावतो और मुहावरो का भी काव्य मे एक विशेष स्थान है । काव्य को प्राणवन्त करने के लिए इनका प्रयोग वाँछनीय माना जाता है । सूर ने इनमे सबसे अधिक लोकोक्तियों का प्रयोग किया है । 'भ्रमरगीत' मे 'सूरसागर' के अन्य सभी भागो से इनका प्रयोग अधिक मात्रा मे मिलता है । कुछ उदाहरण देखिये—

'हमारे हरि हारिल की लकरी ।'

× × ×

जोग ठगौरी ब्रज न बिकैहैं ।
दाख छाँडि कै कटुक निबौरी, को अपने मुख खैहैं ।
मूरी के पातन के केना को मुक्ताहल दैहैं ।

शैली

विचार अथवा मनोभाव यदि काव्य की आत्मा है तो शैली उसका शरीर जिस प्रकार भावो की कोई सख्या नही है, जिस प्रकार विचारों की कोई सख्या नही है, उसी प्रकार शैली की भी कोई सख्या नियत नही की जा सकती । 'Style is the man himself' के अनुसार शैली पर अलग-अलग व्यक्तित्व की अलग-अलग छाप होती है । अत यह कहना कि शैली कैसी होनी चाहिए, बडा कठिन है हाँ, एक बात कही जा सकती है और वह यह कि वह भावानुकूल हो । जैसे भाव हों वैसी ही शैली हो ।

इतने व्यापक अर्थ में तो शैली के अन्तर्गत अभिव्यजना, ध्वनि, अलकार, छन्द आदि सभी कुछ आ जाते हैं किन्तु हम यहाँ भाषा, अलकार, छन्द आदि सभी को अलग अलग ले रहे है । अत यहाँ शैली के कुछ सकुचित अर्थ को ही लेकर 'भ्रमरगीत की कतिपय विशेषताओ पर प्रकाश डालेंगे । यदि शैली के व्यापक अर्थ की दृष्टि से भी कुछ कहना चाहे तो एक वाक्य मे यही कहेगे कि उसकी शैली सदैव भावानुकूल रही है । अब देखना यह है कि भ्रमरगीत मे सूर ने अभिव्यक्ति का कौन-सा ढग अपनाया है । मुख्य रूप से इस काव्य मे तीन विधियो को अपनाया गया है—सबोधन, अन्योक्ति और कथोपकथन । इन्ही तीनो के आधार पर 'भ्रमरगीत' मे प्रयुक्त शैलियो

को सम्बोधन शैली, अन्योक्ति शैली तथा कथोपकथन शैली नाम दिये जा सकते हैं।

'भ्रमरगीत' मे कवि अपनी ओर से कुछ भी कहना नहीं चाहता। बहुत आवश्यक स्थलो पर ही कवि के स्वगत कथन देखने को मिल सकते हैं। जो कुछ वह कहना चाहता है अधिकाश मे उसके लिए पारस्परिक सलाप और सम्बोधनो का ही आश्रय लिया है। भ्रमरगीत के मुख्य पात्र हैं—कृष्ण, उद्धव, गोपियाँ और यशोदा। वैसे तो भ्रमर भी एक पात्र है किन्तु उद्धव और उसे एक ही माना जा सकता है। ये पात्र आपस मे ही एक-दूसरे को सम्बोधन करते हैं और सलाप करते हैं। इनके इस प्रकार के पारस्परिक सम्बोधन और वार्तालाप से इस काव्य मे वह सजीवता आ गई है जो दृश्य काव्य मे ही देखने को मिल सकती है। इन दोनो शैलियो के अतिरिक्त इस काव्य में अन्योक्ति शैली का भी आश्रय लिया गया है। 'भ्रमरगीत' नाम भी इस शैली के कारण सार्थक प्रतीत होता है। गोपियो ने कुछ विशेष कारणो के वशीभूत होकर उद्धव से सीधे वार्तालाप नही किया वरन् एक उड़ते हुए भौंरे को माध्यम बनाकर किया है।

अभिव्यजना सौष्ठव

किसी भी बात का बहुत-कुछ महत्त्व उसके कहने के ढग पर निर्भर करता है। कोई साधारण-सी बात भी सुन्दर ढग से कहने के कारण अत्यन्त आकर्षक और प्रभावशाली बन सकती है। ठीक इसके विपरीत श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ बात यदि ठीक ढग से नहीं कही जा सकी तो वह नितान्त प्रभावहीन बन जाती है। ठीक यही बात काव्य के क्षेत्र मे है। कहने के सुन्दर ढग को ही अभिव्यजना सौष्ठव कहते हैं। जहाँ तक [इ]स दृष्टि से सूरकृत भ्रमरगीत का प्रश्न है, निश्चय रूप से कहा जा सकता है कि [इ]समे जितनी महान अनुभूतियाँ, भावनाएँ तथा कल्पनाएँ हैं उतना ही कुशल उनका [अ]भिव्यजना सौष्ठव है। गुप्तजी की 'अभिव्यक्ति की कुशल शक्ति ही है कला' के [आ]धार पर सूर को एक सच्चा कलाकार कहा जा सकता है। 'भ्रमरगीत' का तो कुछ [वि]षय ही ऐसा है कि यदि उसके वर्णन करने का ढग सुन्दर न हो तो उसका सारा [स]ौन्दर्य ही धूमिल पड जाता। सूर मे यह सामर्थ्य बहुत अधिक मात्रा मे है, इसलिए उनका काव्य बहुत उच्च श्रेणी का माना जाता है। उन्होंने जो भी भाव जितने प्रभावशाली रूप मे कहना चाहा है, वे कह सके हैं, इसमे कोई सन्देह नही। कहीं भी उनकी अभिव्यजना-शक्ति हमे निर्बल नही दिखाई देती। भावो की कितने ही स्थानो [प]र पुनरुक्ति दृष्टिगत होती है किन्तु उनके कहने के ढग मे सदैव नवीनता रहती है। अत. यह पुनरुक्ति, पुनरुक्ति होते हुए भी खटकती नही है। पुनरुक्ति भी जब नही खटकती तो फिर अभिव्यजना-सौष्ठव की जितनी प्रशसा की जाय उतनी थोडी। कितने ही उदाहरणों द्वारा सूर की अभिव्यजना शक्ति प्रमाणित की जा सकती है। पीछे के विवरण में इस शक्ति के प्रमाण के लिए कितने ही उदाहरण खोजे जा सकते हैं।

छन्दोबद्धता

सूरदासजी ने 'भ्रमरगीत' दोहा-चौपाई और पदो मे रचा है। उनके दोहा चौपाइयो को देखकर तो यही कहा जा सकता है कि यहाँ उनका मन रमा ही नही है। इनमे तो ज्ञान और वैराग्य के ही गीत अधिक मात्रा मे गाए गये हैं। विजय यहाँ भी भक्ति की दिखाई गई है। किन्तु यहाँ से वे बहुत ही शीघ्र आगे बढ जाना चाहते थे। इस हेतु दोहा-चौपाई जैसे छन्द ही अधिक उपयुक्त थे।

उनका पदो मे लिखा हुआ 'भ्रमरगीत' बहुत अधिक लोकप्रिय है। यहाँ सगीत तत्त्व की प्रधानता होने के कारण आन्तरिक भावो मे बहुत अधिक तीव्रता आ गई है। उनके इन पदो की पक्तियाँ तथा इनकी मात्राएँ कुछ निश्चित नही रहती क्योकि वे राग-रागनियो के आधार पर ही चलते हैं। फलत भाव-प्रगटीकरण के लिए उनके पास पर्याप्त स्थान रहा है। सम्बोधन-शैली होने के कारण कुछ अन्य असुविधाएँ भी उन्हे नही होने पाती। कहा जा सकता है कि छन्दोबद्धता की दृष्टि से सूरदासजी एक परम सफल कलाकार है।

चित्रोपमता

चित्रोपमता काव्यकार का एक ऐसा गुण है कि जिसके द्वारा वह परिस्थिति एव मानसिक स्थिति का सच्चा चित्र हमारे हृदय पटल पर अकित कर सकता है। चित्रोपमता लाने के लिए किसी भी कवि के पास सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति तथा मनोवैज्ञानिक ग्रहणशील दृष्टि का होना आवश्यक है। यदि ये न हो तो फिर वह कैसे समझ सकता है कि कौनसी बातें उसे बिल्कुल उसी रूप मे चित्रित करनी हैं और कौनसी नही ?

किसी भी काव्य मे चित्रोपमता का विवेचन करने के लिए बाह्य-दशा-चित्रण तथा आन्तरिक भाव चित्रण दोनो चित्रणो को देखा जाता है। 'भ्रमरगीत' मे आकर्षक चित्रोपमता का अभाव कही भी दृष्टिगत नही होता। दोनो ही क्षेत्रो मे अदभुत चित्रोपमता दिखाई देती है। सूर मे अद्भुत सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति भी है और ग्रहणशील मनोवैज्ञानिक दृष्टि भी। 'भ्रमरगीत' क्योकि सलाप शैली मे रचा हुआ है इसलिए उसमे बाह्य दशा के चित्रण के लिए अधिक स्थान नही है। किन्तु तो भी जो चित्रण हुआ है वह अत्यन्त स्वाभाविक है। उद्धव के व्रज-आगमन पर गोपियो की उत्सुकता की जो व्यजना सूर ने की है, उसका यहाँ प्रस्तुत करना ही उदाहरणो की दृष्टि से पर्याप्त होगा—

> 'धाईं सब गलगाजि कै ऊधो देखे जाय।
> ले आईं ब्रजराज पै, आनद उर न समाय॥
> अरध आरती, तिलक, दूब, दधि माथे दीन्हों।
> कचन कलस भराय आनि परिकरमा कीन्हों॥'

भाव-चित्रणो का तो इस काव्य मे ढेर लगा हुआ है। पीछे भाव-पक्ष के वर्णन के अन्तर्गत दिये गए उदाहरण यद्यपि इस कथन की पुष्टि के लिए पर्याप्त हैं

किन्तु यहाँ भी एक उदाहरण दे देना न्यायसंगत ही रहेगा। गोपियों के अन्तर की निराशा निम्न शब्दों में देखिए कितने सुन्दर एवं स्वाभाविक ढंग से वर्णित है—

'ऊधो ! अब नहीं स्याम हमारे।
मधुबन, बसति बदलि से गे वे, माधव मधुप तिहारे ॥'

अलंकार योजना

इस बात से तो सभी सहमत हैं कि अलंकार का काव्य क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण स्थान है। वादविवाद इस बात पर रहा है कि इनका काव्य में किस मात्रा में प्रयोग हो ? विभिन्न प्रकार के वादविवादों के पश्चात् जो निर्णय अधिकांश विद्वानों की राय में ठीक रहा है, वह यह है कि अलंकार काव्य के लिए कोई आवश्यक वस्तु नहीं है। आवश्यक तो है रस। किन्तु काव्य की शोभा बढ़ाने के लिए इनका प्रयोग वांछनीय है। काव्य की शोभा बढ़ाने वाले धर्मों को ही अलंकार कहा जाता है। अतः जहाँ तक इनसे काव्य की शोभा बढ़े, वहाँ तक तो इनका प्रयोग ठीक है। किन्तु जब उनसे कविता-कामिनी के सौन्दर्य को कुछ हानि पहुँचने लगे तो इनका प्रयोग वर्जित है। अतः निष्कर्ष यह है कि जानबूझ कर हम अलंकारों को बिल्कुल निकाल फेंककर न तो अपनी हठधर्मी ही दिखावें और न इन्हें ही काव्य की चेतना मानकर कविता-कामिनी का गला घोट दें।

सूर-काव्य में अलंकारों का एक अक्षय भण्डार है और कहीं-कहीं एक-दो स्थानों पर इनकी भरती करने का प्रयास भी दृष्टिगत होता है किन्तु ऐसे स्थान अपवाद मात्र ही कहे जा सकते हैं। जहाँ कहीं उन्होंने ऐसा किया है वहाँ किसी विशेष रचना करने के कारण जैसे दृष्टिकूट के पद। किन्तु अधिकांश में तो उनकी भावनाओं का ही सागर उमड़ता देखा जाता है। वास्तव में तो बात यह है जब अनुभूतियाँ तीव्र होती हैं तो इन इधर-उधर की बातों के लिए कवि के पास न तो समय रहता है और न स्थान। कवि-समुदाय बुरा न माने तो मैं यह कहता हूँ कि अलंकारों आदि पर तो वे ही अधिक ध्यान देते हैं जिनके पास भावनाओं का अभाव रहता है।

सूरकृत भ्रमरगीत एक व्यंग्य प्रधान काव्य होने के कारण यद्यपि तुलनात्मक रूप में कुछ अधिक अलंकारों से सुसज्जित है किन्तु यह निश्चय रूप से कहा जा सकता है कि इस काव्य में प्रयुक्त अलंकार सुन्दर एवं स्वाभाविक ढंग में ही हैं। वे भावों का उत्कर्ष दिखाते हैं तथा वस्तुओं का रूप, गुण और क्रिया का तीव्र अनुभव कराते हैं। यही अलंकारों के प्रयोग करने का प्रयोजन होता है। सूर-काव्य में अलंकार प्रचुर मात्रा में पाये जाते हैं किन्तु क्या कोई कह सकता है कि वे *बरबस लाये हुए से* प्रतीत होते हैं। क्या कोई कह सकता है कि उनसे काव्य का सौन्दर्य कहीं कम हुआ है ? उनसे काव्य की शोभा बढ़ी ही है। घटी कहीं नहीं है।

अन्योक्ति को भी कुछ विद्वान अलंकार मानते हैं। हमने यद्यपि इसे शैली के अन्तर्गत ही ले लिया है किन्तु यदि इस विषय में यहाँ भी कुछ कहना चाहें तो स्पष्टतः कहा जा सकता है कि यही वह अलंकार है जो सूरकृत 'भ्रमरगीत' में सबसे अधिक

प्रयुक्त हुआ है। इस काव्य मे प्रयुक्त शब्दालंकारो तथा अर्थालंकारो मे उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, दृष्टान्त, यमक, श्लेष तथा अनुप्रास ही प्रचुर मात्रा मे प्रयोग मे आये हैं। कुछ उदाहरण दृष्टव्य हैं—

सांगरूपक—

कानन-देह बिरह-दव लागी, इन्द्रिय जीव जरी।
बूझे स्याम-घन कमल-प्रेम मुख, मुरली-बूंद परी॥

उपमा—

जोग हमे ऐसो लागति ज्यों तोहि चंपक फूल।

अनुप्रास—

बरु ये बदराऊ बरसन आए!

उत्प्रेक्षा—

कहियो नंद कठोर भए।
हम दोऊ बीरैं डारि पर-घरैं मानो थाती सौंपि गए॥

यमक—

निरखत अंक स्याम सुन्दर के बार-बार लावति छाती।
लोचन जल कागद मसि मिलि कै ह्वै गई 'स्याम-स्याम' की पाती॥

श्लेष—

तेहि निर्गुन, गुनहीन गुनैबो, सुनि सुन्दरि अनखात।

दृष्टान्त—

ऊधो मन माने की बात।
दाखि-छुहारा छाँडि अमृत फल विष कीरा विष खात॥

स्पष्ट है कि सूरकृत भ्रमरगीत का कलापक्ष भी अत्यन्त उत्कृष्ट है। निःसंदेह कहा जा सकता है कि सूर महाकवि थे और उनके भ्रमरगीत मे काव्य के दोनो पक्ष भावपक्ष तथा कलापक्ष चरमोत्कर्ष पर पहुँचे हुए हैं।

रस-योजना

इसमे कोई सन्देह नही कि भावो की कोई सीमा निर्धारित नही की जा सकती किन्तु तो भी बहुत समय से काव्य के प्रत्येक पक्ष का आलोडन विलोडन हुआ है और विद्वानो ने भावो की कुछ निश्चित संख्या ज्ञात करने का प्रयास किया है। अलंकार शास्त्रियो ने कुल नौ भाव माने है जिनसे प्राप्त होने वाले अलग अलग प्रकार के आनन्द को नवरस की संज्ञा दी है। ये नौ भाव स्थायीभाव कहलाते हैं। स्थायी कहलाने का इनका एक मात्र कारण यह है कि ये भाव विशेष पर्याप्त समय तक प्रवाहित होते रहते हैं। इन भावो के अतिरिक्त कुछ अन्य स्पष्ट मानसिक दशाएँ आती जाती रहती हैं जो संचारीभाव के नाम से प्रसिद्ध हैं। संचरणशील इन मानसिक स्थितियो का चित्रण स्थायीभाव के संदर्भ मे ही किया जाता है। दूसरे शब्दो मे इन्हे स्थायीभाव का सहायक कहा जा सकता है।

नवरसों, समस्त स्थायीभावो तथा सचारीभावों आदि की गिनती न गिन कर यहाँ इस प्रसंग मे इतना कहना ही पर्याप्त है कि इन नवरसों मे शृगार रस सर्व प्रमुख रस माना जाता है। इसका स्थायीभाव रति है। शृगार के दो पक्ष होते हैं—सयोग और वियोग। 'भ्रमरगीत' मे जिसकी रस-योजना पर हम यहाँ विचार करने वाले हैं, वियोग शृगार तथा अप्रत्यक्ष रूप से शात रस की ही प्रधानता है। 'भ्रमरगीत' का विरह 'प्रवास' के अन्तर्गत आता है। कृष्ण का कार्यवश बाहर चला जाना गोपियों की विरहोत्पत्ति का कारण बन जाता है तथा पुन: लौटकर न आना 'प्रवास' करुणात्मक विरह की सीमा तक ले जाता है। किन्तु यहाँ करुण के साथ मिलन की असम्भव आशा भी है और उसके साथ रति का भाव भी। अतः भ्रमरगीत को करुणात्मक वियोग शृगार का काव्य कहना ही अधिक उपयुक्त जान पडता है।

कुछ भी हो यह निश्चित-सा ही है कि 'भ्रमरगीत' मुख्य रूप से विप्रलम्भ शृगार से ही सम्बन्ध रखने वाला काव्य है। करुणा, भक्ति और प्रेम भी विप्रलम्भ के ही अन्तर्गत लिये जा सकते हैं। कारण, भक्ति और प्रेम शृगार के ही अग माने जाते हैं। कृष्ण और गोपियाँ आलम्बन के रूप मे उद्धव के द्वारा लाई गई प्रेम-पत्रिका तथा उनका योग-सन्देश उद्दीपन के रूप मे लिये जा सकते हैं।

आओ, अब हम 'भ्रमरगीत' के मुख्य रस विप्रलम्भ शृगार पर पूर्णरूप से विचार कर लें। आचार्य प० रामचन्द्र शुक्ल ने 'भ्रमरगीतसार' की भूमिका मे इस विषय मे लिखा है कि "वियोग की जितनी अन्तर्दशायें हो सकती हैं, जितने ढगों से उन दशाओं का साहित्य मे वर्णन हुआ है और सामान्यत हो सकता है वे सब उसके भीतर मौजूद है।" प० शुक्ल का यह कथन सर्वांश मे सही है। वियोगावस्था मे दस दशायें मानी जाती हैं—अभिलाषा, चिन्ता, स्मरण, गुणकथन, उद्वेग, प्रलाप, जडता, व्याधि, मूर्च्छा तथा मरण। इन दसो दशाओं का वर्णन सूरकृत 'भ्रमरगीत' मे प्राप्त हो जाता है। प्रत्येक का उदाहरण दृष्टव्य है—

(१) अभिलाषा—

ऐसे समय जो हरिजू आवहि।
निरखि निरखि वह रूप मनोहर बहुत सुख पावहि॥

(२) चिन्ता—

हमको सपनेहु में सोच।

(३) स्मरण—

मेरे मन इतनी सूल रही।
वे बतियाँ छतियाँ लिखि राखीं जे नदलाल कही॥

(४) गुणकथन—

एहि बोरियाँ बन ते ब्रज आवते।
दूरहि ते घर बेनु अधर धरि बारम्बार बजावते॥

(५) उद्वेग—

तिहारी प्रीति किधों तरवारि।
दृष्टि धार करि मारि साँवरे, घायल सब ब्रज नारि।

(६) प्रलाप—

सखि मिलि करो कछुक उपाउ।
मार मारन चढ्यौ बिरहिन निदरि पायौ दाउ॥

(७) जड़ता—

परम वियोगिनी सब ठाढ़ी।
ज्यों जल हीन दीन कुमुदनि बन रवि प्रकाश की डाढ़ी॥
जिहि विधि मीन सलिल ते बिछुरें तिहि प्रति गति अकुलानी।
सूखे अधर न कहि कछु आवे वचन रहित मुख बानी॥

(८) व्याधि—

बिनु गोपाल बैरिन भई कुंजें।
तब ये लता लगति अति सीतल अब भई विषम ज्वाल की पुंजें॥

(९) मूर्च्छा—

सोचति अति पछताति राधिका मूर्च्छित धरनि ढही।
सूरदास प्रभु के बिछुरे ते बिथा न जाति सही॥

(१०) मरण—(मरणासन्न दशा)—

हरि सदेस सुनि सहज मृतक भई, इक बिरहिन दूजे अलि जारी॥

इन दशाओं के अतिरिक्त काव्यशास्त्र में प्रवास विरह की दस स्थितियों का भी वर्णन प्राप्त होता है। वे सब भी इस 'भ्रमरगीत' में प्राप्त हैं—

(१) असौष्ठव तथा मलिनता—

अति मलीन वृषभानु कुमारी।
हरि स्रमजल अंतर तनु भीजे ता लालच न धुआवति सारी॥

(२) सन्ताप—

ऊधो। यहै विचार गहौ।
कै तन गए भलो मानै, कै हरि ब्रज आय रहौ।
कानन देह विरह-दव लागी इन्द्रिय जीव जरौ।
बूझै स्याम घन कमल प्रेम मुख मुरली बूंद परौ॥

(३) कृशता—

ऊधो इतनी कहियो जाय।
अति कृसगात भई हैं तुम बिन बहुत दुखारी गाय॥

(४) पाण्डुता—

ऊधो! जो हरि [illegible] र।
जा तुम कहियो [illegible] कै जे दुख सबै हर

तन तरुवर ज्यों जरति विरहिनी तुम दव ज्यों हम जारे।
नहिं सिरात, नहिं जरत छार ह्वै सुलगि सुलगि भए कारे॥

(५) अरुचि—
बिन गोपाल बैरिन भई कुंजै।

(६) अधृति—
दूर करहु बीना कर धरिबो।
मोहे मृग नाहीं रथ हाँक्यो, नाहिन होत चंद को ढरिबो॥
बीती जाहि पै सोई जानै, कठिन है प्रेम पास को परिबो।
जबतें बिछुरे कमल नयन, सखि, रहत न नयन-नीर को गरिबो॥

(७) विवशता—
लरिकाई को प्रेम, कहो अलि, कैसे करि कै छूटत?

(८) तन्मयता—
नयनन नन्दनन्दन ध्यान।

(९) उन्माद—
निरमोहिया सों प्रीति कीन्हीं काहे न दुख होय?
कपट करिकरि प्रीति कपटी लै गयो मन गोय॥

(१०) मूर्छा तथा मरण—
'हरि संदेस सुनि सहज मृतक भई इक बिरहिन दूजे अलिजारी॥'

उपर्युक्त दशाओं एवं स्थितियों के उदाहरण इस बात के स्पष्ट साक्षी हैं कि सूरदास जी ने विप्रलम्भ शृंगार का पूर्ण एवं स्वाभाविक चित्रण प्रस्तुत किया है।

स्थायीभाव के अतिरिक्त अन्य मानसिक स्थितियों के चित्रण के साथ-साथ पूर्ण एवं सम्यक् चित्रण के लिए यह भी आवश्यक है कि भाव तीव्रता की रक्षा का पूर्ण प्रयत्न किया जाय। सूरकृत 'भ्रमरगीत' में यह विशेषता भी विद्यमान है। जिस प्रकार राकापति को देखकर सागर उछाल भरता है। उसी प्रकार सूर के विप्रलम्भ शृंगार वर्णन के अन्तर्गत नाना भावों के घात-प्रतिघात अपनी पूर्ण तीव्रता के साथ व्यक्त हैं। वस्तुतः भावों की विविधता तथा तीव्रता इन दोनों ही तत्वों की रक्षा सूर ने बहुत अधिक की है। सारे मध्यकालीन साहित्य में जायसी, मीरा तथा सूर का विरह-वर्णन ही महान हो सका है। किन्तु जायसी में भी भाव वैविध्य का अभाव है और भाव-तीव्रता की अतिशयोक्ति पद्धति होने के कारण अस्वाभाविकता आ गई है। किन्तु, हाँ तीव्रता की दृष्टि से मीरा का स्थान बहुत ऊँचा है। वहाँ तो कह सकते हैं कि कहीं-कहीं तो वे सूर से भी आगे हैं। किन्तु सूर ने जो व्यंग्य एवं विनोद के आवरण में छिपाकर गोपियों की 'कसक' का प्रकटीकरण किया है वह जायसी तथा मीरा दोनों में अप्राप्य है। सूर की गोपियाँ जब उपेक्षा, विदग्धपान तथा अप्रत्याशित एवं अन्तहीन वियोग से उत्पन्न सारे विष को पीकर मुस्कराती हैं तो संसार का सारा ज्ञान विज्ञान भी उनकी इस मुस्कराहट पर न्योछावर हो जाता है। क्या कोई दिखा सकता है सूर जैसा यह आँसू और मुस्कराहट का एक साथ प्रयोग?

वास्तव में सूर विप्रलम्भ शृंगार के क्षेत्र में अपनी तुलना नहीं रखते। उनका विरह वर्णन अन्तहीन सागर की उदात्तता की भाँति आनन्ददायक है। वस्तुत. विस्तार भी अपने में आकर्षक होता है क्योंकि वह हमारी दृष्टि की लघुता पर विजय पाकर हमारी क्षति पूर्ति कर देता है। किन्तु विस्तार और सुन्दरता दोनों एक भील में होते हैं। किन्तु भील और महासागर में तो पृथ्वी-आसमान का अन्तर है। यही अन्तर अन्य विस्तारवादी कवियों और सूर के विरह वर्णन में है। सूरकृत भ्रमरगीत की सी गहराई तथा विस्तार अन्यत्र अप्राप्य है।

इस प्रकार हमने देखा कि सूरकृत भ्रमरगीत मुख्यतः विप्रलम्भ शृंगार से ही सम्बन्धित काव्य है और इस रस का पूर्ण एवं सम्यक् चित्रण इसमें प्राप्त होता है किन्तु सागर में जिस प्रकार एकरूपता नहीं रहती उसी प्रकार सूर के विरह-वर्णन में एक ही रतिभाव का वर्णन होते हुए भी कोटिशः भावलहरियों की टकराहट सुनने को मिलती है।

गेयात्मकता

प्रारम्भ से ही संगीत काव्य का एक आवश्यक उपादान माना जाता रहा है। वस्तुतः संगीत और काव्य का बहुत ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। जिस प्रकार साहित्य और अभिनय के सम्मिलन से नाटक की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार साहित्य और संगीत के मिश्रण से कविता का जन्म होता है। संगीत की सुदृढ नींव पर ही भावनाओं का विशाल कलात्मक भवन खड़ा किया जा सकता है। यदि हम हृदयगत भावनाओं को काव्य की आत्मा मानें। भाषा को उसका शरीर कहें, कलात्मकता को उसके वस्त्राभूषण की संज्ञा दें तो निश्चित है कि संगीत को उसके नेत्र मानना चाहिये। अत संगीत से रहित किसी रचना को काव्य कहना अनुपयुक्त है। यदि इस प्रकार की रचना को कोई काव्य की ही संज्ञा देना चाहे तो हमारा निवेदन है कि वह इससे पूर्व 'नेत्रविहीन' विशेषण और जोड़ दे अर्थात 'नेत्रविहीन कविता' ही कहे।

सूरकृत 'भ्रमरगीत' में संगीत तत्व की विवेचना से पूर्व यदि हम उन प्रमुख तत्वों को जान लें जो किसी भी काव्य में गेयात्मकता के सफल आयोजन के लिए आवश्यक है, तो उचित ही रहेगा। ये तत्व निम्नलिखित हैं—

१. मधुर और हृदयग्राही भाव।
२. आकर्षक एवं सरल अभिव्यंजना।
३. संक्षिप्तता किन्तु पूर्णता।
४. कोमल शब्दावली।
५. गेयत्व।

इन्हीं तत्वों के आधार पर अब हम सूरकृत भ्रमरगीत की गेयात्मकता पर प्रकाश डालेंगे।

प्रस्तुत भ्रमरगीत जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है गीति-शैली में ही लिखा हुआ एक काव्य है। सूरदास जी की जीवनी से भी यह स्पष्टतः विदित हो जाता है

कि वे न केवल सहृदय और भावुक कवि ही थे अपितु संगीत-शास्त्र के भी वे अच्छे ज्ञाता थे। इतना ही नहीं वे स्वयं बहुत अच्छा गाते थे। भ्रमरगीत ही क्या, उनका समस्त सूरसागर गेयात्मक है। महात्मा सूरदास की इस दृष्टि से जो अद्वितीय विशेषता रही है वह यह है कि वे पहले विषय वस्तु की आत्मा में प्रवेश करते हैं और तब स्वर-संयोजन का कार्य करते हैं। इन दोनों ही क्षेत्रों पर सूर का व्यापक अधिकार दिखाई देता है। वस्तुतः उनके व्यक्तित्व और कृतित्व दोनों में उनके इस विषय के अधिकार का कुछ ऐसा समन्वय हो गया था कि उनके मुख से निकलने वाला प्रत्येक अनुभूतिपूर्ण शब्द नाद-सौन्दर्य से समन्वित होता था और साथ ही उनके प्रत्येक स्वर में उनकी आन्तरिक गहनतम भावनाएँ ही प्रकट हो उठती थीं। उनके संगीत में प्रवीण होने के कुछ अन्य कारण भी बने। सर्वप्रथम और सर्वप्रमुख तो यही कि उन्हें श्री आचार्य जी ने जो कार्य श्रीनाथ के मन्दिर का सौंपा था वह कीर्तन का कार्य था। उसमें उन्हें नित्य गेय पदों की आवश्यकता रहती थी। वे झूम-झूमकर मन्दिर में गीत ही गाया करते थे। दूसरा कारण यह था कि वे सच्चे भक्त थे। भक्त के लिए तन्मयता की स्थिति प्राप्त करना अत्यन्त आवश्यक है और तन्मयता प्राप्त करने के लिए संगीत से अधिक मधुर एवं उपयुक्त साधन और कोई हो नहीं सकता। संगीत गायक को भी तन्मय कर देता है तथा सुनने वालों को भी। आज का काल गीति-काव्य का काल है। आज हिन्दी में गीतिकारों की वर्षा हो रही है। किन्तु आज के इन गीतिकारों में कितने ऐसे हैं जो गीतों की स्वर-रचना उसकी आत्मा की परख के पश्चात् करते हैं। कह तो कह सकते हैं कि इनमें से अधिकांश केवल अपने गले तथा किसी सुन्दर सी प्रतीत होने वाली धुन के आधार पर ही संगीत तत्त्व की सृष्टि करने में ही अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ लेते हैं। वस्तुतः सूर जैसा काव्य और संगीत का समन्वय अन्यत्र नहीं दिखाई देता।

आओ, अब उपर्युक्त तत्त्वों की दृष्टि से भी परख कर लें। प्रस्तुत भ्रमरगीत विप्रलम्भ शृंगार का काव्य है। वेदना और वियोग ही इस काव्य का विषय है। जब हम मधुर और हृदयग्राही भावों की दृष्टि से इस पर विचार करते हैं तो हमें एक अंग्रेज कवि की 'Our sweetest songs are those which tell our saddest thoughts' नामक सर्व प्रसिद्ध उक्ति बरबस स्मरण हो आती है। अंग्रेज कवि की ही क्यों, आधुनिक काल के हिन्दी के प्रसिद्ध कवि पन्त जी की निम्न पंक्तियाँ भी साथ ही हमारी स्मृति में प्रवेश कर जाती हैं—

> 'वियोगी होगा पहला कवि,
> आह से उपजा होगा गान।
> निकलकर आँखों से चुपचाप,
> बही होगी कविता अनजान।।'

इन पंक्तियों के उद्धृत करने के पश्चात् क्या आवश्यकता रह जाती है यह कहने की कि सूर के इस भ्रमरगीत में मधुर और हृदयग्राही भाव हैं। विरह और आँसुओं

का चोली दामन का साथ है और जहाँ आँसू हों वहाँ मधुर और हृदयग्राही भाव न होंगे तो और क्या होगा ? यदि आँसुओं का भी प्रभाव न पड़ा तो फिर और क्या हँसने का पड़ेगा ?, फलतः भ्रमरगीत के भावों में जितनी मधुरता है, उतनी ही स्वाभाविकता एवं संवेदनशीलता भी है और वह बिना किसी बाहरी आधार के हृदय पर अपना पूर्ण अधिकार जमा लेने में पूर्णतः समर्थ है।

किन्तु क्या भावों की मधुरता तथा हृदयग्राहिता ही किसी काव्य की सफलता के लिए पर्याप्त है ? नहीं, यह बात नहीं है। जब तक इन भावों की इन्हीं के अनुरूप आकर्षक अभिव्यंजना न होगी तब तक इनका प्रभाव पूर्णता के साथ नहीं पड़ सकता सूर कृत इस काव्य में जहाँ मधुर और हृदयग्राही भाव है वहाँ इन्हीं के अनुरूप आकर्षक अभिव्यंजना भी है। कुछ अधिक उदाहरण न देखकर लीजिए आप निम्न पंक्तियों को ही देख लीजिए, आप कितने प्रभावित होते हैं—

"निरखति अंक स्याम सुन्दर के बार-बार लावति छाती।
लोचन जल कागद मसि मिलिकै ह्वै गई स्याम-स्याम की पाती॥"

यहाँ एक बात को कुछ और अधिक स्पष्ट कर देना चाहते हैं। मान लीजिये किसी काव्य में मधुर एवं हृदयग्राही भाव हैं और साथ ही आकर्षक अभिव्यंजना-शैली भी किन्तु यदि सरलता नहीं है, गूढ़ता है तो संगीत के प्रवाह में बाधा पड़ जायगी। श्रोता अथवा पाठक जब उसे समझेगा ही नहीं तो पूर्णतः रस विभोर कैसे हो सकता है ? अभिव्यक्ति की यह सरलता 'भ्रमरगीत' में सर्वत्र लक्षित है। एकाध स्थान पर यदि कहीं दुरूहता मिल भी जाती है तो उसे चमत्कार प्रदर्शन ही समझना चाहिए। अर्थ की गूढ़ता इन स्थानों पर भी नहीं मिलेगी। अभिव्यक्ति की इस सरलता के भी कुछ उदाहरण देखिए—

मेरे मन इतनी सूल रही।
वे बतियाँ छतियाँ लिखि राखी जे नन्दलाल कही॥

× × × ×

निसि दिन बरसत नैन हमारे।
सदा रहति पावस ऋतु हमपै जबते स्याम सिधारे॥

मधुर एवं हृदयग्राही भाव तथा आकर्षक एवं सरल अभिव्यंजना के अतिरिक्त संक्षिप्तता भी गीति-काव्य की सफलता के लिए आवश्यक है। संक्षिप्तता से हमारा तात्पर्य यह है कि रचना में व्यर्थ का विस्तार न हो। जहाँ एक ओर एक ही पंक्ति को घण्टों घुमाने वाले गले बाजों का संगीत मन को उबा देता है वहाँ दूसरी ओर लम्बे-चौड़े वर्णनों वाला आख्यान भी संगीत की स्वाभाविकता तथा आकर्षण को नष्ट कर देता है। अतः गीति काव्य में संक्षिप्तता होनी ही चाहिए। किन्तु साथ ही उसमें पूर्णता का भी अभाव नहीं होना चाहिए। संक्षिप्तता के चक्कर में यदि पूर्णता का अभाव हो गया तो भी बात बिगड़ जाती है। वास्तव में इस प्रकार की रचना को, इतना सधा हुआ बनाना पड़ता है कि न तो विस्तार हो न और पूर्णता में कमी।

'भ्रमरगीत' में हमें यह गुण स्पष्टत दिखाई देता है। इसके लगभग सभी पद सक्षिप्त तथा पूर्णता दोनों गुणों से सम्पन्न हैं।

वैसे तो कठोर शब्दों में कडकते हुए जोशीले सगीत की भी उत्पत्ति हो ही सकती है किन्तु मुख्य रूप से सगीत माधुर्य का ही प्रतीक है। माधुर्य आखिर माधुर्य ही है और कठोरता कठोरता ही। सगीत और माधुर्य का जो निकट का सम्बन्ध है वह सगीत और कठोरता का नही। मधुर एव कोमल शब्दो से अपने आप सगीत टपकने लगता है। प्रस्तुत काव्य मे सर्वत्र कोमल कान्त पदावली ही देखने को मिलती है। एक तो व्रज भाषा स्वय प्रकृत रूप मे कोमल एव मधुर है। दूसरे साथ मे फिर सगीतमय ध्वनि तो फिर कोमलता और मधुरता का अभाव कैसा ? व्यग्य और उपालम्भ आदि के कटु कथनो मे जहाँ कठोर शब्दावली का आना कुछ स्वाभाविक न कहलाता, वहाँ भी कठोर शब्दावली नही मिलती। इतना ही नही नीरस विषय का कथन करने वाले उद्धव के वचनो में भी कोमलकान्त पदावली के ही दर्शन होते हैं—

'सुनि गोपी हरि को सदेस।
करि समाधि अतरगत चितवो प्रभु को यह उपदेस ॥'

अब रही बात गेयत्व की। गेय का शाब्दिक अर्थ है, गाये जा सकने योग्य। सगीत का यह एक सर्वप्रमुख तत्व है। इसके लिए रचना मे शब्दो की व्यवस्था कुछ इस प्रकार होनी चाहिए कि जिसमे नाद-सौन्दर्य उत्पन्न हो जाय। मात्राओं तथा विराम स्थलों का एक निश्चित क्रम होना चाहिए। इसके साथ ही तुक की उपस्थिति भी बहुत अनिवार्य है। यदि ये बातें नहीं होंगी तो गायक एक निश्चित धुन मे गीत को नही गा सकेगा। सूर कृत भ्रमरगीत के पदों मे ये सब बातें सहज रूप मे प्राप्त हैं। किन्तु इस काव्य के पदो के विषय मे इस दृष्टि से एक बात अवश्य उल्लेखनीय है। वह बात यह है कि इन पदों के गेयत्व का आधार मात्रा का काल्पनिक आनन्द है किन्तु यह सभी जानते हैं कि प्रकृति का उसका आदि सम्बन्ध भावना का था, आजकल की भाँति बुद्धि का नहीं।

भारतीय काव्य-परम्परा में प्रकृति का स्थान सदैव से ही महत्वपूर्ण रहा है। हमारे यहाँ शास्त्रों मे प्रकृति का निरूपण काव्य के लिए एक आवश्यक अग माना गया है। चाहे कोई काव्यकार नाम परिगणना ही कर दे किन्तु उसका प्रवेश होना आवश्यक ही है। इस प्रकार यह आग्रह चाहे कुछ व्यक्तियों को अनिवादी प्रतीत होता हो किन्तु यह नितान्त सत्य है कि काव्य मे इसके प्रवेश से सुन्दरता की वृद्धि अवश्य होती है।

सूर कृत इस 'भ्रमरगीत' मे हमे प्रकृति का समावेश नितान्त स्वाभाविक दिखाई देता है। इसके सारे पात्रों का पालन-पोषण ही प्रकृति की सुखद गोद में नहीं हुआ अपितु उनकी भावनाओं तथा उनके पारस्परिक सम्बन्धो का विकास भी इसी की छाया में हुआ है। कृष्ण और गोपियाँ जो इस काव्य के सर्वप्रमुख पात्र कहे जा सकते है, उनके स्नेह-सम्बन्धों की आधार भूमि यही प्रकृति ही रही है। वस्तुत भ्रमरगीत

की पृष्ठभूमि मे जिन-जिन तत्त्वों ने महत्वपूर्ण भाग लिया है तो उनमे प्रकृति का ही स्थान सर्वप्रमुख है। यह काव्य जिस भावना को लेकर रचा गया है उसका आधार ही प्रकृति है। कृष्ण की अतीत स्मृति, उद्धव का ब्रज प्रवेश, गोपियों का रुदन, उनकी आशा और उनके उपालम्भ आदि सभी क्रिया व्यापार प्रकृति के माध्यम से ही स्पष्ट हुए हैं। वस्तुत यह कहा जाय कि इस काव्य के व्यग्य आदि से युक्त उपहासात्मक शैली म भावनाओ की जो सुकुमारता आई है तथा उनकी अभिव्यक्ति भी जो इतनी रम्य हो सकी है वह इसी प्राकृतिक पृष्ठभूमि के कारण तो कोई अत्युक्ति न होगी। बौद्धिक कृत्रिमता के स्थान पर जहाँ प्राकृतिक सत्यो एव हृदय की सहज दशाओ को ही अधिक श्रेयस्कर माना गया हो वहाँ की आधारभूत पृष्ठभूमि प्रकृति के अतिरिक्त और हो भी क्या सकती है? शास्त्रीय राग रागिनियाँ है, सहज निकलने वाली धुन नहीं। इस काव्य में पदों के ऊपर रागो के नाम लिखे हुए है जो स्पष्ट रूप मे उनके निर्माण का आधार प्रदर्शित करते है। अत. सूर के पदो के गेयत्व को स्पष्ट रूप मे कोई शास्त्रीय सगीतज्ञ ही देख सकता है। उनमे गेयत्व का आभास सहज रूप स स्पष्ट बोलता नही दिखाई देता। ये लोकगीत अथवा आजकल के नये कवियों के गीतो के समान अपनी धुन अपने-आप प्रदर्शित नही करते। किन्तु एक बात अवश्य है। सूर के पद जब अपने पूर्ण सगीतमय रूप मे गाये जाते हैं तो कौन ऐसा व्यक्ति है जिसका हृदय आप-से-आप न थिरक उठे?

इस प्रकार स्पष्ट है कि सूर कृत भ्रमरगीत मे सम्पूर्ण गीति तत्त्व अपने पूर्ण रूप मे विद्यमान है। गेयात्मकता की दृष्टि से भी यह काव्य अद्वितीय ही कहा जायगा।

प्रकृति-चित्रण

सच्ची कविता की यदि कोई सर्वाधिक उपयुक्त परिभाषा हो सकती है तो वह यह कि वह मानव की आदि नैसर्गिकता की अभिव्यक्ति है। इस परिभाषा से यह बात स्पष्टत. झलकती है कि मानव और प्रकृति का सम्बन्ध बहुत घनिष्ठ है। आज जबकि विज्ञान की दृष्टि को चकाचौंध करने वाली उन्नति हो रही है तो चाहे मानव का प्रकृति के विषय मे सोचने का व्यवहारिक दृष्टिकोण ही बदल गया है, आज चाहे उसे वह सहचरी के स्थान पर दासी मानने लगा है, आज चाहे 'प्रकृति उसे क्या-क्या आनन्द दे सकती है' के स्थान पर वह यह सोचने लगा है कि वह स्वय प्रकृति से क्या-क्या आनन्द ले सकता है किन्तु तो भी इस ऐतिहासिक तथ्य से, कोई भी असहमत नहीं हो सकता कि वह प्रारम्भ मे प्रकृति की गोद मे ही पला है। अब चाहे वह चन्द्रलोक की सुखद सैर की कल्पना के आनन्द मे मग्न है और चाहे आगे चल कर सूर्यलोक की काव्य म प्रकृति को ग्रहण करने के दो स्वरूप ही सर्वप्रमुख माने जाते है— आलम्बन रूप तथा उद्दीपन रूप। आश्रय के अन्तर मे जो भाव उठते है प्रकृति या तो उनके मूल कारण रूप म आलम्बन विभाव बन कर स्थित होगी अथवा वह उन भावों को उद्दीप्त करने वाली बनगी और तब यह उद्दीपन विभाव के रूप मे समझी जायगी। हिंदी साहित्य मे अधिकाश म उद्दीपन रूप मे ही प्रकृति का चित्रण होता

आया है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि रूप कुछ कम शास्त्रीय है। अपने शास्त्रीय रूप मे यह भी एक बहुत पुराना रूप है, किन्तु हिंदी साहित्य मे आधुनिक काल से पूर्व इसकी महत्ता पूर्ण रूप से स्थापित नहीं हुई थी। उद्दीपन रूप मे प्रकृति मानसिक भावो के अनुरूप चित्रित की जाती है। दुःख के समय यदि वह कभी दुःख को अधिक बढा देती है और कभी सहानुभूति सी प्रगट करती प्रतीत है तो सुख के समय वह सुख मे वृद्धि करती है। 'भ्रमरगीत' मे हमे इसका यही रूप देखने को मिलता है।

'भ्रमरगीत' का वातावरण दुःखपूर्ण है ब्रज का प्रत्येक प्राणी कृष्ण के वियोग मे व्यथित है। ब्रज ही क्यो कृष्ण भी ब्रज के वियोग मे छटपटाते रहते हैं। प्रकृति सदैव ही उनके भावो को उद्दीप्त करती रहती है। देखिये उनकी वेदना को प्रकृति ने कितना अधिक व्यापक बना दिया है—

ऊधो मोहि ब्रज बिसरत नाहीं।
हस सुता की सुन्दर नगरी अरु कुजन की छाहीं।
वे सुरभी वे बच्छ दोहनी खरिक दुहावन जाहीं।
ग्वाल बाल सब करत कोलाहल, नाचत गहि गहि बाहीं॥
यह मथुरा कचन की नगरी मनि मुकुताहल जाहीं।
जबहि सुरत आवतें वा सुख की जिय उमगत तनु नाहीं॥

कृष्ण तो जब भी ब्रज की प्राकृतिक भूमि से दूर पहुँचे गये थे बेचारी गोपियाँ तो चौबीस घण्टे इसी के मध्य रहती थी। उनके हृदय की कथित भावनाओं को प्रकृति कितनी उद्दीप्त करती होगी। इसकी तो कल्पना भी हृदय को कपा देती है। देखिये ब्रज के कुज तथा अन्य वस्तुएँ इन बेचारियो के पीछे कैसे हाथ धोकर पड गई है।

बिन गोपाल बैरिन भई कुंजें।
तब ये लता लगति अति सीतल अब भई विषम ज्वाल की पुंजें॥
वृथा बहति जमुना खग बोलत वृथा कमल फूलें अलि गुंजें।
पवन पानि घनसार सजीवनि दधि सुत किरन भानु भई भुंजें॥

रात्रि के समय चन्द्रमा जो दुनिया को शीतलता प्रदान करता है गोपियों का तो वह भी प्राणों का ग्राहक बन जाता है। उससे प्राण दान के लिए देखिये वे कितनी व्याकुल होकर सहायता के लिए पुकार रही हैं—

'कोउ, माई ? बरजै या चन्दहि।
करता है कोप बहुत हम ऊपर कुमुदिनी करत अनदहि॥
कहाँ कुहू, कहे रवि अरु तमचुर, कहाँ बलाहक कारे।
चलत न चपल, रहत रथ थकि करि बिरहिन के तन जारे॥
निदित सैल उदधि पन्नग को सापति कमठ कठोरहि।
देति असीस जरा देवी को राहु केतु किन जोरहि॥

ये तो रही बड़ी बड़ी वस्तुएँ हैं, शायद छोटी छोटी वस्तुएँ इन

रियों को परेशान न करती हो, चुप ही रहती हो किन्तु नहीं—

"हमारे भाई। मोरउ बैर परे।
घन गरजे बरजे नहीं मानत त्यों त्यों रटत खरे ॥
करि एक ठौर बीनि इनके पख मोहन सीस धरे।
याही तें हमही को मारत, हरि ही ढीठ करे ॥
कह जानिए कौन गुन सखि री हमसों रहत अरे।
सूरदास परदेस बसत हरि ये बनते न टरे ॥"

दुःखी व्यक्ति को प्रकृति दुखी और सुखी को सुखी ही दिखाई दिया करत है। यह भी एक सर्वमान्य तथ्य है। इस दृष्टि से 'कालिन्दी' का एक उदाहरण देखिये—

'लखियत कालिन्दी अति कारी।
कहियो पथिक जाय हरि सों ज्यो भई बिरह जुर जारी ॥
मनो पलिका पे परी धरनि धँसि तरंग तलफ तनु भारी।
तरवार उपचार चूरमनो स्वेद प्रवाह पनारी ॥
बिगलित कच कुस कास पुलिन मनो पंजु कज्जल सारी।
भ्रमर मनो मति भ्रमत चहुँ दिसि, फिरति है अग दुखारी ॥
निसिदिन चकई ब्याज बकत मुख, किन मानहुँ अनुहारी।
सूरदास प्रभु जो जमुना गति, सो गति भई 'हमारी ॥'

किन्तु कहीं-कहीं तो प्रकृति बिल्कुल तटस्थ दृष्टि रखे हुए दिखाई देती है। गोपियों के दुख का उस पर कोई भी प्रभाव नही पड़ता। वह आज भी पहले के समान ही हरी-भरी बनी हुई है। गोपियों को इस पर आश्चर्यमिश्रित क्रोध होता है और वे कोसने लगती हैं—

'मधुबन तुम कत रहत हरे ?
बिरह बियोग स्याम सुन्दर के ठाढ़े क्यों न जरे ?
तुम हो निलज, लाज नहीं तुमको, फिर सिर पुहुप धरे।

किन्तु चाहे वह किसी भी रूप मे दिखाई पड़े उसकी सजीवता कभी नष्ट होती नही दिखाई देती। वह सदैव ही मानव के समान चेतनाशील और सान्नदयुक्त बनी रहती है। उससे मानव के क्रियाकलाप बहुत अधिक प्रभावित होते हैं।

इन उपर्युक्त प्रकारो के अतिरिक्त सूरकृत भ्रमरगीत मे प्रकृति का उपयोग दो अन्य रूपो मे भी हुआ है—दूत रूप और अलकार रूप। प्राकृतिक उपादानो को दूत रूप से ग्रहण करके उनके द्वार प्रिय को सन्देश भिजवाने की परम्परा भारतीय साहित्य के लिए एक पुरानी परम्परा है। पुरानी कहावत है कि हृदय का दुःख प्रकट करने से दुख हल्का हो जाता है। वास्तव मे इससे कुछ शान्ति अवश्य मिलती है। 'मेघदूत' मे कालीदास द्वारा मेघ की कल्पना एक इसी प्रकार की कल्पना है। सूर कृत भ्रमर गीत मे सारे प्रसंग का आधार ही संदेश-कथन है कृष्ण ने यद्यपि उद्धव को जो एक

मानव-प्राणी है सदेश लेकर भेजा है किन्तु कुछ कारणो से गोपियों ने उत्तर देने के लिए उसे प्राकृतिक उपादान 'भ्रमर' के रूप मे ग्रहण किया है दूत प्रणाली का यह एक विलक्षण प्रकार है।

गोपियो ने कृष्ण के पास पथिको द्वारा अनगिनत संदेश भेजे थे किन्तु न तो कोई उत्तर ही आय। और न उन पथिको मे कोई लौटकर स्वय ही। ऐसी स्थिति मे उन वेचारियो के पास सहानुभूति और सान्त्वना पाने के लिए प्रकृति के अतिरिक्त अब सहारा ही कौन-सा रह गया? अत वे अपना सारा हृदय उसी के सामने उडेल देती है और विभिन्न प्राकृतिक उपादानो से प्रार्थना करती है कि वे उनका सदेश इनके प्रिय तक पहुँचा दें। एक उदाहरण देखिए—

> 'दधि सुत जात हो वहि देस?
> द्वारका है स्याम सुन्दर सकल भुवन नरेस।
> परम सीतल अमिय तनु तुम कहियो यह उपदेस।
> काज आपनो सारि, हमको छांडि रहे बिदेस॥
> नन्द नन्दन जगत वन्दन धरहु नटवर भेस।
> नाथ! कैसे अनाथ छांड्यो कहियो सूर सन्देस॥'

अलकार रूप मे प्रकृति इस काव्य मे दो रूपो मे देखने को मिलती है— अन्योक्ति रूप मे तथा उपमान रूप मे। अन्योक्ति रूप मे तो अधिक विवेचन करने तथा उदाहरण देने की कोई आवश्यकता ही नही है क्योंकि सम्पूर्ण भ्रमरगीत ही एक स्पष्ट एव मुखर अन्योक्ति है।

असीम कोष से 'उपमा अलकार के लिए अधिकांश उपमान प्रकृति के ही प्राप्त हो सकते हैं। इस भ्रमरगीत मे यह छटा सर्वत्र दर्शनीय है। कुछ उदाहरण दृष्टव्य है—

> है जो मनोहर बदन चन्द के सादर कुमुद चकोर।
> परम तृषारत सजल स्याम घन के जो चातक मोर॥
> अब मन भयो सिंधु के खग ज्यों फिरि फिरि सरत जहाजन।'

कुछ और भी अधिक सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो इस काव्य म प्रकृति के कुछ अन्य रूप जैसे उपालम्भ के माध्यम का रूप, सहचरी रूप आदि भी प्राप्त हो सकते हैं। चाहे कितने ही रूप हो इस काव्य के प्रकृति चित्रण के विषय में सामान्य रूप से यही कहा जा सकता है कि इसका आयोजन यहाँ स्वाभाविक रूप म ही हुआ है। इसकी पृष्ठभूमि पूर्ण रूप से प्राकृतिक है और प्रकृति का इसमे अत्यन्त स्वाभाविक एव सजीव चित्रण है। मुख्य रूप से उद्दीपन रूप में ही यह यहाँ वर्णित है।

चरित्र चित्रण

सूर कृत भ्रमरगीत के पात्रों के चरित्र पर अलग-अलग रूप मे दृष्टिपात करने से पूर्व यदि कुछ सामान्य तत्त्वों की ओर सकेत कर दिया जाय तो कोई अनुचित बात नहीं होगी। सर्व प्रथम हमारी दृष्टि इस तथ्य पर पडती है कि प्रबन्ध काव्यों के पात्रों

चरित्र में कार्य व्यापार और घटना वैभिन्य के द्वारा जो विकास, संघर्ष और घात-प्रतिघात दिखाया जाता है उसकी सम्भावना भ्रमरगीत के पात्रों के चरित्र में नहीं है। यही नहीं कृष्ण लीला के पात्रों का चरित्र-विकास भावानुभूति का विकास है सभी पात्र सर्वथा कृष्णमय हैं। वे कृष्ण पर ही पूर्णरूप रूप से निर्भर हैं। उनकी व्यक्ति वैविधता कृष्ण के व्यक्तित्व की भावालम्बन रूप विविधता पर ही आश्रित है।

चरित्र-चित्रण की आधुनिक शैली में दो शब्दों का अत्यधिक प्रयोग किया जाता है—व्यक्ति तथा प्रतिनिधि। एक तो पात्र ऐसे होते हैं जो अपना व्यक्तिगत महत्त्व ही रखते हैं वे समाज के किसी वर्ग विशेष का प्रतिनिधित्व नहीं करते। दूसरे समाज के किसी वर्ग विशेष का प्रतिनिधित्व करते हैं, व्यक्ति-रूप में चित्रित नहीं होते। इस दृष्टि से यदि हम भ्रमरगीत के पात्रों पर विचार करें तो उनमें ये दोनों ही प्रकार दिखाई पड़ जायेंगे। उनमें एक प्रकार से दोनों ही बातें दिखाई दे जाती हैं। कृष्ण प्रेमी है किन्तु कर्त्तव्य से बँधे हुए हैं, उद्धव शुष्क उपदेशक है, कुब्जा एक ईर्ष्यालु स्त्री है तथा राधा और गोपियाँ अनन्य प्रेमिकायें हैं। इस प्रकार ये सब टाइप हुए। किन्तु साथ ही वे सब अपना-अपना विशिष्ट व्यक्तित्व भी रखते है। कृष्ण-कृष्ण हैं, उद्धव-उद्धव हैं तथा राधा और गोपियों की विशिष्टता तो प्रकट है ही। हाँ, कुब्जा नंद और यशोदा का चरित्र अवश्य इतना नहीं खुल पाया है कि उसकी व्यक्तिगत विशेषताओं के विषय में कुछ कहा जा सके। एक अन्य विशेषता यह है कि इस काव्य के पात्र यथार्थ के आदर्श को नहीं अपना सके हैं। इसके प्रत्येक पात्र की चारित्रिक विशेषता अपनी चरम सीमा पर पहुँची हुई है। कृष्ण यदि प्रेमी है तो उनके प्रेम की सीमा नहीं है। यदि नायक है तो सर्वगुण सम्पन्न हैं। कर्त्तव्य परायण हैं तो पूरे संयमी हैं। इस प्रकार गोपियाँ प्रेमिकायें हैं तो असाधारण रूप में अनन्य और कुब्जा ईर्ष्यालु है तो इतनी कि पक्की सौत कही जा सकती है।

एक अन्तिम बात और कहनी है और वह यह है कि इस काव्य के चरित्र रूपकात्मक हैं। कृष्ण परमब्रह्म हैं और गोपियाँ जीवात्मा। उनके कथन ईश्वर प्राप्ति के सहज सरल साधना-मार्ग को प्रकट करते है।

लीजिये पात्रों पर अब अलग-अलग कुछ विचार कर लें। सर्व प्रथम इस काव्य के सर्वप्रमुख पात्र श्री कृष्ण को लेते हैं जो इस काव्य के नायक हैं। यद्यपि वे प्रत्यक्ष रूप से काव्य में बहुत थोड़ी देर के लिए ही प्रकट होते हैं किन्तु परोक्ष रूप से वे केन्द्र रूप में स्थित हैं। काव्य में ऐसा कोई स्थान दिखाई नहीं देता जहाँ पर कृष्ण थोड़ी-सी देर के लिए भी विस्मृत किये गये हों। यहाँ के कृष्ण बालकृष्ण की भाँति चचल एवं माखन चोर नहीं हैं अपितु गम्भीर एवं कर्त्तव्य परायण श्रीकृष्ण हैं। ब्रजभूमि के प्रति यद्यपि उनके हृदय में अपार प्रेम है किन्तु कर्त्तव्य के आगे वे इसका बलिदान करते है। गोपियों के शब्दों में उनकी दो विशेषताएँ हैं—रसिक शिरोमणि होना तथा मधुप के समान रस लम्पट होना रसिक शिरोमणि की बात तो हमें गोपियों की मान्य है किन्तु उसका रस लम्पट होना हमारी समझ में नहीं आता। इसमें तो हमें गोपियों

की सहज एव स्वाभाविक भावना के अतिरिक्त और कोई सत्यता नही दिखाई देती।

रूप और रग मे मिलते हुए उनके अनन्य सखा हैं उद्धव जी। दोनो के रूप रग मे कुछ इतनी समानता है कि एक वार तो गोपियाँ भी उन्हे देखकर कृष्ण का भ्रम कर बैठती हैं। यद्यपि वे अपने सखा के प्रति बडे ईमानदार हैं और न व्रज-भूमि के प्रति कोई अवाछनीय भावना उनके हृदय मे, दिखाई देती है किन्तु उनका दृष्टिकोण है कुछ विपरीत ही। कुछ भी हो न तो उन्हे खलनायक कहा जा सकता है और न नायक के पक्ष का पृष्ठपोषक ही। तटस्थ भी कहना उचित नही प्रतीत होता। वस्तुतः उनकी स्थिति कुछ ऐसी विलक्षण है कि उसके लिए शास्त्रो मे भी कोई उप-युक्त शब्द नही मिलता। यदि हमे उनके पक्ष से कोई सहानुभूति नही है उनसे असहानुभूति करने का भी हमे कोई कारण नही दिखाई देता। वे शिष्ट हैं, व्यवहार कुशल है और साथ ही अपनी बात को व्यक्त करने मे भी पूर्ण रूप से कुशल है। किन्तु तार्किकता का अभाव देखकर हमे अवश्य आश्चर्य होता है। इतना बडा ज्ञानी उद्धव और तर्कहीन कितने आश्चर्य की बात है ?

पुरुष पात्रो मे यद्यपि नन्द गोपादि और हैं किन्तु वे प्रत्यक्ष पात्रो की श्रेणी मे नही आते। स्त्री पात्रो मे गोपियाँ, राधा, यशोदा और कुब्जा है। गोपियाँ और राधा श्रीकृष्ण से वह अडिग प्रेम करती हैं कि कोई भी तर्क उन्हे इस ओर से नही हटा सकता। प्रेम के अतिरिक्त और सब-कुछ उन्हे प्रवचना प्रतीत होता है। यद्यपि वे अपने प्रेम-मार्ग की वाधाओ को दूर करने के लिए वज्रादपि कठोर दिखाई देती हैं किन्तु आखिर हैं तो अवला नारी ही। विरह उन्हे सन्तप्त कर ही डालता है, विलम्ब उन्हे निराशा के गहरे गढे मे डाल देता है और उपेक्षा का आभास उन्हे बिल्कुल मसोस कर फॅकने को तैयार हो जाता है। राधा यद्यपि एक अलग पात्र है और कृष्ण का उसे विशेष स्नेह प्राप्त है किन्तु गोपियो से अलग उसके प्रेम को कुछ विशेषता देना गोपियो के साथ अन्याय ही करना होगा।

गोपियाँ पूर्ण रूप से व्यवहार कुशल दिखाई देती हैं। वे उद्धव का आने पर सत्कार ही नहीं करती उनकी प्रत्यक बात को आदर के साथ सुनती हैं और वे उनके निराकार भगवान की उपासिका भी वनने को तैयार हो सकती हैं यदि समर्थ होती और वह उनकी इच्छा के अनुकूल होता। किन्तु जब उनकी वातो से उनके हृदय पर गहरी चोट लगती है तो उनके धैर्य का बाँध टूट जाता है और वे कभी व्यग्य कसती हैं, कभी तीखे ताने देती हैं तो कभी कटु वचन तक कह डालती हैं।

गोपियों के चरित्र के यदि सामाजिक पक्ष पर हम दृष्टि डालें तो हमे कुछ निराशा हो जाती है। जब श्रीकृष्ण के समय मे भी भारतीय सस्कृति के आधार पर ही बने हुए सामाजिक नियम प्रचलित थे तो क्या गोपियों का इस प्रकार का पर-पुरुष से प्रेम उचित था ? समाज की शिष्ट दृष्टि मे क्या यह उच्छृङ्खलता नहीं है ? क्या यह समाज के नियमों का अवांछनीय उल्लघन नही है ? है और हमारी दृष्टि मे अवश्य है। लोगों ने इसको आध्यात्मिकता का चोगा पहना कर कुछ सतोषजनक उत्तर

देने का प्रयास किया है जिससे पूर्ण संतोष तो खैर क्या हो इधर दृष्टि को उठने कुछ अवश्य रोक लिया है।

यशोदा एक आदर्श माता के रूप में चित्रित हैं। उनका हृदय अपार से परिपूर्ण है। पुत्र के स्नेह में उन्हें ऐसा प्रतीत होता है जैसे समस्त संसार ही स्न में डूबा हुआ हो। कृष्ण वियोग में उनका जीवन इतना ग्रस्त व्यस्त दिखाई देता कि ऐसा प्रतीत होता है जैसे उनके जीवन में पुत्र-प्रेम के अतिरिक्त और कुछ है नहीं। सभी जानते हैं कि स्त्री को अपने पुत्र से अधिक प्रेम दुनिया में किसी वस्तु नहीं होता। उसे अपने पुत्र की गलती भी गलती नहीं दिखाई देती। अपने पुत्र लिए वह अपने पति तक को कड़ी से-कड़ी बातें कह सकती है। यशोदा में ये सब गु पूर्ण रूप से दृष्टिगत होते हैं। तो वह मानसिक उद्विग्नता की अवस्था में ब्रज छोड़क जाने तक को उद्यत हो जाती है। वे जो संदेश पथिक के द्वारा अपने देवकी के पा भिजवाती है, उसे पढ़कर कौन ऐसा होगा जो उनके मातृ-हृदय की प्रशंसा न क उठेगा।

प्रस्तुत काव्य में कुब्जा एक डाहयुक्त स्त्री के रूप में चित्रित है। डाह गोपियों में भी है किन्तु वह है मधुर और कुब्जा में है वह कटु। कुब्जा कु सांसारिकता की ओर अधिक झुकी हुई दिखाई देती है। उसके दो कार्य ऐसे हैं उसे बहुत नीचे गिरा देते हैं। एक तो यह कि वह गोपियों को कृष्ण की अनन् प्रेमिकायें न मानकर कृष्ण पर मायावी प्रभाव डालने वाली नारी मानती है औ दूसरे यह कि वह यशोदा को भी मातृत्व के गौरव से नीचे गिराने का प्रयास करती है

यह हुआ 'भ्रमरगीत' के पात्रों का संक्षिप्त चरित्र-चित्रण, इससे आगे अ गोपियों की वाग्विदग्धता पर कुछ प्रकाश डाला जायगा।

वाग्वैदग्ध्य

भ्रमरगीत के आकर्षण के जहाँ अन्य भी कुछ कारण हैं वहाँ एक सबसे बड़ कारण है सूर की कथन पद्धति की विशेषता। उनके काव्य में जो अनूठापन पाय जाता है उसका कारण चमत्कारातिशय की प्रवृत्ति न होकर भावातिशय के कारण उत्पन्न उक्ति वैचित्र्य है। उन्होंने अपने इष्ट देवता के मधुर क्रीडाशील रूप के वर्णन का सुअवसर प्राप्त कर सकने के कारण जो वाग्वैदग्ध्य विकसित किया था उसक जीभर प्रयोग उन्होंने इसी काव्य में किया है। उनकी अभिव्यक्ति-गतियाँ इतन वक्र और विचित्र हैं कि उनकी तुलना भावोच्छ्वसित सागर की अनन्त लहरियों की जा सकती है। उनका सौन्दर्य वही समझ सकता है जो सागर की गहनता क अनुमान लगा सकता हो।

किसी विशेष मानसिक स्थिति में जब किसी मनुष्य का मन लगा होता और वह उस स्थिति के सर्वथा विपरीत किसी तथ्य को अपने सामने पाता है तं बरबस उसके मुख से यही निकल पड़ता है कि 'यह आप क्या कर रहे हैं?' यह परम स्वाभाविक है और बिना किसी प्रयत्न के ही हो जाता है। 'भ्रमरगीत' में भी इस

प्रकार की प्रयत्नहीन विदग्धता के दर्शन होते हैं। उदाहरण द्रष्टव्य है—

हमसों कहत कौन की बातें ?
सुनि ऊधो ! हम समुझत नाहीं फिर पूछति हैं तातें ॥

× × ×

तू अलि कासों कहत बनाय ?

उद्धव को दी गई 'गाली गलौज' भी इस दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है। यह 'गाली गलौज' गाली-शास्त्र के अभ्यासी किसी पुलिस-दरोगा का नहीं है, वरन् यह तो प्रेम पर प्रहार देखकर उठने वाला आर्तनाद है। यदि ऐसा न होता तो फिर यह काव्योपयुक्त ही कैसे बन सकता था। एक उदाहरण देखिये—

'आयो घोस बड़ो व्योपारी।
लादि खेप गुन ज्ञान-जोग की, ब्रज में आय उतारी ॥
इनके कहे कौन डहकावै, ऐसी कौन अजानी।
अपनो दूध छांडि को पीवै, खार कूप को पानी।

भ्रमरगीत के वाग्वैदग्ध्य की एक विशेषता यह भी है कि उसमें विविधता मिलती है। एक ही मानसिक स्थिति को कई प्रकार से व्यक्त करने में सूरदास जी बहुत अधिक निपुण कवि हैं। वस्तुतः इस काव्य के अनूठेपन का भी यही एक सर्व प्रमुख कारण है। इन विविध उक्तियों की गणना करना तो एक कठिन कार्य होगा, हाँ कुछ उदाहरण के रूप में अवश्य प्रस्तुत की जा सकती हैं। अपने प्रतिपक्षी को सर्वथा अयोग्य घोषित करके अपने पक्ष की श्रेष्ठता बतलाने की देखिये यह कैसी उत्तम पद्धति है—

तेरो बुरा न कोऊ मानै ?
रस की बात मधुप नीरस, सुन, रसिक होत सो जानै।

कहीं कहीं सूर की गोपियाँ 'चुनौती' के रूप में भी अपने पक्ष की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करती हैं। 'चुनौती' का कारण यदि खोजा जाय तो उनका अपनी वस्तु के प्रति दृढ़ आत्मविश्वास ही उसका कारण बना दीखता है। अडिग और निष्कम्प चित्तवृत्ति अपनी वस्तु को चुनौती के रूप में उपस्थित करने में कभी नहीं घबरा सकती—

घर ही के बड़े रावरे।
नाहिन मीत वियोग बस परे' अनवउगे अलि बावरे।
भुख मरि जाय चरै नहिं तिनुका, सिंह को यहै स्वभावरे ॥

कहीं कहीं सूरदास जी ने प्रतिपक्षी के कथन के प्रति अविश्वास अथवा सदेह प्रकट कराके भी उक्ति को मार्मिक बना दिया है—

ऊधौ हम अजान मति भोरी।
कंचन को मृग कौनैं देख्यौ, कौने बांध्यौं डोरी।
कहुधौ मधुप ! बारिमथि माखन कौने भरी कमोरी।

बिन ही भीति चित्रकिन काढ्यो किन नभ बांध्यो झोरी ?
कहो कौन पै कढ़त कनूकी, जिन हठि भुसी पछोरी ?

'तुलनात्मक पद्धति' भी उक्ति विदग्धता की एक आकर्षक पद्धति मानी जाती है। इस पद्धति में स्वपक्ष की रमणीयता और प्रतिपक्ष की हीनता का प्रदर्शन किया जाता है। सूर ने भी इस पद्धति का प्रयोग बहुत अधिक मात्रा में किया है। भक्ति-पथ की सरसता तथा योग पक्ष की जटिलता का प्रदर्शन करने में सूर पूर्णतया सफल हुए हैं। एक उदाहरण देखिए—

प्रतिपक्ष—

रूप न रेख, बरन बपु जाके संग न सखा सहाई।
ता निर्गुन सौं प्रीति निरन्तर, क्यों निबहै री माई ॥

स्वपक्ष—

मन चुभि रही माधुरी मूरति रोमरोम अरुझाई,
हौं बलि गई सूर प्रभु ताके, जाके स्याम सदा सुखदाई ॥

दृष्टान्त-पद्धति का प्रयोग भी वाग्वैदग्ध्य के लिए बहुत सहायक होता है इसमें प्रतिपक्षी के विरुद्ध चुन-चुन कर ऐसे दृष्टान्त उपस्थित किये जाते हैं जो लोकानुभव पर आधारित होते हैं। सूर कृत भ्रमरगीत से एक उदाहरण देखिये—

घटपटि बात तिहारी ऊधो, सुनै सो ऐसी कोहै ?
हम अहीर अबला सठ, मधुकर ! तिन्हें जोग कैसे सोहै ?
बूचिहिं खुभी आँधरी काजर, नकटी पहिरैं बेसरि।
मुड़ली पाटी पास चाह, कोढ़ी अंगहि केसरि ॥

सूर की गोपियाँ तरह-तरह की बातें गढ़ लेने में भी परम कुशल दिखाई देती हैं। कभी-कभी वे ऐसा मीठा झूठ बोलती हैं कि वचन वैचित्र्य बहुत ही बढ़ जाता है—

काहे को गोपीनाथ कहावत ?
सपने की पहचानि जानि कै। हमहिं कलंक लगावत ॥

कहीं कहीं मिथ्या का सृजन सम्भावनाओं पर भी आधारित दिखाई देता है जिससे काव्य में एक नूतन भंगिमा उत्पन्न हो जाती है—

ऊधो ! जाहु तुम्हें हम जाने।
स्याम तुम्हें ह्याँ नाहिं पठाए, तुम हौ बीच भुलाने।

सूर की गोपियाँ सामूहिक रूप से अपने पक्ष की श्रेष्ठता के प्रति तो पूर्णतः आश्वस्त हैं अतः वे तर्क का मार्ग नहीं अपनाती। वे तो उद्धव को विद्रूपित करने में ही कुछ अधिक रुचि प्रदर्शित करती हैं। वस्तुत विद्रूपीकरण और उपालम्भ इन दो पद्धतियों द्वारा सूर ने भ्रमरगीत की उक्तियों को बहुत अधिक मार्मिक बना दिया है। उपालम्भ में अतीत के प्रेम की याद दिलाई जाती है। प्रिय की उपेक्षा पर व्यंग कसे जाते हैं। गलत प्रेम-संदेश पर मन की कटुता एवं कुढ़न व्यक्त की जाती है

न्य के प्रति प्रेम हो जाने से अपनी पीड़ा का प्रकटीकरण तथा प्रिय का उपहास िया जाता है, कभी-कभी प्रिय से पुनः प्रेम करने की मनुहार की जाती है और भी-कभी अतीत के प्रेम में अपने द्वारा सम्भावित भूलों पर पश्चात्ताप किया जाना । प्रेमोपालम्भ की इन सब कथन पद्धतियों का प्रयोग सूर कृत भ्रमरगीत में देखने ो मिलता है जो पूर्ण वचन वैचित्र्य का ही प्रतीक है। कुछ उदाहरण देखिये—

बरन ये बदराऊ बरसन आये ।
अपनी अवधि जानि, नन्दनन्दन! गरजि गगन घन छाये ।।
× × ×
भूलति हो कत मीठी बातन ।
ये अलि है, उनही के सगी, चचल चित्त, सावरे गातन ।
× ×
उघरि आयो परदेसी को नेहु ।
तब तुम कान्ह कान्ह कहि टेरति, फूलति हो, अब लेहु ।

वस्तुत सूर ने भ्रमरगीत मे वाग्वैदग्ध्य का सागर ही लहरा दिया है। कहीं र नदेह पद्धति अपनाते हैं—

उधो स्याम सखा तुम साँचे ।
कै करि लियो स्वाँग बीचहिं तें, वैसहि लागत काँचे ।

तो कही भर्त्सना की पद्धति अपना कर विदग्धता की रक्षा करते हैं—

ऊधो ! कही सो बहुरि न कहियो ।
जो तुम हमहिं जिवायो चाहो, अनबोले ह्वै रहियो ।।

कभी-कभी तो सूर की गोपियाँ उद्धव को इस प्रकार समझाती दीखती हैं जैसे उद्धव ज्ञान के नहीं मूर्खता के राजा हैं—

ऊधो हम लायक सिख दीजे ।
तुमही कहौ यहाँ इतबिन मे सीखनहारी को है ?

वाग्वैदग्ध्य मे कुब्जा प्रसग ने भी कुछ कम सहायता नही दी है। कहाँ तो कृष्ण का लोकोत्तर रूप और कहाँ कुबडी दासी ? प्रेममयी गोपियो के साथ विश्वासघात करने के इनाम मे ही शायद कृष्ण को कुब्जा जैसी कुबडी मिली है। अच्छा ही हुआ। उन्हे मिलनी भी ऐसी ही चाहिए थी। ऐसा सोच-सोच कर देखिये गोपियो को कितनी सान्त्वना मिल रही है—

अब वै कुब्जा भलो कियो ।
सुनि सुनि समाचार ऊधो मो कछुक सिरात हियो ।।
जाको गुन, गति, नाम, रूप, हरि हारयो फिरि न दियो ।
तिन अपनो मन हरत न जान्यो, हँसि हँसि लोग जियो ।।
सूर तनिक चन्दन चढाय तन ब्रजपति बस्य कियो ।
और सकल नागरि नारिन को दासी दाँव लियो ।।

सूर के वाग्वैदग्ध्य पर यदि कुछ शास्त्रीय दृष्टि से भी विचार कर लिया जाय तो उपयुक्त ही रहेगा। इसके लिए आचार्य कुंतक के 'वक्रोक्ति' जीवित को जो उक्ति के आकर्षणों का एक मात्र शास्त्र है, सहारा लेना अनुचित न होगा। आचार्य कुंतक के अनुसार वक्रोक्ति का अर्थ है "विचित्र अभिधा" अर्थात "विचित्र उक्ति"। विदग्धता का अर्थ है "कविकर्म कौशल"। उक्ति वैचित्र्य लोक और शास्त्र से भिन्न उक्ति वैचित्र्य है। कुन्तक के अनुसार उसमे सहृदय जनो को आनन्द देने का गुण भी होना चाहिये। अत कुंतक की वक्रोक्ति केवल शब्द क्रीडा अथवा अर्थ-क्रीडा नही है उसमें रस और भाव भी सम्मिलित हैं। कोरी शब्द अथवा अर्थ क्रीडा से सहृदयो को भला आनन्द भी कैसे प्राप्त हो सकता है ?

इस दृष्टि से भी यदि सूर कृत भ्रमरगीत पर विचार किया जाय तो स्पष्टतः कहा जा सकता है कि सूर पूर्णत सफल कलाकार हैं। कौन कह सकता है कि भ्रमरगीत मे कोरी शब्द क्रीडा अथवा अर्थ क्रीडा ही है ? कौन कह सकता है कि उसमे रस और भाव सम्मिलित नही है ? कौन कह सकता है कि उससे सहृदयो को आनन्द प्राप्त नही होता ? भ्रमरगीत वाग्वैदग्ध्य का एक सुन्दर एवं उत्कृष्ट उदाहरण है। वस्तुत वाग्वैदग्ध्य युक्त भ्रमरगीत जैसा काव्य अन्यत्र देखने को नही मिल सकता।

सामाजिकता

कृष्ण-भक्त कवियों में प्रायः सभी कवि कृष्ण के रूप-वर्णन मे इतने विभोर रहे हैं कि समाज की मर्यादाओं और आवश्यकताओं की ओर उन्होंने ध्यान ही नहीं दिया है। महाकवि सूरदास भी इस परम्परा के अपवाद-रूप में हमारे सम्मुख नहीं आते। तुलसीदास जी की भाँति समाज की मर्यादा तथा आवश्यकताओं का ध्यान उन्हे नही था। वे तो वस्तुत भक्ति म इतने मतवाले थे कि समाज से उनका कुछ सम्बन्ध था ही नही। किन्तु ऐसा हुआ क्यो ? सूर न समाज की आवश्यकताओ की ओर ध्यान क्यो नही दिया ?

यदि इस प्रवृत्ति के कारणा पर विचार किया जाय तो मुख्य रूप से दो कारण हमे दिखाई देत हैं। प्रथम तो यह कि सूरदास जी के गुरु श्री वल्लभाचार्य जी स्वय कृष्ण के बाल तथा युवा रूप के ही उपासक थे। महाभारत के कृष्ण-जीवन को उन्होंने स्पर्श तक नहीं किया। वे तो माधुर्य भाव के ही उपासक थे। फलत, सूरदासजी भी माधुर्य भाव के ही उपासक बने। माधुर्य-भाव का उपासक समाज की आवश्यकताओ का ध्यान ही क्या रख सकता है ? उन्होने तो कृष्ण को रूप की अलौकिक मूर्ति के रूप म ही चित्रित किया है। शील और शक्ति का प्रसार दिखाना सूर का उद्देश्य नही था। तुलसी का महत्व इस दृष्टि से अधिक है।

तो क्या कृष्ण के जीवन मे राम के समान विविधतायें नही थी ? ऐसा नहीं माना जा सकता। उनके जीवन मे भी विविधतायें थी और सम्भवत राम से अधिक थी। राम की भाँति वे आरम्भ से ही संघर्ष रत रहे थे। बाल्यावस्था मे जितने दानवो का सहार कृष्ण ने किया था शायद राम न नही किया। कृष्ण छोटी सी अवस्था

मे ही मथुरा चले गये थे और वहाँ उन्होंने कंस आदि अनेक राक्षसों का संहार किया था। महाभारत के कृष्ण की तो तुलना ही क्या ? वहाँ के कृष्ण की तेजस्वी मूर्ति के आगे संभवतः कोई नहीं ठहर सकता ? स्पष्ट है कि कृष्ण का जीवन राम से कम विविधता-युक्त नहीं था। कहे तो यह सकते हैं कि उनके जीवन मे राम से कुछ अधिक विविधताएँ थीं। किन्तु कृष्ण-भक्त कवियों को इससे कोई प्रयोजन नहीं था। उन्होंने तो अपने गुरु के आदेश पर उनका आंशिक जीवन ही ग्रहण किया था। समाज की आवश्यकताओं की ओर देखने का उनके पास अवकाश नहीं था। वे तो कृष्ण-प्रेम में मस्त रहने वाले भक्त-कवि थे। उनके काव्य मे यदि कहीं लोक-संग्रह रूप का वर्णन कभी देखने को भी मिल जाता है तो उससे ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी इस ओर रुचि ही नहीं है। वे वस्तुतः जिस सम्प्रदाय मे दीक्षित हुए थे उसमें कृष्ण कुसुमादपि कोमल ही चित्रित किये गये हैं वज्रादपि कठोर नहीं। उनकी भक्ति रागानुगा थी वह वैधी-भक्ति नहीं जिसका नीति सदाचार-जैसी लौकिक बातों से होता है। रागानुगा भक्ति मे तो केवल भक्त के हृदय की तल्लीनता ही वांछित होती है। इस प्रकार यह भक्ति ही सूर के समाज के प्रति उदासीन रहने का सर्वप्रथम कारण है।

एक दूसरा कारण और भी है। परम्परा से कृष्ण-चरित्र एक निश्चित सीमा मे बंध कर चला आ रहा था। जयदेव और विद्यापति का नाम इस दृष्टि से विशेष रूप से महत्वपूर्ण है। उन्होंने गीति-काव्य मे हृदय की आवेशमयी भावनाओं को स्वच्छन्द अभिव्यक्ति देकर जिस लोकप्रिय परम्परा का निर्माण किया था, उसकी उपेक्षा करके उससे अलग चलना कृष्ण कवियों के लिये बड़ा कठिन था। सूर पर भी इस परम्परा का प्रभाव पड़ा है। उन्होंने भी गीति शैली के कृष्ण के माधुर्य रूप का वर्णन किया।

भक्ति के क्षेत्र मे यह विषय कि जीवात्मा और परमात्मा का क्या सम्बन्ध माना जाय, एक अत्यन्त महत्वपूर्ण विषय रहा है। सदा से इस विषय पर खोज होती रही है। सर्वप्रथम लोगों ने जीवात्मा और परमात्मा के सम्बन्ध की कल्पना दाम्पत्य रूप मे करके आत्मा को स्वकीया पत्नी के रूप म चित्रित किया। इस दृष्टि से हिन्दी कवियों में सर्वप्रथम महात्मा कबीर का नाम लिया जा सकता है। 'राम मोर प्रिय हौं राम की बहुरिया' से स्पष्ट है कि कबीर स्वीकीया के आदर्श मे विश्वास रखते थे किन्तु ईश्वराधना का मार्ग बहुत कठिन मार्ग है और स्वकीया पत्नी सहज लभ्य है अत यह मार्ग आगे के लोगों को उचित नहीं जंचा। परिणामत ईश्वर और जीवात्मा के सम्बन्ध मे परकीया सम्बन्ध की कल्पना का जन्म हुआ। परकीया के प्रेम मे एक तो तीव्रता अधिक होती है और दूसरे उसके मार्ग मे असह्य सामाजिक बाधायें रहती हैं जिससे यह मार्ग अत्यन्त कठिन बन जाता है। ईश्वर और आत्मा के मध्य का यह रूपक भक्त कवियों को बहुत पसन्द आया और फलत वह इतना अधिक लोकप्रिय हो गया कि आगे चलकर स्वकीया का आदर्श तो दिखाई भी न दिया।

किन्तु परकीया का यह आदर्श एक समाज-विरोधी तत्व है समाज की मर्यादा

को इससे ठेस पहुँचती है। समाज इससे अव्यवस्था का घर बन जाता है और अनैतिकता की वृद्धि की सम्भावना होने लगती है। राम भक्त कवियों और कृष्ण भक्त कवियों की तुलना इसी कसौटी पर करके लोग राम-काव्य की प्रशंसा करते हैं और कृष्ण-काव्य को दोषयुक्त बताते हैं। महात्मा सूरदास ने तुलसी की भाँति स्वकीया का आदर्श नही अपनाया। इन्होंने अपने प्रेम का प्रतीक राधा को बनाया जो एक परकीया स्त्री थी। इनके बाद के कवियों ने तो अपने को ही राधा मानकर अपने हृदय की वेदना कृष्ण के प्रति व्यक्त करनी आरम्भ कर दी। परकीया की इस प्रवृत्ति ने कुत्सित एव समाज विरोधी भावनाओं को धार्मिक प्रश्रय देकर जो समाज को हानि पहुँचाई उसका शब्दो मे वर्णन कर सकना भी बडा कठिन है। रीतिकाल का तो नाम याद आते ही हमारा हृदय वेदना से व्याकुल हो उठता है। इस काल मे राधा और कृष्ण को एक साधारण नायिका और नायक के रूप मे चित्रित करके जो विपरीत रति तक के कुत्सित चित्र खीचे गये उनको देखकर कौन ऐसा गम्भीर व्यक्ति होगा जो इस परकीया प्रवृत्ति को धिक्कार न उठेगा ? इस दृष्टि से तुलसी का महत्त्व सूर से कही अधिक है। उन्होंने 'रामचरित मानस' की प्रत्येक पंक्ति समाज की मर्यादा एव आवश्यकता का ध्यान रखकर लिखी है। तभी तो सीता और राम के चरित्र को दुर्गति करने का साहस किसी मे नही हो सका। ठीक इसके विपरीत भक्तराज सूरदास कृष्ण प्रेम की एकाँगी साधना म इतने तल्लीन हो गये कि वे समाज पर उसके दूषित एव अकल्याणकारी प्रभाव की कल्पना भी नही कर सके। एकांत मन्दिर मे कृष्ण की मूर्ति मे ही उनके लिये तीनो लोको की सामग्री विद्यमान थी उन्हे बाहरी समाज से न कुछ लेना था और न कुछ देना। समाज से वस्तुत भक्तराज सूर का कोई मतलब ही नही था।

आइये, इस दृष्टि से अब सूर-काव्य की कुछ विस्तार से परीक्षा कर लें। सूर ने कृष्ण के बाल तथा युवक रूप को ही लिया है। उन्होने राधा और कृष्ण के सयोग और वियोग दोनो के मधुरतम चित्र उतारे हैं। इन चित्रो म जहा उनकी तल्लीनता स्पष्ट है वहाँ लोक के प्रति इनकी उदासीनता भी स्पष्ट दिखाई दे जाती है। सभवत उन्होने तो इस बात की कल्पना भी न की होगी कि उनके इस शृगार-वर्णन का समाज पर कैसा प्रभाव पडेगा ? उन्होने सभवत यह भी कभी नही सोचा होगा कि वे अपनी रचनाओं के द्वारा समय और समाज की आवश्यकताओं को वाणी दे सकते हैं। कृष्ण की बाँसुरी की ध्वनि को सुनकर अपने पति, पुत्र, ससुर ननद आदि को छोडकर भागने वाली गोपियाँ समाज पर कितना बुरा प्रभाव डालेंगी, शायद सूर ने कभी नही सोचा होगा ? भक्ति तथा कवित्व की दृष्टि से लोगो ने सूर की प्रशसा के पुल बाँध दिये हैं। उनकी लोकप्रियता की प्रशसा करते करते भी लोग नही थकते। उनकी इन प्रशसाओं मे अविश्वास करने की वस्तुत कोई बात नही है। किन्तु यही बात अवश्य है कि इनका काव्य समाज के हित की दृष्टि से अवश्य घातक रहा है। एक पुरुष से चाहे वह परमपुरुष ही सही व्रज युवतियो का इस प्रकार प्रेम करना

समाज पर अच्छा प्रभाव कैसे छोड सकता है ? गोपियों द्वारा कृष्ण के अधर-रस पान करने की इच्छा तथा मुरली के प्रति आक्रोश साहित्य की दृष्टि से चाहे कितनी ही मूल्यवान् सम्पत्ति सही, सामाजिक दृष्टि से इसका आधार उतना ही निर्बल अवश्य कहा जायगा। रही, लोकप्रियता की बात। इस लोकप्रियता ने ही तो समाज पर इसके घातक प्रभाव को पडने से न रुकने दिया। आज घर घर मे परकीया वृत्ति के जो गीत गाये जाते हैं उनका आरम्भ इन कृष्ण-भक्त कवियों द्वारा ही हुआ है। कोई भी सोचे यदि प्रत्येक स्वकीया परकीया होने के लिए लालायित रहने लगे तो समाज की क्या दशा हो जायगी ?

कुछ लोगो का विचार है कि भक्तिकालीन कृष्ण-काव्य तो मुख्य रूप से भक्ति से ही ओतप्रोत है, उसमे लौकिकता के स्थान पर सर्वत्र आध्यात्मिकता का समावेश है, अत उसका समाज पर कोई अकल्याणकारी प्रभाव नही पड सकता। लौकिकता का समावेश तो बाद के अर्थात रीतिकाल के कवियो ने किया है अत इसका उत्तर-दायित्व उन्ही पर है। सूर जैसे कृष्ण भक्त कवियो पर नही। किन्तु हमारी दृष्टि मे यह बचाव का एक असफल ढग ही है। सत्य है कि सूर पहुँचे हुए भक्त थे। यह भी सत्य है कि सूर का उद्देश्य समाज को हानि पहुँचाना नही था। उन्होने तो जो कुछ लिखा भक्ति के आवेश मे लिखा उसमे लौकिकता नही है, किन्तु क्या तब भी वे दोष से मुक्त किये जा सकते हैं ? ठीक है, लौकिकता का समावेश रीतिकालीन कवियो द्वारा हुआ, यह भी ठीक है कि उन्होने ही इस समाज विरोधी कल्पना को अलौकिकता के क्षेत्र से अत्यन्त दूर ले जाकर अत्यन्त कुत्सित बना दिया किन्तु तनिक यह भी तो सोचिये कि यदि सूर आदि कृष्ण भक्त कवि इस परम्परा को न डालते तो ये कवि कहाँ से विकसित करके कुत्सित कर सकते थे ? जब उद्भव ही न होता तो विकास कैसे हो सकता था ?

कहा जाता है कि राधा और कृष्ण का प्रेम एक आध्यात्मिक रूपक है। कृष्ण परमब्रह्म है, गोपियाँ जीवात्मा और मुरली विद्यामाया। सूर भी उसी जीवात्मामडल मे से एक बनना चाहते हैं। चलो यह भी ठीक सही किन्तु क्या सूर के पदो को साधारणत समझने वाला पाठक इस गूढ रूपक को समझ सकता है ? क्या वह इनके शृगार परक पदो का अलौकिक अर्थ ग्रहण कर सकता है। नही कर सकता, और बिल्कुल नही कर सकता। वह तो स्पष्टत इनका लौकिक अर्थ ही ग्रहण करेगा।

निस्सन्देह कहा जा सकता है कि समाज मे वैभव और विषमताओ से विरक्त इस महाकवि ने जो कुछ लिखा वह एक ओर यदि साहित्य की अमर सम्पत्ति है तो दूसरी ओर समाज के लिए कुत्सित कीटाणुओ का उद्गम स्थान भी। एक ओर उसके काव्य मे यदि उच्च कोटि की तन्मीनता और भक्ति के दर्शन होते हैं तो दूसरी ओर उनको समाज की आवश्यकताओ के प्रति स्पष्ट उदासीनता और उपेक्षा दिखाई देती है।

तबहिं उपगसुत आय गये।
सखा सखा कछु अन्तर नाहीं भरि-भरि अंक सए॥
अति सुन्दर तन स्याम सरीखो देखत हरि पछिताने।
ऐसे को वैसी बुधि होती ब्रज पठवैं तब आने।
या आगे रस काव्य प्रकासे जोग वचन प्रगटावैं।
सूर ज्ञान दृढ़ याके हिरदय जुवतिन जोग सिखावैं॥

शब्दार्थ—उपगसुत=उद्धव। अंक=हाथ फैला कर भेंट करना। आन=दूसरो को। नेम=योग के विधि विधान।

व्याख्या—जब श्रीकृष्ण ब्रज के विषय मे चिंतित हो रहे थे तभी उद्धव जी वहाँ आ पहुँचे। दोनो घनिष्ट मित्र थे। दोनो मे कोई अन्तर नही था। मिलने पर दोनों ने हाथ फैलाकर प्रेमपूर्वक आलिंगन किया। उद्धव जी के शरीर को अपने शरीर के समान ही अति सुन्दर देखकर वे पश्चात्ताप करने लगे। क्या ही सुन्दर होता कि इन्हे भी वह प्रेममार्गीय बुद्धि होती। अच्छा हो यदि इन्हें किसी बहाने ब्रज भेज दिया जाय। इनके सम्मुख यदि रस काव्य अर्थात् प्रेम-भरे वाक्य कहे जायँ तो यह योग्य वाक्य बघारना आरम्भ कर देते हैं। सूरदास जी कहते हैं कि कृष्ण ने सोचा वस्तुत इनके हृदय मे ज्ञान की भावना बहुत दृढ है अत यह ब्रज युवतियो को निर्गुण ब्रह्म की शिक्षा देकर उनका ध्यान मेरी ओर से हटाने मे समर्थ होगे।

विशेष—श्रीकृष्ण जी को प्रेम मार्ग कितना अच्छा लगता है कि वे उद्धव जी को भी उसी प्रकार की बुद्धि के अभाव मे भाग्यहीन-सा समझने लगते हैं। किंतु ठीक इसके दूसरी ओर वह ब्रज जा भी नही सकत और उद्धव जी के दृढ ज्ञान से प्रभावित होकर ब्रज-युवतियो के कष्ट निवारण तथा अपने कर्तव्य पालन को विघ्न रहित बनाने के लिए उन्हे वहाँ भेजने की बात से कुछ आनन्द मिश्रित सान्त्वना प्राप्त करते हैं।

हरि गोकुल की प्रीति चलाई।
सुनहु उपग सुत मोहि न बिसरत ब्रजवासी सुखदाई।
यह चित होत जाऊँ मैं अबही यहाँ नहीं मन लागत॥
गोप सुग्वाल गाय वन चारत अति दुख पायो त्यागत।
कहँ माखन-चोरी ? कह जसुमति 'पूत जेंव' करि प्रेम।
सूर स्याम के वचन सहित सुनि व्यापत आपन नेम॥

शब्दार्थ—बिसरत=भुला देना। जेंव=भोजन करना। नेम=नियम, मत।

व्याख्या—श्री कृष्ण ने गोकुल के प्रेम का प्रसग छेडा। ब्रज भूमि के प्रति अपने हृदय के अनुराग को व्यक्त करते हुए वे उद्धव से कह रहे हैं कि हे उद्धव! मैं सुखदायक ब्रजवासियो को कभी भी नही भुला सकता। मेरे मन म ऐसी इच्छा

[उत्पन्न हो रही है कि मैं अभी यहाँ से व्रज को चला जाऊँ। मेरा मन यहाँ बिल्कुल नहीं लगता। मैंने वहाँ गोपियों के साथ अनेक क्रीडायें की थीं तथा ग्वाल-बालों के साथ गाय चराई थी अत उन्हें छोड़ते समय मुझे बहुत दुख हुआ। न तो यहाँ वहाँ की सी माखन चोरी है और न माता यशोदा का-सा आग्रह सहित खिलाना। सूरदास जी कहते हैं कि कृष्ण के इस प्रकार के वचन सुन उद्धव जी हँसते हुए अपने नियम एवं मत की स्थापना करने लगे।

विशेष—कृष्ण के हृदय की प्रेम-भावना तथा व्याकुलता के चित्रण के साथ-साथ तुल्यनुराग का आदर्श भी इस पद मे भली-भाँति स्थापित किया है। इसी प्रकार का एक पद रत्नाकर जी के 'उद्धव-शतक' मे भी है जो दर्शनीय है—

कहत गुपाल माल मजु मनि पुजनि की,
गु जनि की माल की मिशाल छवि छावै ना।
कहै रतनाकर कच रतन में किरीट अच्छ,
मोर-पच्छ अच्छ-लच्छ अंसहू सु भावै ना॥
जसुमति मैया की मलैया अरु माखन को,
काम-धेनु गोरस हू गूढ गुन पावै ना।
गोकुल की रज के कनूका औ तिनूका सम,
सपति त्रिलोक की बिलोकन मे आवै ना॥

जदुपति लख्यो तेहि मुसकात।
कहत हम मन रही जोई सोइ भई यह बात॥
बचन परगट करन लागे प्रेम कथा चलाय।
सुनहु उद्धव मोहि ब्रज की सुधि नहीं बिसराय॥
रैनि सोवत, चलत जागत लगत नहिं मन आन।
नन्द जसुमति नारि नर ब्रज जहाँ मेरो प्रान॥
कहत हरि, सुनि उपगसुत। यह कहत हौ रसरीति।
सूर चित तें टरनि नाहीं राधिका की प्रीति॥३॥

शब्दार्थ—लख्यो=देखा। आन=किसी अन्य विषय मे। सुनि=सुन।

व्याख्या—श्रीकृष्ण ने उद्धव को मुस्कराते देख लिया। वे सोचने लगे कि जो बात हम अपने मन मे सोचा करते थे, वही हुई। किंतु तब भी अपनी बात को छिपा कर फिर अपनी प्रेम-कथा आरम्भ कर दी और कहा हे उद्धव! सुनो मुझसे ब्रज की बात नहीं भूली जाती। रात्रि को सोते हुए चलते फिरते तथा जागते हुए किसी भी समय मेरा मन किसी दूसर विषय मे नहीं लगता। जहाँ नन्द, यशोदा तथा अन्य गोप-गोपिकायें हैं मेरे प्राण भी वहीं हैं। सूरदास जी कहते हैं कि कृष्ण ने कहा हे उद्धव जी! सुनो मैं तुम्हारे सम्मुख प्रेम-पद्धति बताता हूँ कि मेरे चित्त से राधा की प्रीति कभी दूर ही नहीं होती। शुद्ध प्रेम की रीति ही ऐसी है।

विशेष—रत्नाकर ने भी कुछ ऐसी ही बात एक पद मे कही है—

'राधा मुख मंजुल सुधाकर के ध्यान ही सों।
प्रेम रत्नाकर हिये यों उमगत है।'
सखा सुनो मेरी इक बात।
वह लतागन संग गोपिन सुधि करत पछितात॥
कहाँ वह वृष भानुतनया परम सुन्दर गात।
सुरति आए रासरस की अधिक जिय अकुलात॥
सदा हित यह रहत नाहीं सकल मिथ्या-जात।
सूर प्रभु यह सुनौ मोसों एक ही सों नात ॥४॥

शब्दार्थ—सुरति=स्मरण होने पर। हित=प्रेम। मिथ्या-जात=भ्रम से उत्पन्न। एक=अद्वैत ब्रह्म।

व्याख्या—श्रीकृष्णजी उद्धव से कहते हैं कि हे मित्र, तुम मेरी एक बात सुनो। जब मुझे उन लता बेलों के साथ गोपियों की सुध आती है तो मेरे हृदय में बहुत पश्चात्ताप होता है। जो परम सुन्दरी वृषभानु की पुत्री राधा वहाँ है, वह यहाँ भला कहाँ? रास-लीला का स्मरण होते ही हृदय बहुत व्याकुल हो जाता है। सूरदास जी कहते हैं कि इस प्रकार कृष्ण को प्रेम में व्याकुल देखकर उद्धव जी ने कहा कि यह सांसारिक प्रेम अनित्य है ये सब पदार्थ मिथ्या हैं। हे कृष्ण, तुम मेरी बात सुनो, केवल ब्रह्म से ही सम्बन्ध रखना एक सच्ची बात है। अत सांसारिक मनुष्यों तथा पदार्थों से प्रेम करना व्यर्थ है।

विशेष—उद्धव जी का कथन है कि इस ससार में ईश्वर का तत्त्व ही एक परम तत्त्व है। रत्नाकर जी ने इस बात को निम्न प्रकार से व्यक्त किया है—

आपु ही सों आपु को मिलाप औ बिछोह कहा,
मोह यह मिथ्या सुख दुख सब ठायो है।

उर्दू का प्रसिद्ध कवि अकबर भी देखिये कुछ ऐसी ही अभिव्यक्ति कर रहा है—

'गरूर उन्हें है तो मुझको भी नाज है ाकबर।
सिवा खुदा के सब उनका और खुदा मेरा॥'

पहिले करि परनाम नद सों समाचार सब दीजो।
और वहाँ वृषभानु गोप सों जाय सकल सुधि लीजो।
श्रीदामा आदिक सब ग्वालन मेरे हुतो भेंटियो।
सुख-सदेस सुनाय हमारो गोपिन को दुख मेटियो॥
मत्री इक बन बसत हमारो ताहि मिले सचु पाइयो।
सावधान ह्वै मेरे हुतो ताही माथ नवाइयो॥
सुन्दर परम किसोर बयक्रम चचल नयन बिसाल।
कर मुरली सिर मोर पख पीताम्बर उर बनमाल॥
जनि डरियो तुम सघन बनन मे व्रज देवी रखवार।
बृन्दावन सो बसत निरंतर कबहुँ न होत नियार॥

उद्धव प्रति सब कही स्यामजू अपने मन की प्रीति।
सूरदास किरपा करि पठए यहै सकल ब्रज रीति ॥५॥

शब्दार्थ—श्रीदामा=श्री कृष्ण के एवं ग्वाल सखा और राधा के बड़े भाई। हुतो=ओर से। सपु=सुख। नियार=अलग।

व्याख्या—श्रीकृष्ण जी उद्धव को मथुरा भेजने से पूर्व उपदेश दे रहे हैं कि हे उद्धव ! तुम सर्व प्रथम नन्द को प्रणाम करके यहाँ का सब समाचार सुनाना। फिर वृषभानु गोप के यहाँ जाकर उनकी कुशल मंगल पूछना। मेरी ओर से श्रीदामा आदि सभी ग्वालों से भेंट करना और हमारा सुख संदेश सुनाकर गोपियों के क्लेश को नष्ट करना। उस वन में एक हमारा मन्त्री (राधा) रहता है उससे मिलकर आनन्द प्राप्त करना तथा मेरी ओर से सावधान होकर उसे भी मस्तक नवाना। वह हमारा मन्त्री अर्थात राधा बहुत सुन्दर है उसकी किशोर अवस्था है और उसके नेत्र बड़े और चपल हैं। उसके हाथ में मुरली और सिर पर मयूर पंख होंगे। पीताम्बर धारण किए हुए वह वक्षस्थल पर वनमाला पहने हुए होगा। वन घना अवश्य है किन्तु तुम्हें डरने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि व्रजदेवी जो वहाँ सदैव निवास करती है तुम्हारी रक्षा करेगी। सूरदास जी कहते हैं कि इस प्रकार कृष्ण ने अपने प्रेम का विवरण पूर्ण रूप में उद्धव के सामने प्रस्तुत कर दिया और ब्रज की सब रीति उन्हें समझा कर मथुरा के लिए विदा किया।

विशेष—यहाँ 'मन्त्री' शब्द विचारणीय है। श्री राधा का जिन्हें इस पद में मन्त्री कहा गया है श्रीकृष्ण जी का ही वेश धारण करके वन में प्रेम-साधना कर रही थी। प्रेम की तन्मयता से तदाकार होने की बात भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के शब्दों में भी देखने को मिलती है—

मोहि मोहि मोहनमयी मन मेरो भयो,
'हरीचन्द' भेद न परत पहचान है।
कान्ह भये प्रानमय, प्रान भये कान्हमय,
हिय में न जानि परै कान्ह हैं कि प्रान हैं

भक्तराज रसखान की गोपियाँ भी देखिये कुछ ऐसी ही उत्कण्ठा व्यक्त कर रही हैं—

मोर पखा सिर ऊपर राखिहो गुंजकी माल गले पहिरौंगी।
बाँधि पीतंबर लै लकुटी वन गोधन संग फिरौंगी॥

उद्धव ! यह मन निश्चय जानो।
मन क्रम बच मैं तुम्हें पठावत ब्रज को तुरत भुलानो॥
पूरन ब्रह्म, सकल, अविनासी ताके तुम हो ज्ञाता।
रेख, न रूप, जाति कुल नाहीं जाके नहिं पितु माता॥
यह मत दै गोपिन कहँ आवहु बिरह नदी में भासति।
सूर तुरत यह जाय कहौ तू ब्रह्म बिना नहिं आसति॥

शब्दार्थ—क्रम=कर्म। पठावत=भेज रहा हूँ। पलानो=जाओ, प्रस्थान करो। भासति=डूबती हैं। भ्रसति=सामीप्य, मुक्ति।

व्याख्या—श्री कृष्ण जी ने उद्धव से कहा कि हे उद्धव जी, यह तुम निश्चय समझो कि मैं तुमको मनसावाचा कर्मणा ब्रज भेज रहा हूँ। अत तुम शीघ्र ही वहाँ के लिए प्रस्थान करो। तुम जाति, कुल, माता पिता आदि उपाधियो से रहित पूर्ण अखण्ड तथा अनीश्वर ब्रह्म के ज्ञाता हो। तुम इसी परम तत्व को ब्रज जाकर गोपियो को समझादो क्योकि वे विरह रूपी नदी मे डूब रही हैं। सूरदास जी कहते है कि कृष्ण जी ने उद्धव जी से समझाकर कहा कि तुम शीघ्र ही ब्रज जाकर गोपियों को समझादो कि ज्ञान के बिना मुक्ति नही हो सकती।

विशेष—ऋते ज्ञानात न मुक्ति यद्यपि एक प्रसिद्ध उक्ति है और जिसे सम्भवत कृष्ण जी भी जानते होगे। किन्तु सम्भवत कृष्ण का उद्धव जैसे शुष्क हृदय के व्यक्ति को प्रेम रस से सराबोर गोपिकाओ के पास भेजने का उद्देश्य यह नही था कि वे सब ज्ञान मार्ग को अपना लें। सम्भवत उनका उद्देश्य यही था कि उद्धव जी भी प्रेम की महिमा को समझ जायें। गोपिकाओ की ओर से तो उन्हे विश्वास था कि वे प्रेम मार्ग से न हटेंगी। 'विरह नदी' मे निरग रूपक की छटा भी दर्शनीय है—

उद्धव ! बेगि ही ब्रज जाहु।
सुरति सदेस सुनाय मेटो बल्लभिन को दाहु॥
काम पावक तूलमय तन विरह स्वास समीर।
भसम नाहिन होन पावत लोचनन के नीर॥
अजौं लौं यहि भाँति ह्वै है कछुक सजग सरीर।
इते पर बिनु समाधाने क्यो धरें तिय धीर॥
कहौं कहा बनाय तुमसों सखा साधु प्रवीन ?
सूर सुमति बिचारिए क्यो जिये जल बिनु मीन॥७॥

शब्दार्थ—सुरति=याद आने पर। वल्लभी=प्रिय। तूलमय=रुई से युक्त। प्रवीन=चतुर। पावक=आग।

व्याख्या—श्री कृष्ण ने उद्धव से कहा कि हे उद्धव, तुम अति शीघ्र ब्रज जाओ। हमारा स्मरण और सन्देश देकर हमारी परम प्रियाओं का दुख दूर करो। कामाग्नि से उनका रुई जैसा कोमल शरीर विरहावस्था मे उखडी हुई लम्बी-लम्बी साँसो की वायु से भस्मसात होता हुआ भी नेत्रो के आँसुओ से अब तक अवश्य बचा होगा। उनका शरीर आज भी कुछ सचेतन अवश्य होगा। किन्तु ऐसी अवस्था मे यदि उनको नही समझाया गया तो भला वे धैर्य कैसे धारण करेंगी ? हे सखा, तुम तो अत्यन्त प्रवीण हो, मैं तुमसे अधिक क्या कहूँ ? तुम वस्तुस्थिति को भली भाँति समझ रहे हो। तुम ही विचार करो कि क्या जल के बिना मछलियाँ जीवित रह सकती हैं ?

विशेष—'काम-पावक' मे साँग रूपक, भसम नीर मे काव्यलिंग और जल-मीन मे अप्रस्तुत प्रशसा अलकारो की छटा देखते ही बनती है।

पथिक ! संदेसो कहियो जाय ।
आवेंगे हम दोनों भैया, मैया जनि अकुलाय ।।
याको बिलगु बहुत हम मान्यो जो कहि पठ्यो धाय ।
कहँ लौं कीर्ति मानिए तुम्हरी बडो कियो पय प्याय ।।
कहियो जाय नंद बाबा सो, अरु गहि पकर्यो पाय ।
दोऊ दुखी होन नहि पावहि धूमरि धौरी गाय ।।
यद्यपि मथुरा विभव बहुत है तुम बिन कछु न सुहाय ।
सूरदास ब्रज वासी लोगनि भेंटत हृदय जुडाय ।।८।।

शब्दार्थ—बिलग मानना=बुरा मानना । धाय=दाई । धूमरि=श्यामा, [काली] । धौरी=सफेद ।

व्याख्या—श्री कृष्ण ने उद्धव से कहा, कि हे उद्धव, तुम हमारा यह सन्देशा [जाकर] कर देना कि हम दोनो भाई आ रहे हैं । माँ को व्याकुल नही होना चाहिए । हमे [उनकी] यह बात बहुत बुरी लगी कि उन्होने अपने को हमारी दाई कहला कर भेज [दिया] । उनसे कहना कि उनकी प्रशसा कहाँ तक करूँ । उन्होने मुझे दूध पिलाकर [इत]ना बडा किया । नन्द बाबा के दोनो चरण पकड कर यह कहना कि मेरी काली [औ]र सफेद दोनो गायें दुखी न होने पावें । सूरदास जी कहते हैं कि श्री कृष्ण ने [उ]द्धव से कहा कि यह और कह देना कि यद्यपि मथुरा मे अपार वैभव है किन्तु फिर [भ]ी तुम्हारे बिना हमे कुछ भी अच्छा नही लगता । हमारा हृदय तो ब्रजवासियो से [मि]लकर ही सन्तोष एव आनन्द प्राप्त करेगा ।

विशेष—माता यशोदा को 'धाय' शब्द का जो उलाहना सूर ने श्रीकृष्ण द्वारा [दि]लवाया है वह कितना मधुर तथा मार्मिक है ? यशोदा ने कृष्ण के मथुरा चले [जा]ने पर देवकी के पास यही सन्देश भिजवाया था कि "हो तो धाय तिहारे सुत की [मया] करत ही रहियो' । उद्धव को कृष्ण जी द्वारा 'पथिक' नाम से जो सम्बोधन [प्रा]प्त हुआ है, वह भी विचारणीय है । 'पथिक' शब्द स्पष्ट इस बात का द्योतक है [कि] अब उद्धव जी ब्रज जाने के लिये प्रस्तुत हो गये हैं ।

कहियो नंद कठोर भए ।
हम दोउ बीरें डारि परघरें मानो थाती सौंपि गिराए ।।
तनक-तनक, तें पालि बड़े किए बढ़ते सुख दिखराए ।
गौचारन को चलत हमारे पाछे कोसक धाए ।।
ये वसुदेव देवकी हमसे कहत आपने जाए ।
बहुरि विधाता जसुमतिजू के हमहिं न गोद खिलाए ।।
कौन काज यह राज, नगर को सब सुख सों सुख पाए ।
सूरदास ब्रज समाधान कर आजु काल्हि हम आए ।।९।।

शब्दार्थ—बीरें=भाई । जाए=उत्पन्न हुए । समाधान=प्रबोध, तसल्ली ।

व्याख्या—श्री कृष्ण जी उद्धव से कहते हैं कि तुम नन्द से जाकर यह देना

कि तुम तो बहुत ही कठोर निकले। हम दोनो भाइयो को दूसरे मे घर डाल कर इस प्रकार चले गये जैसे मानो कोई उनकी धरोहर सौंप गये हो। हम छोटे-छोटो को पालन पोषण करके बडा किया था और बहुत सुख पहुँचाया था। जब हम गौ चराने जाया करते थे तो कोस-कोस भर तक हमारे पीछे दौड कर जाते थे। और अब ये वसुदेव और देवकी हमे अपने से उत्पन्न बताते हैं। हाय रे हमारा भाग्य कि हमे विधाता ने फिर से यशोदा की गोद नही खिलवाया। यद्यपि यहाँ सब प्रकार के सुख हमे अनायास ही प्राप्त हैं किन्तु तो भी हमे इस राज्य से क्या प्रयोजन? सूरदास जी कहते हैं कि कृष्ण ने कहा कि तुम व्रज के लोगो को जाकर समझाना और तसल्ली देना और कह देना कि हम आज कल मे ही व्रज आने वाले हैं।

विशेष—स्मृति सचारी भाव और वस्तुत्प्रेक्षा अलकार की छटा दर्शनीय है।

> **नीके रहियो जसुमति मैया।**
> **आवैंगे दिन चारि पाँच मे हम हलधर दोउ भैया॥**
> **जा दिन तें हम तुमतें बिछुरे काहु न कह्यो 'कन्हैया'।**
> **कबहूँ प्रात न कियो कलेवा, साँझ न पीन्हीं धैया॥**
> **बंसी बेनु संभारि राखियो और अबेर सबेरो।**
> **मति लै जाय चुराय राधिका कछुक खिलौनो मेरो॥**
> **कहियो जाय नंद बाबा सों निपट निठुर जिय कीन्हो।**
> **सूर स्याम पहुँचाय मधुपुरी बहुरि सदेस न लीन्हो॥१०॥**

शब्दार्थ—पान्हो=पीना। धैया=थन से सीधी छूटती दूध की धारा। अबेर-सबेरो=साँझ-सवेरे। मधुपुरी=मथुरा।

व्याख्या—श्रीकृष्ण ने उद्धव से कहा कि हे उद्धव, ईश्वर कृपा से हमारी माता यशोदा कुशलता पूर्वक रहे। चार-पाँच दिन मे ही हम और हमारे भाई हलधर (बलराम, दोनो आ रहे हैं। उनसे कहना कि जिस दिन से हम तुम से अलग हुए हैं, हमे कभी किसी ने 'कन्हैया' सम्बोधन करके नही पुकारा। उसी दिन से न तो कभी हमने प्रात कलेवा ही किया और न सायंकाल गाय के थन से लग कर दूध ही पिया। उनसे कहना कि तनिक मेरी वशी को भी सँभालकर रखें। कही ऐसा न हो कि कभी समय असमय राधा आकर उसे अथवा किसी और खिलौने को चुराकर ले जाय। सूरदास जी कहते है कि श्रीकृष्ण ने उद्धव से कहा कि नद बाबा से भी यह कह देना कि तुमने अपना हृदय बडा कठोर कर लिया जो अपने श्याम को मथुरा पहुँचाकर कभी फिर कोई समाचार भी न लिया।

विशेष—'काहु न कह्यो कन्हैया' से कितना स्वाभाविक प्रेम झलक रहा है? मातृ-स्नेह-युक्त सम्बोधन 'कन्हैया' की अनुपस्थिति कृष्ण को कितना व्याकुल कर रही है? 'राधा कही वशी अथवा किसी और खिलौने को लेकर न चलती बनें' अर्थ मे जहाँ एक ओर राधा की चपलता दिखाई देती है वहाँ दूसरी ओर वह साहचर्यजनित प्रेम भी सकेतात्मक रूप मे झाँक रहा है जिससे पद मे मार्मिकता तथा सजीवता

आ गई है।

उद्धव मन अभिलाष बढ़ायो।
जदुपति जोग जानि जिय साँचो नयन अकास चढ़ायो॥
नारिन पै मोको पठवत हौं कहत सिखावन जोग।
मनहीं मन अब करत प्रसंसा है मिथ्या सुख-भोग॥
आयसु मानि लियो सिर ऊपर प्रभु आज्ञा परमान।
सूरदास प्रभु पठवत गोकुल मैं क्यो कहौं कि आन॥११॥

शब्दार्थ—अभिलाप=आनन्द। अकास चढायो=गर्व हो गया। आयसु=आज्ञा। परमान=प्रमाण, मान्य। पठवत=भेजना।

व्याख्या—उद्धव के आनन्द की अब कोई सीमा न रही। वे कहने लगे कि देखो आज मेरे योग के महत्व को श्रीकृष्ण ने हृदय से स्वीकार किया है। उनके नेत्र गर्व से ऊपर को तन गये। कहने लगे आप मुझे योग सिखाने के लिए स्त्रियों के पास भेज रहे हैं। मन-ही मन अपने ज्ञान की प्रशंसा करते हुए सोचने लगे कि वस्तव में सासारिक सुख भोग मिथ्या है। अत मे उन्होंने श्रीकृष्ण की आज्ञा शिरोधार्य कर ली। सूरदास जी कहते हैं कि उद्धव जी सोचने लगे कि जब मेरे प्रभु ही मुझे भेज रहे हैं तो मैं ही और कुछ क्यो कहूँ अर्थात् आनाकानी क्यो करूँ ?

विशेष—'नयन अकास चढायो' मे असम्बद्ध म सम्बन्ध दिखाकर सूर ने जो अतिशयोक्ति अलकार का प्रयोग किया है, उसकी छटा इस पद मे दर्शनीय है।

सुनियो एक सदेसो ऊधो तुम गोकुल को जात।
ता पाछे तुम कहियो उनसो एक हमारी बात॥
माता-पिता को हेत जानि कै कान्ह मधुपुरी आए।
नाहिन स्याम तिहारे प्रीतम, ना जसुदा के जाए॥
समुझो बूझो अपने मन मे तुम जो कहा भला कीन्हो।
वह बालक, तुम मत्त ग्वालिनी सबै आप-बस कीन्हो॥
और जसोदा माखन-काजै बहुतक त्रास दिखाई।
तुमहिं सबै मिलि दावरि दीन्ही रच दया नहिं आई।
अरु वृषभान सुता जो कीन्ही सो तुम सब जिय जानो।
याही लाज तजो तजो ब्रज मोहन अब काहे दुख मानो ?
सूरदास यह सुनि-सुनि बातैं स्याम रहे सिर नाई।
इत कुब्जा उत प्रेम ग्वालिनो कहत न कछु बनि आई॥१२॥

शब्दार्थ—हेत=प्रेम। जाए=पुत्र। काजै=के लिए। दाँवरि=रस्सा। रंच=तनिक, जरा भी।

व्याख्या—कुब्जा उद्धव से कह रही है कि हे उद्धव, तुम गोकुल जा रहे हो, एक सदेश मेरा भी सुन लो और वहाँ पहुँच कर तुम उनसे हमारी बात कह देना।

श्रीकृष्ण अपने माँ-बाप के प्रेम को पहचानकर ही मथुरा आये हैं। ये श्याम न तो तुम्हारे प्रियतम हैं और न यशोदा के पुत्र हैं। तनिक अपनी करतूतो पर भी अपने मन मे विचार करो। कृष्ण बेचारा तो बालक है और तुम सब उन्मत्त ग्वालिनी हो, तुमने उसे अपने चगुल मे फांस लिया है। यशोदा को तो देखो कि तुच्छ माखन के लिए उन्हे बडे-बडे कष्ट दिये। तुम्ही ने तो उन्हे बंधवाने के लिए रस्सी दी थी और तुम्हे तनिक भी दया नही आई थी। वृषभानु की पुत्री राधा ने तो जो कुछ किया उसे तुम सब जानती ही हो। इसी लज्जा से तो मोहन ने ब्रज त्याग दिया। फिर अब तुम इस पर दुख क्यो करती हो? सूरदास जी कहते हैं कि कुब्जा की इन बातो को सुनकर श्याम सिर नीचा करके खडे रहे। उनसे कुछ कहते ही न बन पडा क्योंकि इधर कुब्जा का प्रेम और उधर गोपियो का प्रेम। दोनो मे किसी को क्या कहे?

विशेष—कुब्जा कस की कुबडी दासी थी। श्रीकृष्ण ने उसका कूबड दूर *किया था और उसका प्रेम स्वीकार कर लिया था।*

> कोऊ आवत है तन स्याम।
> वैसेइ पट, वैसिय रथ-बैठनि, वैसिय है उर दाम॥
> जैसी हुति उठि तैसिय दौरी छाँड़ि सकल गृह-काम।
> रोम पुलक, गदगद भईं तिहि छन सौचि अग अभिराम॥
> इतनी कहत आय गए ऊधौ, रहीं ठगी तिहि ठाम।
> सूरदास प्रभु ह्याँ क्यों आवैं बँधे कुब्जा-रस स्याम॥१३॥

शब्दार्थ—पट=वस्त्र। दाम=माला। रोमपुलक=रोमाचित हो जाना। अभिराम=सुन्दर। रस=प्रेम।

व्याख्या—गोपियो ने जब उद्धव को ब्रज मे आते देखा तो उन्हे कृष्ण का भ्रम हो गया और वे कहने लगी—अरे देखो! कोई सावले रग का पुरुष आ रहा है। वैसे ही वस्त्र, वैसा ही रथ पर बैठना तथा वैसी ही माला हृदय पर है (श्याम जैसी) फिर क्या था? जैसी थी वैसी ही सब घरेलू काम-काज छोडकर वे सब दौड पडी। वे उद्धव जी को सुन्दर श्रीकृष्ण समझकर प्रेम-विभोर हो गईं और उनका शरीर रोमाचित हो उठा। इसी बीच उद्धव जी वहाँ आ पहुचे। वे उन्हे देखकर स्तब्ध-सी रह गई। (सोच रही थी कि कृष्ण है और निकले उद्धव)। सूरदास जी कहते हैं कि गोपिकायें उन्हे देखकर कहने लगी कि कुब्जा के प्रेम मे फंसे हुए श्याम भला अब इधर क्यों आने लगे?

विशेष—कृष्ण जैसे उद्धव को देखकर कृष्ण का गोपियो को स्मरण हो उठा अत स्मरण अलकार है। भ्रम से उद्धव को कृष्ण मान लेने मे भ्रान्ति अलकार हुआ। इसके अतिरिक्त 'ठगी तिहि ठाम' मे सात्विक भाव का भी चित्रण दर्शनीय है।

> है कोई वैसोई अनुहारि।
> मधुबन तें इत आवत, सखि री! चितौ तु नयन निहारि॥

माथे मुकुट, मनोहर कुंडल, पीत वसन रुचिकारि।
रथ पर बैठि कहत सारथि सों ब्रज-तन बाँह पसारि॥
जानति नाहिन पहिचानति हौं मनु बीते जुग चारि।
सूरदास स्वामी के बिछुरे जैसे मीन बिनु बारि॥१४॥

शब्दार्थ—अनुहारि=बनावट। वसन=वस्त्र। रुचिकारि=रुचिर अथवा प्यारी रुचि, श्यामवर्ण। बारि=जल। तन=ओर, तरफ।

व्याख्या—कोई गोपी अपनी किसी सखी से कह रही है कि देखो कोई बिल्कुल उसी बनावट का है। तुम अपने नेत्रों से ही देखो वह मथुरा से इसी ओर आ रहा है। उसके माथे मुकुट है। मनोहर कुण्डल पहने हुए हैं। सुन्दर पीताम्बर धारण किये हुए है। व्रज की ओर ही अपनी बाँह उठाकर सारथि से कुछ कह रहा है। ठीक प्रकार से तो कुछ पहचान नहीं रही हूँ किन्तु हाँ ऐसा प्रतीत हो रहा है कि इन्हें युगों पहले देखा है। सूरदास जी कहते हैं कि गोपियाँ अपने प्रियतम श्रीकृष्ण से बिछुड़कर इस प्रकार व्याकुल थीं जैसे कि जल से अलग होकर मछलियाँ व्याकुल होती हैं।

विशेष—धर्मलुप्तोपमा अलंकार की छटा दृष्टव्य है।

देखौ नंद द्वार रथ ठाढ़ौ।
बहुरि सखी सुफलकसुत आयौ परयौ संदेह उर गाढ़ौ॥
प्रान हमारे तबहि गयौ लै अब केहि कारन आयौ।
जानति हौं अनुमान सखी री! कृपा करन उठि धायौ॥
इतने अन्तर आय उपंगसुत तेहि छन दरसन दीन्हौ।
तब पहिचानि सखा हरिजू को परम सुचित तन कीन्हौ॥
तब परनाम कियौ अति रुचि सों और सबहि कर जोरे।
सुनियत रहे तैसेई देखे परम चतुर मति-भोरे॥
तुम्हरो दरसन पाय आपनो जन्म सफल करि जान्यौ।
सूर ऊधौ सों मिलत भयौ सुख ज्यौं झख पायो पान्यौ॥१५॥

शब्दार्थ—बहुरि=फिर। सुफलकसुत=अक्रूर। सुचित=स्वस्थ। भोरे=भोले। पान्यौ=पानी। झख=मछली।

व्याख्या—गोपियों ने नन्द के दरवाजे पर रथ खड़ा हुआ देखा। वे आपस में कहने लगीं कि हे सखी, अक्रूर जी फिर आ गए हैं। यदि यह वास्तव में ठीक है तो हमारे हृदय में बड़ा भारी संदेह उठ रहा है। हमारे प्राणों को तो ये पहले ही ले गए। अब पता नहीं किस कारण से यहाँ आये हैं? इस एक सखी ने कहा कि सम्भवतः अब की ये हम पर कृपा करने आये हैं। तभी उद्धव जी यहाँ आ पहुँचे। जब उन्होंने यह जाना कि वे तो कृष्ण के परम मित्र हैं तो उन्हें कुछ ढाढ़स हुआ। वे सावधान होकर हाथ जोड़कर बड़ी लगन से प्रणाम करने लगीं। कहने लगीं कि हमने जैसा आपके विषय में सुना था आप तो वास्तव में वैसे ही बड़े चतुर और सीधे निकले।

आपके दर्शन पाकर हमारा जीवन सफल हो गया। सूरदास जी कहते हैं कि उद्धव से मिलकर गोपियाँ ऐसी प्रसन्न हुईं जैसे मछलियाँ जल मिल जाने से प्रसन्न होती हैं।

विशेष—'ज्यों झख पायो पान्यो' में उपमा अलंकार की छटा देखते ही बनती है।

ऊधो को उपदेस सुनौ किन कान दै ?
सुन्दर स्याम सुजान पठायो मान दै॥
कोउ आयो उत तायँ जितै नंद सुवन सिधारे।
वहै वेनु-धुनि होय मनो आए नंद प्यारे॥
धाईं सब गज गाजि कै ऊधो देखे जाय।
लै आईं ब्रजराज पै हो, आनँद उर न समाय॥
अरघ आरती, तिलक, दूब, दधि माथे दीन्हों।
कंचन-कलस भराय, आनि परकरमा कीन्हों॥
गोप भीर आँगन भई, मिलि बैठे यादवजात।
जलझारी आगे धरी, हो बूझति हरी कुसलात॥
कुसल-छेम बसुदेव, कुसल देवी कुब्जाऊ॥
कुसल-छेम अक्रूर, कुसल नीके बलदाऊ॥
पूछि कुसल गोपाल की रही सकल गहि पाय।
प्रेम-मगन ऊधो भए, हो, देखत ब्रज को भाय॥
मन मन ऊधो कहै यह न बूझिये गोपालहि।
ब्रज को हेतु बिसारो जोग सिखवत ब्रज बालहि॥
पाति बाँचि न आवई रहे नयन जल पूरि।
देखि प्रेम गोपीन को, हो ज्ञान-गरब गयो दूरि॥
तब इत उत बहराय नीर नयनन मे सोल्यो।
ठानी कथा प्रबोध बोलि सब गुरू समोल्यो॥
जो ब्रत मुनिवर ध्यावहीं पर पावहिं नहिं पार।
सो ब्रत सीखो गोपिका, हो, छाँडि विषय-विस्तार॥
सुनि ऊधो के बचन रही नीचे करि तारे।
मनो सुधा सों सींचि आनि विष ज्वाला जारे॥
हम अबला कह जानहि जोग-जुगुति की रीति।
नंद नंदन ब्रत छाँडि कै, हो, को लिखी पूजै भीति ?
अविगत, अगह, अपार, आदि अवगत है सोई।
आदि निरंजन नाम ताहि रजै सब कोई॥
नैन नासिका—अग्र है तहाँ ब्रह्म को बास।
अविनासी बिनसै नहीं हो, सहज ज्योती परकास॥
घर लागै औघूरी कहे मन कहा बंधावै ?

अपनो घर परि हरैं कहो को घरहि बतावै ?
मूरख जादव जात है हर्माहि सिखावत जोग।
हमको भूली कहत हैं, हो, हम भूली किधौं लोग ?
गोपिहु तैं भयो अंध ताहि दुहु लोचन ऐसे।
ज्ञान नैन जो अंध ताहि सूझै धौं कैसे ?
बूझै निगम बोलाइ कै, कहैं वेद समुझाय।
आदि अंत जाके नहीं, हो, कौन पिता हो माय ?
चरन नहीं, भुज नहीं, कहौं, ऊखल किन बाँधो ?
नैन नासिका मुख नहीं चोरि दधि कौने खाँधो ?
कौन खिलायो गोद मे, किन कहे तोतरे बैन ?
ऊधो ताकों न्याव है ! हो, जाहि न सूझै नैन ॥
हम बूझति सत भाव न्याव तुम्हरे मुखे सांचो।
प्रेम-नेम रस कथा कहो कंचन की काचो ॥
जो कोउ पावै सीस दे ताको कीजै नेम।
मधुप हमारी सों कहौ, हो जोग भलो किधौं प्रेम ॥
प्रेम प्रेम सो होय प्रेम सो पारहि जैए।
प्रेम बध्यौ संसार, प्रेम परमारथ पैए ॥
एकै निहचै प्रेम को जीवन मुक्ति रसाल।
सांचो निह कै प्रेम को, हो, जो मिलि हैं नंदलाल ॥
सुनि गोपिन को प्रेम नेम ऊधो को भूल्यो।
गावत गुन गोपाल फिरत कुंजन में फूल्यो ॥
छन गोपिन के पग धरैं। धन्य तिहारो नेम।
धाय धाय द्रुम भेंट ही हो, ऊधो छाके प्रेम ॥
धनि गोपी, धनि गोप, धन्य सुरभी बनचारी।
धन्य, धन्य ! सो भूमि जहाँ बिहरैं बनवारी ॥
उपदेसन आयो हुतो मोहि भयो उपदेस।
ऊधो जदुपति पै गए हो, किए गोप को भेस ॥
भूल्यो, जदुपति नाम, कहत गोपाल गोसाईं।
एक बार ब्रज जाहु देहु गोपिन दिखराई ॥
गोकुल को सुख छाँडि कै कहाँ बसे हो आय।
कृपावंत हरि जान कै, हो, ऊधो पकरे पाय ॥
देखत ब्रज को प्रेम नेम कछु नाहिन भावै।
उमड्यो नयननि नीर बात कछु कहत न आवै ॥
सूर स्याम भूतल गिरे, रहे नयन जल छाय।
पोंछि पीत पट सों कह्यो, आए जोग सिखाय ॥१६॥

शब्दार्थ—गलगाजि कै=आनन्दमय होकर। यादवजात=उद्धव। भाय=भाव। समोस्यो=सहेज कर कहा। तारे=पुतली। भीति=दीवार। घर लागै=ठिकाने लगना है। औघूरि=घूमकर। खाधो=खाया। कांचो=कांच। सीस दे=प्राण देकर। सो=सौगन्ध। नेम=नियम।

व्याख्या—गोपिकायें आपस मे कह रही हैं कि उद्धव जी का उपदेश तुम ध्यान देकर क्यो नहीं सुनती। प्रिय कृष्ण ने इन्हे यहाँ मान सहित भेजा है। जिधर कृष्ण जी गये थे, उधर से ही यह कोई साहब आये हैं। इनकी वशी की भी वैसी ही धुन है। ऐसा प्रतीत होता है मानो स्वय कृष्ण जी ही आगये हो। सारी गोपियाँ यह सोच कर आनन्दित होकर दौड पडी। वहाँ पहुँच कर उन्होंने ऊधौ जी को देखा। वे ऊधौ जी को नन्द जी के पास ले गई। उनका आनन्द हृदय मे समा नही रहा था। उन्होने ऊधौ जी का सम्मान उन्हे अर्घ्य देकर, आरती उतार कर, तिलक लगा कर तथा माथे पर दूब तथा दही लगाकर किया। सोने के कलश मे पानी भरा तथा ऊधो जी की परिक्रमा की। कृष्ण द्वारा भेजे ऊधौ का जितना सम्मान सम्भव था उन्होंने आनन्दित होकर किया। नन्द जी का आँगन गोपो से भर गया। सभी कृष्ण का समाचार जानने को बडे उत्सुक थे। बीच मे ऊधौ जी बैठ गये। उनके सामने पानी की सुराही रखी थी। इसके पश्चात् उनसे सब कृष्ण जी का समाचार पूछने लगे। वे पूछने लगे कि वसुदेव जी, देवकी जी, कुब्जा दासी जो कृष्ण जी की विशेष कृपा प्राप्त करती रही थी, अक्रूर जी जो कृष्ण को यहाँ से सदा के लिए ले गये हैं, बलदाऊ जी आदि वहाँ सब कुशल से तो हैं अपने प्रिय कृष्ण की कुशलता ज्ञात करने के पश्चात गोपिकायें मूर्ति के समान ऊधोजी के चरण पकड कर सुध-बुध सी भूले हुए बैठ गई। ब्रज की स्त्री-पुरुषों की प्रेम-भावना को देखकर ऊधो स्वय प्रेम मे मग्न हो गये। मन-ही-मन वे यह विचारने लगे कि कृष्ण के लिये इन गोपियो को छोडकर चला जाना उचित नहीं था। ब्रज के इस प्रेम को त्याग कर उलटे उन्होंने मुझे गोपियो को योग का उपदेश देने भेज दिया है। कृष्ण ने गोप-गोपिकाओ को जो पत्र लिखा था उसे लोग पढ नहीं पा रहे हैं क्योकि उनकी आँखें प्रेमाश्रुओ से भरी पडी हैं और इस कारण उनका पढना असमभव था। गोपियो के प्रेम को देखकर ऊधो जी का ज्ञान-गर्व दूर हो गया। फिर इधर उधर की बातें करके अपने मन को बहला कर और अपने नेत्रा के आँसू पोछ कर ऊधो जी ने यह निश्चय कर लिया कि अब इन लोगों को समझाना भी आवश्यक है। अत उन्होने गुरु सदृश उन लोगो को समझाना प्रारम्भ कर दिया।

उन्होने कहा कि हे गोपियो, ससार का माया-मोह तथा प्रेम-बन्धन त्याग दो तथा योग और साधना की बातें सीखो। सारे ऋषि और मुनि इस ब्रज को अपनाते हैं किन्तु तब भी उस परब्रह्म का पार नही पाते हैं। और तुमतो ममता मोह मे लिप्त हो फिर भला तुम कैसे उसे प्राप्त कर सकोगी ? ऊधो जी की बातों को सुनकर गोपियों ने अपने नेत्र नीचे को कर लिए। ऊधो जी के आगमन से उन्हें बहुत अधिक

सुख हुआ था किन्तु उनकी बातें सुनकर उन्हें बहुत अधिक कष्ट का अनुभव होने लगा। यह तो ऐसा हुआ जैसे किसी ने वृक्ष को पहले तो अमृत से सींचा हो किन्तु फिर उसे ज्वाला से जला दिया हो। उन्होंने ऊधो से कहा कि हम अबलायें योग तथा साधना की रीति तथा बातें क्या जानें। साक्षात नन्द नन्दन के प्रेम रूपी व्रत को छोड कर निराकार परब्रह्म की पूजा भला कौन करे? इनका ईश्वर तो ऐसा है जो जाना नहीं जा सकता, जिसे बुद्धि द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता, जिसका कोई पार नहीं है और फिर कहा जाता है कि वह जाना हुआ है। जिसका नाम तो निरंजन है किन्तु उसे सभी प्रसन्न करने का प्रयास करते हैं। जो ईश्वर इतना अनिश्चित है तथा भ्रामक है उसकी भला कौन पूजा करेगा? ऊधो जी कहते हैं कि दोनों आँखों के मध्य नाक का जो ऊपर का अग्र भाग है। उस त्रिकुटी मे ईश्वर का वास है। वह अविनाशी है, उसका नाश कभी भी नही हो सकता। स्वाभाविक रूप से वह प्रकाशमय है किन्तु मन घूम फिर कर फिर अपने ही ठिकाने पर आ जाता है। गोपियाँ कहती हैं कि तुम्हारे इस प्रकार करने से क्या हमारा मन निर्गुण उपासना में लग जायगा? ऐसा कौन मूर्ख है जो अपना घर छोड देगा फिर वह अपना क्या पता ठिकाना बता सकता है? यह ऊधो जी की मूर्खता है जो हमें जोग सिखाते हैं। वे हमे भूली हुई कहते हैं परन्तु सच यह है कि ये हमे शिक्षा देने वाले स्वय भूल मे है। हे ऊधो, तुम तो गोपियो से भी अधिक अज्ञानी हो। पता नहीं तुम्हारे दोनों नेत्र (एक बाह्य तथा दूसरा ज्ञान का नेत्र) कैसे हैं जो तुम यह सीधी-सी बात भी नही समझ पा रहे हो। बात ठीक ही है जिसके ज्ञान-नेत्र फूट जाते हैं भला उसे सार युक्त बातें कैसे सुझाई जा सकती हैं। स्वय निगम जिसका स्पष्ट रूप नही रख सका। वेद भी जिसे समझाने का प्रयत्न मात्र ही कर सके हैं, जिसका न आदि है और न अन्त, जो अजन्मा है, जिसके न तो माता है और न पिता, ऐसे अस्पष्ट एव अनिश्चित परब्रह्म की उपासना से लाभ ही क्या? इधर हमारे कृष्ण तो साक्षात ब्रह्म हैं। आपके अनुसार यदि ईश्वर के हाथ-पैर नही होते तो फिर कृष्ण को यशोदा ने ऊखल से कैसे बाँध दिया? यदि ईश्वर के नेत्र और मुख नही होते तो बाल्यावस्था मे चोरी करके कृष्ण ने दही और माखन कैसे खा लिया? यदि ईश्वर की रूपरेखा नहीं होती तो यशोदा ने उन्हें गोद मे कैसे खिला लिया। कृष्ण तोतली वाणी मे बचपन मे कैसे बोल सकते थे? हमारे ईश्वर तो साकार है। जिसे ज्ञान की आँखों से सूझे ही नहीं उसे भला कैसे समझाया जाय? और ऐसी दशा मे न्याय भी कैसे हो? उस सीधे सच्चे भाव से आप से ही पूछती हैं और तुम्हें ही न्यायाधीश बनाय देती हैं। सच-सच बताओ कि प्रेम रस की आपकी क्या स्वर्ग है अथवा काँच। नेम और प्रेम तो उसे किया जाय जिसके लिए प्रेमी अपना सिर उतार कर देने की क्षमता रखता हो।

इसीलिए हे मधुप, तुम्हें हमारी शपथ है, सच कहना कि प्रेम उत्तम है, अथवा योग। प्रेम तो प्रेम द्वारा ही उत्पन्न होता है और प्रेम से ही उसका जीवन सार्थक

होता है। पार भी केवल प्रेम के द्वारा ही पाया जा सकता है। संसार भी प्रेम के बंधन मे ही बँधा हुआ है। प्रेम द्वारा ही मोक्ष का पद प्राप्त करना सम्भव है। प्रेम से ही निश्चय मधुर जीवन्मुक्ति प्राप्त होती है। परन्तु प्रेम का यह निश्चय सत्य है तो नन्दलाल की प्राप्ति हमे अवश्य होगी।

गोपियो के प्रेम को देखकर उद्धव जी अपनी योग की बातें भूल गये। आनन्दित तथा विस्मृत से वे ब्रज के कुञ्जों में कृष्ण का गुणगान करते हुए फिरने लगे। कभी तो वे गोपियों के पैरों मे गिर पड़ते और कहते कि तुम्हारा प्रेम धन्य है और कभी-कभी वे दौड़ कर वृक्षों को आलिंगन करते। ऊधो प्रेम से छक गये। धन्य है गोपियाँ, धन्य हैं गोप, धन्य है वन मे फिरने वाली गउएँ धन्य है और वह ब्रज भूमि जहाँ कृष्ण जा ने अपनी लीलाएँ की हैं। मैं आया था उपदेश देने और मिल गया मुझे उल्टा उपदेश।

गोप के वेष मे ऊद्धव जी कृष्ण के पास लौट चले। पहले वे कृष्ण को यदुपति कहते थे क्योकि वे उन्हें एक महापुरष मात्र मानते थे किन्तु अब प्रेम-मय होकर उन्हें गोपाल और स्वामी की सज्ञा देने लगे। उन्होंने कृष्ण से कहा कि एक बार ब्रज चले जाओ और गोपियों को दर्शन दे दो। तुम भी गोकुल के सुख को त्याग कर यहां मथुरा मे कहाँ आ बसे? कृष्ण को भगवान समझकर उद्धव जी ने उनके पैर पकड लिए। ब्रज के प्रम को देखकर कोई नियम और साधना इसके आगे नही जँचती। उद्धव के नेत्रों से आँसुओ की धारा बहने लगी। वे कुछ कहना चाहते हुए भी कुछ कह नही सके। कृष्ण जी के नेत्रो मे भी आँसू आ गये। प्रेम से विह्वल होकर वे भी पृथ्वी पर गिर पडे। अपने पीताम्बर से अपने आँसू पोछते हुए उन्होने उद्धव से व्यग पूर्वक कहा कि कहो 'सिखा आये योग'।

विशेष—इस पद मे भ्रमर गीत की सारी कथा संक्षेप मे कह दी गई है।

उद्धव द्वारा गोपियों को श्री कृष्ण का संदेश

सुनु गोपि हरि को सदेस।
करि समाधि अतरगति चितवौ प्रभु को यह उपदेस॥
वै अविगत, अविनासी, पूरन, घट-घट रहे समाय।
तिहि निश्चय कै ध्यावहु ऐसे सुचित कमलमन लाइ॥
यह उपाय करि बिरह तजौगी मिलै ब्रह्म तब आय।
तत्वज्ञान बिनु मुक्ति न होई निगम सुनावत गाय॥
सुनत सँदेस दुसह माधव के गोपीजन बिलखानी।
सूर बिरह की कौन चलावै, नयन ढरत अति पानी॥१७॥

शब्दार्थ—अन्तर-गति=हृदय के भीतर। चितवौ—दर्शन करो। सुचित= स्वस्थ होकर। कमल=योगियों के षट्चक्र जो कमल के रूप में माने जाते हैं।

व्याख्या—गोपियों के एकत्रित हो जाने पर उद्धव जी उनसे कृष्ण का संदेश कहना प्रारम्भ करते हैं। वे कहते हैं कि हे गोपियो, कृष्ण जी का संदेश सुनो। उनका

तुम्हें यही उपदेश है कि तुम समाधि लगाकर अपने हृदय के अन्दर ब्रह्म को देखने का प्रयास करो। प्रभु तो अज्ञात, अनश्वर तथा प्रत्येक के हृदय में समाये हुए हैं। तुम अपने कमलरूपी मन को एकाग्र करके सच्चे हृदय एवं निश्चय द्वारा उनका ध्यान करो। ऐसा करने से तुम्हारी विरह-व्यथा भी समाप्त हो जायगी तथा ब्रह्म के तुम्हें दर्शन भी हो जायेंगे। शास्त्रों का कथन है कि 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः', अर्थात् बिना तत्वज्ञान के मुक्ति नहीं मिल सकती। कृष्ण जी के इस दुःसह संदेश को सुन कर गोपियाँ बिलख बिलख कर रोने लगीं। सूरदास जी कहते हैं कि उनकी विरह दशा का वर्णन करना अत्यन्त व्यथा दायक है। उनके नेत्रों से कृष्ण की इस कठोरता पर आंसू बहने लगे।

विशेष— (क) रत्नाकर जी की कुछ इसी प्रकार की पंक्तियां देखिये—

> चाहत जो स्ववस संजोग स्यामसुन्दर कौ,
> योग के प्रयोग में हियौ तो बिलस्यौक रहै।
> कहै रत्नाकर सुअन्तर मुखी है ध्यान,
> मंजु हिय कंज जगी जोति मैं धस्यौ रहै॥

(ख) अतिशयोक्ति अलंकार का प्रयोग भी इस पद की एक विशेषता है।

उद्धव द्वारा गोपियों को कुब्जा का संदेश

> मो पै काहे को भुकनि ब्रज नारी ?
> काहू के भाग मों साझो नाहिन, हरि की कृपा नियारी॥
> फलन मांझ जैसे करुई, तुमरि रहति जो घूरे डारी।
> हाथ परी जब गुनी जनन के बाजति राग दुलारी॥
> यह संदेस कुब्जा कहि पठयौ अरु कीन्हो मनुहारी।
> तन टेढ़ी सब कोऊ जानत, परसे भइ अधिकारी॥
> हौं तौ दासी कंसराय की, देखहु हृदय विचारी।
> सूर स्याम करुनाकर स्वामी अपने हाथ संवारी॥१८॥

शब्दार्थ—भुकनि=कोप करना, जलना। साझो=भाग हिस्सा। नियारी=अद्भुत। पठयौ=भेजा है। मनुहारी=अनुनय विनय करना

व्याख्या—उद्धव कुब्जा का संदेश देते हुए गोपियों से कहते हैं कि उसने कहा ब्रजनारियाँ मुझसे क्यों जलती हैं। कोई किसी के भाग्य में हिस्सेदार नहीं बनता। हरि की कृपा ही कुछ अद्भुत है। जैसे फलों के बीच में कड़ई तूमड़ी (लौकी या घीया फल, घूर (कूड़े का ढेर) पर पड़ी रहती है और कोई उसे नहीं पूछता। किन्तु जब वह किसी गुणवान पुरुष के हाथ पड़ जाती है तो, वह उसकी वीणा बना कर उसमें मन मोहक राग निकाल लेता है। उद्धव ने कहा कि कुब्जा ने यह संदेश भेजा है और अत्यधिक अनुनय विनय किया है कि मैं शरीर से टेढ़ी-मेढ़ी अवश्य हूं किन्तु

श्रीकृष्ण के पवित्र स्पर्श से मैं इस योग्य अवश्य बन गई हूँ। तुम यह अपने हृदय में स्वयं विचार करके देखो कि मैं तो राजा कंस की दासी थी, मेरा तो दयालु श्रीकृष्ण ने स्वयं अपने हाथ से सुधार किया है। अतः तुम्हारा मुझ पर कोप करना उचित नहीं है।

विशेष—तीसरी एवं चौथी पंक्ति में उपमा अलंकार की छटा दृष्टव्य है।

उद्धव-गोपी-संवाद

उद्धव-वचन

हौं तुम पँ ब्रजनाथ पठायो। आतमज्ञान-सिखावन आयो॥
आपुहि पुरुष आपुहि नारी। आपुहि वाम अरु ब्रतधारी॥
आपुहि पिता, आपुही माता। आपुहि भगिनी, आपुहि भ्राता॥
आपुहि पंडित, आपुहि ज्ञानी। आपुहि राजा, आपुहि रानी॥
आपुहि धरती, आपुहि अकासा। आपुहि स्वामी, आपुहि दासा॥
आपुहि ग्वाल, आपुहि गाई। आपुहि आप चरावन जाई॥
आपुहि भँवर, आपुहि फूल। आत्मज्ञान बिना जग भूल॥
रंक राव दूजो नहिं कोय। आपुहि आप निरंजन सोय॥
यहि प्रकार जाकोमन लागै। जरा, मरन, जीते भ्रम भागै॥

गोपी-वचन

सुनु ऊधो! हमो सयानी? तुम तो महापुरुष बड़ज्ञानी॥
जोगी होय सो जोगहि जानैं। नवधा भक्ति सदा मन मानैं॥
भावभगति हरिजन चित धारे। ज्योति-रूप-सिव सनक विचारे॥
तुम कट रचि रचि कहत सयानी। अबला हरि के रूप दिवानी॥
जात-मोर बाँझा नहिं जानैं। बिनु देखे कैसे रुचि मानैं॥
फिरि फिरि कहै वहै सुधि आवै। स्याम रूप बिनु और न भावै॥
जोग-समाधि जोति चित लावैं। परमानन्द परमपद पावैं॥
नवकिसोर को जबहिं निहारें। कोटि ज्योति या छबि पै वारें॥
सजल मेघ घनस्याम-सरीर। रूप ठगी हलधर के बीर॥
सिर श्रीखंड, कुंडल, बनमाल। क्यों बिसरें वे नयन बिसाल?
मृगमद तिलक अलक घुंघरारे। उन मोहन मन हरे हमारे॥
भृकुटी बिकट, नासिका राजे। अरुन अधर मुरली कल बाजे॥
दाड़िम-दसन-दमक-द्युति सोहै। मृदु मुसकानि मदन-मन मोहै॥
चारु चिबुक, उर पर गजमोती। दूरि करत उडुगन की जोती॥
कंकन, किंकिनि, पदिक बिराजे। चलत चरन कल नूपुर बाजे॥
बन की धातु चित्र तनु किये। वह छवि चुभि जु रही हम हिये॥

पीत बसन छवि बरन न जाई। नखसिख सुन्दर कुँवर कन्हाई ॥
रूप रासि ग्वालन को सगी। कब देखें वह रूप त्रिभंगी ॥
जो तुम हित की बात सुनावो। मदनगोपालहि क्यों न मिलावो ?

उद्धव-वचन

ताहि भजहु किन सबै सयानी ? खोजत जाहि महामुनि ज्ञानी ॥
जाके रूप रेख कछु नाहीं। नयन मूँदि चितवहु चित माहीं ॥
हृदय कमल मे जोति बिराजै। अनहद नाद निरंतर बाजै ॥
इडा पिंगला सुखमन नारी। सून्य सहज में बसै मुरारी ॥
मात पिता नहिं दारा भाई। जल थल घट-घट रहे समाई ॥
यहि प्रकार भव दुस्तर तरिहो। जोग-पंथ क्रम क्रम अनुसरिहो ॥

गोपी-वचन

यह मधुकर ! मुख मूँदहु जाई। हमरे चित बित हरि यदुराई ॥
ब्रज बासिनि गोपाल-उपासी। ब्रह्म ज्ञान सुनि आवै हाँसी ॥
अब लौं जोग कबहुँ नहिं आयो। मानो कुबजा-रूपहि पायो।
खोलि सुगाहक पाय दिखायो। माधव मधुकर- हाथ पठायो ॥
अबला ठगी सकल ब्रज हेरी। सो ठग ठग्यो कंस की चेरी ॥
राम-जनम-तपसी जदुराई। तिहि फल बधू कूबरी पाई ॥
सीता-विरह बहुत दुख पायो। अब कुबजा मिलि हियो सिरायो ॥
ज्ञान निरास कहा लै कीजै। जोग-मोर दासी-सिर दीजै ॥

उद्धव-वचन

वह अच्युत अविगत अविनासी। त्रिगुन-रहित बपु, धरै न दासी ॥
हे गोपी ! सुनु बात हमारी। है महँ सून्य सुनहु ब्रजनारी ॥
नहिं दासी ठकुराइनि कोई। जहँ देखहु तहँ ब्रह्महि सोई ॥
आपुहि औरहि ब्रह्महि जानै। ब्रह्म बिना दूसर नहिं मानै ॥

गोपी-वचन

बार बार ये वचन निवारो। भक्ति-विरोधी ज्ञान तुम्हारो ॥
होत कहा उपदेसे तेरे। नयन सुबस नाहीं, अलि, मेरे ॥
हरिपथ जोवत निमिष न लागै। कृस्न-वियोगिनि निसिदिन जागै ॥
नंदनंदन के देखे जीवैं। रुचि वह रूप, पवन नहिं पीवैं ॥
जब हरि आवैं सब सुख पावैं। मोहन मूरति निरखि सिरावैं ॥
दुसह बचन अलि हमहिं न भावैं। जोगकथा ओढ़ै कि डसावैं ॥

उद्धव-वचन

ऊधो कहै, 'धन्य ब्रजबाल। जिनके सर्बस मदन गोपाल ।।
यह मत त्याग्यो, यह मति आई। तुम्हरे दरस भगति मैं पाई ।।
तुम मम गुरु मैं दास तुम्हारो। भगति सुनाय जगत निस्तारो ।।
'भ्रमरगीत' जे सुनै सुनावै। प्रेमभक्ति सो प्रानी पावै ।।
सूरदास गोपी बड़भागी। हरिदरसन की ठगौरी लागी ।। १६।।

शब्दार्थ—सयानी=चतुराई। जात=बच्चा जनना। बीर=भाई। श्रीखण्ड=चन्दन। मृग मद=कस्तूरी। वन की धातु=गेरू। नारी=नाड़ी। विकट=टेढ़ी। वल=मधुर। उड्गन=तारे। पदिक=माला में मध्य का बड़ा आभूषण। दारा=पत्नी। मोट=गठरी। वित्त=धन। सिरायो=ठण्डा हुआ। सधु=सुख। जन्म-स्रम=जन्म भर श्रम करने से साध्य। स्यामा=राधा।

व्याख्या—उद्धव ब्रज में आकर गोपियों के सामने ज्ञान का उपदेश देते हुए कहते हैं कि हे गोपियो! मुझे ब्रज के नाथ श्रीकृष्ण ने तुम्हारे निकट भेजा है। मैं तुम्हें आत्म ज्ञान का उपदेश देने आया हूँ। इस सारे ससार में ब्रह्म व्याप्त है वही पुरुष है और वही स्त्री है। वानप्रस्थ व्रत को वही धारण करने वाला है। वही पिता है, वही माता है, वही बहन है और वही भाई है। वही विद्वान है और वही ज्ञानी है। वही राजा है और वही रानी है। पृथ्वी और आकाश भी वही है। स्वामी और सेवक भी वही है। गाय भी वही है और ग्वाला भी। इस प्रकार वह अपने को ही चराता है। वही भौरा है और वही पुष्प है। किन्तु सारा ससार इस रहस्य को आत्मज्ञान के अभाव मे भूला हुआ है। वस्तुत निर्धन और धनी में इस ससार में कोई अन्तर नही है। वह कोई दूसरा नही है स्वय निरजन है। जो इस रहस्य को समझ लेता है, उसे बुढापे तथा मृत्यु आदि का कोई भ्रम नहीं रहता।

उद्धव की इन बातों को सुनकर गोपियो ने कहा कि हे उद्धव! सुनो, यहाँ बुद्धि-मती एव चतुरा कौन है? और तुम महान ज्ञानी पुरुष हो। योगी ही योग को जान सकता है। हमारा मन तो सदा नवधा भक्ति को ही स्वीकार करता है। जो भगवान का भक्त होता है वह भक्ति की भावना को ही अपने हृदय मे धारण कर लेता है और शिवजी तथा सनक सनन्दन आदि को ज्योति स्वरूप समझ लेता है। आप तो अत्यन्त कुशलता से बना-बनाकर ज्ञान की बातें कर रहे हो किन्तु हम अबलाएं कृष्ण के मनमोहक रूप पर मोहित होकर पागल सी बनी हुई है। बाँझ स्त्री भला प्रसव की पीडा को कैसे जान सकती है। इसी प्रकार जो ब्रह्म दिखाई ही नही देता उससे भला प्रेम कैसे किया जा सकता है? बार-बार जब तुम ब्रह्म ज्ञान का उपदेश देते हो तो हमें उन्ही का स्मरण हो जाता है और फिर बिना कृष्ण रूप के हमें कोई भी अच्छा नही लगता। तुम कहते हो योग समाधि लगाकर ब्रह्म की ज्योति से ध्यान लगाने वाले परम आनन्द प्रदान करने वाले मोक्ष को प्राप्त करते है। किन्तु दूसरी ओर जब हम

नवीन किशोरावस्था वाले कृष्ण पर अपनी दृष्टि डालती हैं तो ब्रह्म की करोड़ों ज्योतियों के उनके सौन्दर्य पर बलिदान कर देती हैं। उनका शरीर जल से भरे हुए बादलों के समान श्याम है। बलराम के भाई श्रीकृष्ण के उस सौन्दर्य को देखकर हम ठगी सी रह जाती हैं। उनके माथे पर चन्दन है, कानों में कुण्डल हैं, गले में बनमाला है तथा अत्यन्त विशाल नेत्र हैं। भला ऐसा सौन्दर्य कैसे विस्मृत किया जा सकता है ? वे कस्तूरी का तिलक लगाते हैं और उनके बाल घुंघराले हैं। उन्होंने हमारे मन को हर लिया है। उनकी भौंह बंकिम हैं, नासिका अत्यन्त सुन्दर है और अधर लाल हैं जिन पर सुन्दरी मुरली बजती है। अनार के दानों के समान चमकते हुए उनके दाँत अत्यन्त शोभायमान हैं और उनकी मन्द एवं कोमल मुस्कराहट कामदेव के मन को भी मोहित करने वाली है। उनकी ठोडी शोभायुक्त है तथा नक्षत्रों की कान्ति को भी पराजित करने वाली हृदय पर गज-मुक्ताओं की माला विराजमान है। उनके हाथों में कंकण, कटि में मेखला तथा पैरों में नूपुर शोभायमान हैं। जब वे चलते हैं तो नूपुरों से अत्यन्त सुन्दर शब्द निकलते हैं। वे अपने शरीर पर गेरु से चित्र बनाये रहते हैं। हमारे हृदय में उनका वह सौन्दर्य चुभा हुआ है। वे पीले वस्त्र पहनते हैं जिसकी सुन्दरता का वर्णन नहीं हो सकता। इस प्रकार कृष्ण नख से शिख तक बहुत ही सुन्दर हैं। वह सौन्दर्य का खजाना कृष्ण ग्वालों का सखा है। उसके त्रिभंगि रूप के हमें कब दर्शन होंगे ? यदि तुम हमारे हित की बातें करते हो तो फिर मदनगोपाल कृष्ण से हमें क्यों नहीं मिला देते ?

गोपियों की इस प्रकार की बातें सुनकर उद्धव कहने लगे कि हे चतुर गोपियो ! जिसे महान ज्ञानी और मुनि खोजते फिरते हैं तुम उसे स्मरण क्यों नहीं करतीं ? वह ब्रह्म रूपरेखा रहित है। अपने नेत्र बन्द करके उसकी खोज अपने हृदय में ही करो। उसकी ज्योति हृदय-कमल में हर समय रहती है और निरंतर अनहद नाद होता रहता है, इडा, पिंगला और सुषुम्ना नाड़ियों की साधना करके और शून्य स्थान में बसे हुए ब्रह्म की प्राप्ति करो। वह ब्रह्म माता पिता रहित है। उसकी कोई स्त्री भी नहीं है। वह तो क्या जल और क्या थल प्रत्येक स्थान पर विद्यमान है। अतः तुम क्रम क्रम से योग मार्ग पर चलो तो इस भव-सागर से पार हो जाओगी।

उद्धव के योग मार्ग के उपदेशों का उत्तर देती हुई गोपियाँ कहती हैं कि हे मधुकर ! अब आप अपना मुख बन्द रखिये। हमारे हृदय में तो मधुराज कृष्ण ही सर्वोपरि धन है। हम ब्रज की रहने वाली गोपाल की ही उपासिका हैं। ब्रह्म-ज्ञान की बातें सुनकर हमें हँसी आती है। अब तक तो कभी भी योग नहीं आया किन्तु अब ऐसा प्रतीत होता है कि उन्हें कुब्जा से योग प्राप्त हो गया है और हमें सुन्दर ग्राहक समझकर उसे अब आपके हाथों हमारे पास भेजा है किन्तु हमें आश्चर्य तो यह है कि जिसने केवल कटाक्ष मात्र से सम्पूर्ण ब्रज की अबलाओं को ठग लिया, उसको

कंस की एक दासी ने कैसे ठग लिया ? यदुराज कृष्ण ने रामावतार मे तपस्वी का रूप धारण किया था। उसी के परिणामस्वरूप उन्होंने कुबडी वधू को प्राप्त किया है। उस समय उन्होने सीता के विरह मे महान कष्ट उठाया था किन्तु अब उनसे मिल कर उनका हृदय शान्त हो गया है। निराशा से भरे हुए इस ज्ञान को ग्रहण करके हम क्या करेंगी ? इस योग के भार को दासी कुब्जा के सिर पर पटक दें।

उद्धव जी पुनः कहने लगे कि वह ब्रह्म अच्युत है। उसकी दशा जानी नही जा सकती और साथ ही वह नाशरहित है। वह तीनों गुणो सेर हित है। वह दासी नहीं रखे हुए हैं। हे गोपियो तुम हमारी बात सुनों। हे ब्रजनारियो वह शून्य रूप है। न कोई दासी है और न कोई (स्वामिनी) जहाँ देखो वहाँ ब्रह्म ही ब्रह्म है। तुम अपने को तथा औरो को ब्रह्म मय ही मानो और ब्रह्म के अतिरिक्त और कोई वस्तु मानो ही मत।

गोपियो ने कहा कि हे उद्धव ! तुम जो बार बार ये बाते कर रहे हो उन्हे बन्द कर दो क्योंकि तुम्हारा ज्ञान भक्ति का विरोधी है। तुम्हारे उपदेश कर ही क्या सकते हैं जब कि हमारे नेत्र ही हमारे वश से बाहर हैं। वे तो कृष्ण के वियोग मे दिन रात जागे रहते हैं। हम तो जीवित भी नन्द के पुत्र कृष्ण को ही देख कर रह सकती है। उन्हीं के रूप से हमे प्रेम है। हम पवन का पान (प्राणायाम) नही कर सकती। कृष्ण के आगमन से ही हमे सुख प्राप्त हो सकता है और उनकी सुदन्र मूर्ति को देख कर ही हमे शान्ति प्राप्त हो सकेगी। हे उद्धव हमे आपके असत्य वचन बिल्कुल नहीं भाते। हम तुम्हारी इस योग-कथा को ओढें अथवा बिछावें।

गोपियो के इस प्रकार के अटल प्रेम को देखकर उद्धव जी ने कहा कि हे ब्रज बालाओ तुम्हे धन्य है कि तुम्हारे सर्वस्व मदन गोपाल ही हैं। अब मेरी समझ मे भी यह बात समा गई है कि वह मत (ज्ञान मार्ग) त्याग करने योग्य है। मुझे तुम्हारे दर्शनो मे भक्ति प्राप्त हुई है। तुम मेरी गुरु हो और मैं तुम्हारा सेवक हू। तुमने भक्ति का यह सन्देश सुनाकर भवसागर के जजालो से मेरी रक्षा की है। जो व्यक्ति इस भ्रमरगीत को सुनेंगे अथवा दूसरो को सुनावेंगे उन्हे प्रेम-भक्ति प्राप्त होगी। सूरदास जी कहते हैं कि य गोपियाँ अत्यन्त सौभाग्य शालिनी है जिन्हें भगवान कृष्ण के दर्शनों का जादू लगा हुआ है।

गोपी-वचन

कहौ कहाँ ते आए हो।
जानति हौं अनुमान मनो तुम जादवनाथ पठाए हो॥
वैसोई बरन, बसन पुनि वैसेई, तन भूषन सजि ल्याए हो।
सरबसु संतव सग सिधारे अब का पर पहिराए हो॥

सुनहु, मधुप ! एकै मन सबको सो तो वहाँ लै छाए हो।
मधुबन की मानिनी मनोहर तहँहि जाहु जहँ भाए हो॥
अब यह कौन सयानप ? ब्रज पर का कारन उठि धाए हो।
सूर जहाँ लौं स्यामगात हैं जानि भले करि पाए हो॥२०॥

शब्दार्थ—जादवनाथ=श्रीकृष्ण। बरन=वर्ण, रंग। का पर=किसे ले जाने के लिए भेजे गये हो। सयानप=चतुरता। जानि=भली प्रकार समझ लिये गये हो।

व्याख्या—गोपिकायें अब उद्धव से पूछती हैं कि कहिये अब आप कहाँ से आये हैं ? हमारा अनुमान है कि सम्भवतः आपको श्रीकृष्ण ने भेजा है। आपका बिल्कुल वैसा ही रंग-रूप है, वैसे ही वस्त्र हैं तथा वैसे ही आभूषणों से आपने अपना शरीर सजा रखा है। हमारा सर्वस्व तो मथुरा जाते समय कृष्ण ही ले गये थे अब आप क्या ले जाने के लिए पधारे हैं। हे मधुप, सुनो हम सब लोगों के तो एक ही मन है। उसे लेकर आप तो वहाँ जाकर बैठ गये। अब तो आप मथुरा की उन्हीं सुन्दर कामनियों के पास रहो जहाँ आप पसन्द किये जाते हैं। यहाँ आने में आपने कौन सी चतुरता प्रदर्शित की है ? अब ब्रज पर फिर धावा कैसे बोला है ? सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि हम काले शरीर वालों को अब खूब जान गई हैं।

विशेष—उद्धव जी को मधुप अर्थात्, भ्रमर नाम से सम्बोधन करने के कारण ही इस प्रसंग का नाम भ्रमरगीत पड़ा है।

मसों कहत कौन की बातें ?
[illegible]नि ऊधो ! हम समुझत नाहीं फिरि पूछति हैं तातें॥
[illegible]ो नृप भयो कंस किन मारयो को वसुधौ-सुत आहि ?
[illegible]हाँ हमारे परम मनोहर जीजतु हैं मुख चाहि॥
[illegible]दिन प्रति जात सहज गो चारन गोप सखा लै संग।
[illegible]ासरगत रजनी मुख आवत करत नयन गति पंग॥
[illegible]ो व्यापक पूरन अबिनासी, को विधि-वेद-अपार ?
[illegible]र वृथा बकवाद करत हो या ब्रज नंद कुमार॥२१॥

[illegible]र्थ—आहि=है। चाहि=देखकर। बासर गत=दिन बीतने पर। [illegible]नीमुख=सन्ध्या। पंग=स्तब्ध।

व्याख्या—जब उद्धव जी गोपियों को ब्रह्मज्ञान का उपदेश देते हुए उनसे प्रेम [illegible] त्यागने को कहते हैं तो गोपियाँ कहती हैं कि हे उद्धव, तुम हमसे किसकी बातें कर [illegible] हो ? हे ऊधो ! सुनो, हम समझ नहीं पा रही हैं इसीलिए आपसे पुनः पूँछ रही [illegible] राजा कौन हो गया, कंस को किसने मारा, और वसुदेव का पुत्र कौन है ? (मैं

कृष्ण जिनके विषय मे आप कह रहे हैं, और कोई कृष्ण होंगे) हमारे कृष्ण तो परम सुन्दर है जिनका मुख देखे हम जीती हैं। वे तो प्रतिदिन अपने मित्रो के साथ गोचारण को जाते थे और दिन बिता कर जब वे सन्ध्या समय लौटते थे तो नेत्र उन्हें देखकर वही चिपके रह जाते थे। तुम जिसे व्यापक, पूर्ण, अविनाशी तथा वेदानुसार अपार कहते हो, वह कौन है ? सूरदास जी कहते हैं कि गोपियो ने उद्धव से कहा तुम तो व्यर्थ की बकवाद कर रहे हो। व्रज मे तो वे नन्दकुमार ही है और नन्दकुमार ही बने रहेंगे।

विशेष—उद्धव जी ने गोपियो को बताया था कि कृष्ण नन्द के पुत्र नही हैं वे तो वसुदेव के पुत्र हैं। उन्होंने कस का वध किया है और मथुरा का शासन सभाला है। अब तो उन्होंने कुछ दूसरे ही क्षेत्र मे पदार्पण कर लिया है। अत वे उनसे व्यर्थ मे ही प्रेम कर रही हैं उन्हे तो अब व्यापक, पूर्ण, अविनाशी ब्रह्म की उपासना करनी चाहिये। तब गोपियो ने उपर्युक्त [उत्तर दिया जो अत्यन्त स्वाभाविक एव मार्मिक कहा जायगा।

तू अलि ! कासो कहत बनाय ?
बिन समुझे हम फिर बूझति हैं एक बार कहो गाय ॥
किन वै गवन कीन्हों सकटनि चढ़ि सुफल क सुत के सग ?
किन वै रजक लुटाय विविध पट पहिरे अपने अग ?
किन हति चाप निदरि गज मार्‌यो किन वै मल्लमथि जाने?
उग्रसेन वसुदेव देवकी किन वै निगड हठि भाने ?
तू काकी है करत प्रससा, कौने घोष पठावो ?
किन मातुल वधि लयो जगत जस कौन मधुपुरी छायो ?
माथे मोरमुकट बनगुंजा, मुख मुरली धुनि बाजै।
सूरजदास जसोदानदन गोकुल कह न बिराजै ॥ २॥

शब्दार्थ—सकट=रथ। रजक=धोबी। हति=तोडकर। गज=कुवलया पीड हाथी। मल्ल=मुष्टिक और चाणुर नामक पहलवान। मथि जाने=पछाडा। निगड भान=बेडी तोडी। घोष=अहीरो की बस्ती। मातुल=मामा (कस)

व्याख्या—हे भौंरे, तुम किससे बातें बना बना कर कह रहे हो ? हम तनिक समझ नही पा रही है अत आप एक बार फिर से गाकर अर्थात समझाकर कहो अक्रूर के साथ गाडी मे बैठ कर कौन गया था ? धोबी की लूट कराके विविध प्रकार के राजसी वस्त्र किसने पहने थे ? धनुष किसने तोडा था ? कुवलया पीड हाथी तथा चाणुर पहलवान को किसने मारा था ? उग्रसेन (कस के पिता) वसुदेव और देवकी की बेडियो को तोड कर उन्हे किसने बंदखाने से छुडाया था ? तुम किसकी प्रशसा

करते हो ? तुम्हें इस पुरवा में किसने भेजा ? मामा की हत्या कर किसने यश प्राप्त किया तथा कौन मथुरा में राज्य कर रहा है ? हमारे यहाँ तो मयूर पंखों का मुकुट धारण किये हुए मुख से मुरली बजाता हुआ जसोदानन्दन ही सब कुछ है । सूरदासजी कहते हैं कि गोपियों ने उद्धव से पूछा कि बताओ आज भी वह जसोदानदन भला कहाँ विराजमान नही है ?

विशेष—इस पद मे तीन अतर्कथायें हैं—

(१) अक्रूर के साथ मथुरा पहुँचकर श्रीकृष्ण ने कंस के धोबी से राजसी वस्त्र पहनाने को कहा। धोबी ने ऐसा करने मे आनाकानी की तो कृष्ण ने उसके वस्त्र छुड़वा दिये और उसे परलोक पहुँचा दिया । तब एक जुलाहे ने उन्हें सुन्दर राजसी वस्त्र पहना दिये। सुदामा नामक माली ने उन्हें मालायें भेंट में दी । उक्त दोनों व्यक्ति इस प्रकार कृष्ण के कृपा-पात्र बने । देखिये-भागवत पुराण दशम स्कन्ध के ४१ वें अध्याय में श्लोक ३२ ५० ।

(२) कृष्ण ने कंस की धनुशाला मे प्रवेश कर प्रहरियों से सुरक्षित इन्द्रधनुष को तोड डाला था और वहाँ के पहलवान प्रहरियों को मौत के घाट उतार दिया था। देखिये भागवत के दशम स्कन्ध मे ४२ वा अध्याय ।

(३) कुवलया पीड हाथी तथा चाणुर पहलवान जो कंस ने पाल रखे थे। कृष्ण ने मारे थे। मुस्टिक पहलवान को बलराम ने मारा था। देखिये-भागवत के दशम स्कंध मे ४२, ४३, और ४४ वा अध्याय ।

> जोवन मुँह चाही को नीको ।
> दरस परस दिन रात करति है कान्ह पियारे पी को ॥
> नयनय मूँदि मूँदि किन देखौ बँध्यो ज्ञान पोथी को ।
> आछे सुदर स्याम मनोहर और जगत सब फीको ॥
> सुनौ जोग को का लै कीजै जहाँ ज्यान है जी को ।
> खाटी मही नहीं रुचि मानै सूर खवैया घी को ॥२३॥

शब्दार्थ—मुँह चाही=प्रिया । आछे=अच्छे । ज्यान=हानि । मही=मट्ठा ।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हम (गोपियाँ) विरह की सब व्यथाओं को सहन करते हुए भी श्रीकृष्ण को ही चाहती हैं । जीवन तो उसी का सफल है जो अपने प्रेमी की प्रेमिका हो तथा सदा प्रेम-पात्र का मुख देखते हुए जीवन व्यतीत करे। वह (कुब्जा) धन्य है जो हमारे प्राण प्रिय कृष्ण को दिन रात प्रेम-पूर्वक स्पर्श करती है । भले ही पोथियों के ज्ञान का आधार लेकर नेत्र बन्द करके तथा ध्यान लगाकर ब्रह्म को देखने का कोई प्रयत्न करे, किन्तु हमारे अच्छे और सुन्दर कृष्ण के आगे

सारा जगत फीका है। हे उद्धव, सुनो, जिस साधना से स्त्री को अनेक हानियाँ हैं उस योग को अपनाने से क्या लाभ ? यहाँ खट्टा मट्ठा पसन्द नहीं है। सूर तो घी का खाने वाला है।

विशेष—लोकोक्ति। छेकानुप्रास तथा वृत्यानुप्रास की छटा देखने योग्य है।

आयो घोष बड़ो व्यापारी।
लादि खेप गुन ज्ञान जोग की ब्रज मे आय उतारी॥
फाटक दै कर हाटक माँगत भोरै निपट सु धारी।
धुर ही ते खोटो वगयो है लये फिरत सिर भारी॥
इनके कहे कौन डहकावै ऐसी कौन अजानी।
अपनो दूध छाडि को पीवै खार कूप को पानी॥
ऊधो जाहु सबार यहाँ ते बेगि गहरु जनि लावौ।
मुँह माँग्यो पैहो सूरज प्रभु साहुहि आनि दिखावौ॥२४

शब्दार्थ—खेप=माल का बोझ। फाटक=फटकन। हाटक=सोना। धारी= समझकर। धुर=आरम्भ। डहकावै=ठगाए। सबार=सवेरे। गहरु=विलब। साहु=महाजन।

व्याख्या—गोपियाँ निर्गुण को सार रहित बताती हुई तथा उद्धव पर व्यग्य करती हुई कहती हैं कि सखियो, आज तो हमारे गाव मे एक बडा भारी व्यापारी आया है। उसने ज्ञान और योग की खेप ब्रज मे आकर उतारी है। हमे बिल्कुल अज्ञानी समझकर हमसे स्वर्ण लेकर अपना तुच्छ माल (फटकन) हमे देना चाहता है। आरम्भ से ही इसे तो खोटी कमाई करने की आदत पडी हुई है और सिर पर खराब माल का बोझ लादे फिरता है। किन्तु यहाँ उसकी ठगाई मे भला कौन आ सकता है ? यहाँ कोई ऐसा अज्ञानी नही है कि अपने दूध को छोड कर खारी कुएँ का पानी पियेगा (कृष्ण का प्रेम दूध है और योग खारी पानी)। सूरदास जी कहते हैं कि गोपियो ने कहा कि हे उद्धव, यहाँ से तुम शीघ्र ही चले जाओ विलम्ब न करो। यदि तुम कृष्ण जी (महाजन) को यहाँ लाकर हमे दिखा दो तो हम तुम्हे मुँह मागा पुरस्कार देंगी।

विशेष—अतिम पक्ति का कुछ लोग यह अर्थ भी लगाते हैं कि हे उद्धव ! तुम अपने माल को किसी साहू को दिखाओ, वहाँ तुम्हे मुँह मागी कीमत मिल जायगी। इसमे तिरस्कृत वाच्य ध्वनि है। तुम्हे कुछ न मिलेगा। शायद कुछ दड देकर छुट जाओ रूपक और अन्योक्ति का सकर भी दर्शनीय है।

हम तो नंद घोष की वासी।
नाम गोपाल, जाति कुल गोपहि, गोप-गोपाल उपासी॥

गिरवरधारी, गोधनचारी, वृन्दावन-ग्रभिलासी।
राजा नंद, जसोदा रानी, जलधि नदी जमुना सी॥
प्रान हमारे परम मनोहर कमल नयन सुखरासी।
सूरदास प्रभु कहौ कहाँ लौं ग्रष्ट महासिधि दासी॥२५

शब्दार्थ—घोष=ग्राम अथवा स्थान। उपासी=उपासिका। अभिलासी=अनुरागी। जलधि=समुद्र। सुखरासी=सुख की राशि।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव जी से कह रही है कि हम तो नदजी के ग्राम अथवा स्थान की रहने वाली है नाम से गोपालक जाति और कुल से गोप हैं। गोप होने के नाते गोपाल की उपासिका हैं। हमारे इष्टदेव गिरवरधारी, गोधनधारी तथा वृन्दावन से अनुराग रखने वाले है। हमारे राजा नन्द हैं तथा रानी जसोदा हैं। यमुना नदी ही हमारे लिए सागर के समान है। हमारे प्राणप्रियप्रिय, परमसुन्दर एवं सुखराशि श्रीकृष्ण हैं। सूरदास जी कहते हैं कि गोपियो ने कहा कि कहाँ तक कहा जाय आठों महासिद्धियाँ हमारी दासी हो गई हैं। कहने का भाव यह है कि जब भगवान श्रीकृष्ण के प्रति प्रेम रखने से हमे सब कुछ अनायास ही प्राप्त हो गया है तो फिर निर्गुण की उपासना करके क्या और लेना है।

विशेष—आठो महासिद्धियाँ निम्नलिखित हैं—अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिता, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व तथा वशित्व।

गोकुल सबै गोपाल-उपासी।
जोग-अग साधत जे ऊधो ते सब बसत ईसपुर कासी॥
यद्यपि हरि हम तजि अनाथ करि तदपि रहति चरननि रसरासी।
अपनी सीतलताहि न छाँडति यद्यपि है ससि राहु-गरासी॥
का अपराध जोग लिखि पठवत प्रेम भजन तजि करत उदासी।
सूरदास ऐसो को विरहन मागति मुक्ति तजे गुनरासी॥२६

शब्दार्थ—जोग अग=अष्टाग योग। ईसपुर=शिव की पुरी। रसरासी=रस मे पगी हुई। गरासी=ग्रसना। उदासी=विरक्त।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि यहाँ गोकुल मे तो सभी गोपाल की उपासना करने वाले हैं। जो लोग योग के अगो यम नियम की साधना करते हैं वे सब तो शिव की नगरी काशी मे रहते हैं। यद्यपि श्रीकृष्ण ने हमको त्याग दिया है और हम अनाथ हो गई हैं तो भी हम उन्ही के चरणो के ध्यान मे लीन है। राहु द्वारा ग्रसित होने पर भी चन्द्रमा अपनी शीतलता का त्याग नही करता। ऐसा हमसे क्या अपराध हो गया है कि जो प्रेम-भजन छोडकर योग लिखकर हमारे लिए भेजा है।

भला यह सम्भव ही कैसे है कि हम कृष्ण से प्रेम करना छोड़कर उदासीन हो जायें। सूरदास जी कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि भला ऐसी कौन विरहिणी होगी जो गुण की राशि को त्याग कर मुक्ति चाहेगी। अर्थात हममें कोई ऐसी नहीं है जो श्रीकृष्ण को त्याग कर मुक्ति की इच्छा करेगी।

विशेष—सच्चा तथा अडिग प्रेम इसी प्रकार का होता है कि चाहे एक पक्ष कितना भी कष्ट दे किन्तु दूसरा पक्ष तब भी प्रेम करना न छोड़े। प्रेम की महानता इसी में है।

ए अलि ! कहा जोग मे नीको।
तजि रस रीति नंद नंदन की सिखवत निर्गुन फीको ॥
देखत सुनत नाहि कछु स्रवननि, ज्योति ज्योति करि ध्यावत।
सुन्दरस्याम दयालु कृपानिधि कैसे हो विसरावत ॥
सुनि रसाल मुरली-सुर की धुनि सोइ कौतुक रस भूलें।
अपनी भुजा ग्रीव पर मेलें गोपिन के सुख फूलें ॥
लोककानि कुल को भ्रम प्रभु मिलि-मिलि कै घरवन खेली।
अब तुम सूर खवावन आए जोग जहर की बेली ॥ २७

शब्दार्थ—नीको=अच्छाई। मेलैं=डालते थे। खेली=खेल डाला कुछ न समझा। लोककानि=लोक की मर्यादा। कुल=कुल की प्रतिष्ठा।

व्याख्या—सगुण भक्ति की उत्कृष्टता तथा निर्गुण की निकृष्टता प्रगट करती हुई गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हे भौंरे, जोग मे क्या अच्छाई है जो तुम श्रीकृष्ण की प्रेम पद्धति को त्याग कर फीके निर्गुण की साधना सिखा रहे हो। तुम योगियो को समाधि मे न कुछ नेत्रो से दिखाई पड़ता है और न कानो से सुनाई देता है। तुम तो यो ही 'ज्योति ज्योति' कह कर ध्यान किया करते हो। ऐसी दशा मे भला सुन्दर, दयालु कृपानिधि कृष्ण को कैसे विस्मृत किया जा सकता है ? उनकी मधुर मुरली की तान सुनकर उसी के विचित्र आनन्द मे जब गोपियाँ आनन्द विभोर हो उठती थीं तब वे श्याम अपनी भुजाओ को गले मे डाल देते थे। उस समय गोपियो के आनन्द की सीमा नही रहती थी। लोक की मर्यादा तथा कुल की प्रतिष्ठा के भ्रान्तिपूर्ण विचारो को हमने कृष्ण के साथ मिलकर और वन मे खेलकर समाप्त कर डाला। अब जब इस प्रकार सब कुछ हो चुका, अब जब हमने लोक लज्जा का परित्याग कर दिया तब तुम योगरूपी विष की बेल खिलाने आये हो।

विशेष—रूपक अलंकार मनोहर योजना दृष्टव्य है।

हमरे कौन जोग व्रत साधै।
मृग त्वचा, भस्म, अधारि, जटाको को इतनो अवराधै ॥

जानो कहूँ याह नहिं पैए अगम, अपार, अगाधं ।
गिरधर लाल छबीले मुख पर इते बाँध को बाँधं ॥
आसन पवन विभूति मृगछाला ध्याननि को अवराधं ।
सूरदास मानिक परिहरि कै राख गाँठि को बाँधं ॥ २८

शब्दार्थ—साधं=साधन करे। अधारि=साधुओं के टेकने की लकड़ी। अव-राधं=आराधना करे। बाँध=आडम्बर।

व्याख्या—योग की नीरसता तथा कठिनता एवं सगुण-भक्ति की सरसता तथा सुगमता पर प्रकाश डालते हुए गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि कौन योग-व्रत का साधना करे ? मृगछाला, भस्म साधुओं की टेकनी तथा जटा आदि का कौन प्रबन्ध करे ? और वह भी किसके लिए ? अगम्य, अपार और अगाध परमब्रह्म जैसी कपोल-कल्पित वस्तु के लिए ? हमारे परम मनोहर कृष्ण के दर्शन के लिए इन आडम्बरों की कोई आवश्यकता नहीं है। जब योग-मार्ग इतना कठिन मार्ग है तो भला फिर इस मार्ग के आसन, प्राणायाम, भभूत, मृगछाला और समाधि के चक्कर मे कौन फसना चाहेगा ? सरल और सरस प्रेम-पथ को ही क्यो न अपना लिया जायगा ? सूरदासजी कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि भला कौन ऐसा होगा कि जो कृष्ण के समान मोती को छोड़कर राख को स्वीकार करेगा ?

विशेष—प्रस्तुत पद मे सूर ने सगुण-मार्ग की सरलता और निर्गुण-मार्ग की जटिलता पर प्रकाश डालकर निर्गुण का खडन तथा सगुण का मडन बडी सुन्दरता से किया है। वस्तुत निर्गुण-मार्ग देहधारियों के लिए बडा ही कठिन मार्ग है। गीता का यह श्लोक भी देखिये इसी बात की पुष्टि कर रहा है—

क्लेशोऽधिक तरस्तेषाममव्यक्तासक्त चेतसाम ।
अव्यक्ताहि गतिदु ख देहवदभिरवाप्यते ॥

जोग ठगौरी ब्रज न बिकै है ।
यह ब्योपार तिहारो ऊधो ! ऐसोई फिरि जैहै ॥
जापै लै आए हो मधुकर ताके उर न समैहै ।
दाख छाडि कै कटुक निबौरी को अपने मुख खैहै ?
मूरी के पातन के केना को मुक्ताहल देहै ।
सूरदास प्रभु गुनहिं छाँडि कै को निगुन निरबैहै ? ॥२६॥

शब्दार्थ—ठगौरी=ठगने का सौदा। निबौरी=नीम का फल। केना=सौदा। मुक्ताहल=मोती। निरबैहै=साधेगा।

व्याख्या=गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि तुम्हारी ठगाई का सौदा इस ब्रज मे नहीं बिक सकता। तुम्हारा यह सामान ऐसे ही वापिस फिर जायगा। जिससे तुम यह सौदा लाए हो वह तो उसको भी न जचेगा। भला ऐसा कौन होगा जो अगूर छोड़कर कडवी निबौरी खाना पसन्द करेगा। भला ऐसा कौन मूर्ख होगा जो मूली के पत्तों के सौद के बदले मोती देगा ? सूरदास जी कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि भला ऐसा

कौन होगा जो सगुण को छोड़कर तुम्हारे निर्गुण को अपनायेगा ?

विशेष—रूपक, तुल्ययोगिता तथा अन्योक्ति अलकार की छटा देखने योग्य है ॥

आए जोग सिखावन पाँडे ।
परमारथी पुराननि लादे ज्यो बनजारे टाँडे ॥
हमरी गति पति कमलनयन की जोग सिखै ते राँडे ।
कहौ, मधुप, कैसे समायँगे एक म्यान दो खाँडे ॥
कहु षटपद, कैसे खैयतु है हाथिन के सग गाँडे ।
काकी भूख गई बयारि भखि बिना दूध घृत माँडे ॥
काहे को झाला लै मिलवत, कौन चोर तुम डाँडे ।
सूरदास तीनों नहिं उपजत धनियाँ धान कुम्हाँडे ॥ ३०

शब्दार्थ—बनजारे=व्यापारी । टाँड=व्यापार का माल । गति=शरण । पति=प्रतिष्ठा । राँडे=अकेला, जिसके कोई न हो । गाँड=गन्ने का कटा हुआ टुकडा । झाला=बकवाद । डाँडे=दंड दिया । धनियाँ धान कुम्हाँडे=धनियाँ धान और कुम्हडा ।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि पाँडेजी महाराज आज योग की शिक्षा देने आए हैं । तुम अध्यात्मवादी पुराणो को ऐसे लादे फिरते हो जैसे कोई व्यापारी माल लादे फिरता हो । हमारी तो एक मात्र शरण और अवलम्ब कमलनयन श्री कृष्ण हैं । आपका यह योग तो राँड (पति विहानाये) ही सीख सकती हैं । हम तो सुहागिन है । हे मधुप, तुम्ही बताओ कि भला एक म्यान मे दो तलवारें कैसे समा सकती हैं ? कहने का भाव यह है कि जब हमारे मन म श्रीकृष्ण विराजमान है तो भला किसे दूसरे की स्थिति कैसे हो सकती है क्योकि मन तो एक ही है । हे षटपद अर्थात और भला स्पर्धा मात्र से हाथियो के साथ गन्ने कैसे खाये जा सकते हैं ? बिना दूध घी, चावल आदि के खाये केवल हवा खाने से ही किसी की भूख कैसे शान्त हो सकती है हे ऊधो ! तुम हमसे व्यर्थ की बकवाद क्यो कर रहे हो ? तुम तो ऐसी बातें कर रहे हो जैसे किसी चोर की चोरी पकड कर उसे डाँट रहे हो । सूरदास जी कहते हैं कि गोपियो ने कहा कि धनियाँ, धान और कुम्हडे साथ साथ पैदा नहीं हुआ करते । भिन्न भिन्न समयो मे भिन्न भिन्न स्थितियो मे ही इनकी उत्पत्ति सभव है । साराश यह है कि प्रेम और योग दोना भिन्न भिन्न वस्तु हैं अत दोनो एक साथ नही चल सकते । हम प्रेम पथ पर आरूढ हैं तो भला आपका याग धारण कैसे कर सकती हैं ।

विशेष—'ज्यो बनजोर टाडे' मे उपमालकार तथा ४, ५, और ७ वी पक्ति मे लोकोक्ति अलकार की छटा दृष्टव्य है

हमते हरि कबहूँ न उदास ।
राति खवाय पियाय अधररस सो क्यों बिसरत ब्रज को बास ॥
तुमसों प्रेम कथा को कहिबो मनहुँ काटिबो घास ।
बहिरो तान स्वाद कह जानै, गूँगा बात मिठास ॥

सुनुरी सखी बहुरि ऐ हैं वे सुख बिबिध बिलास।
सूरदास ऊधो अब हमको भयो तेरहो मास ॥३१

व्याख्या—उद्धव जी ने गोपियों से कहा था कि आजकल श्रीकृष्ण राजकाज में इतने व्यस्त हैं कि उन्हें प्रेम करने का अवकाश ही नहीं है। गोपियाँ इसी बात का उत्तर देती हुई कहती हैं कि हमारे कृष्ण हमसे कभी भी उदास नहीं हो सकते। जिस ब्रज में हमने उन्हें प्यार से खिलाया और अधरामृत का पान कराया वह ब्रज का निवास क्या कोई भूलने की वस्तु है ? परन्तु ऊधो ! तुम तो नीरस व्यक्ति हो, तुमसे तो प्रेम क्या का कहना मानो घास काटना है अर्थात निरर्थक है। बहिरा आदमी स्वर की मधुरता को भला क्या समझ सकता है ? गूंगा आदमी वचनों की मधुरता के मर्म को भला क्या जान सकता है ? अब गोपी अपनी सखी से कहती है कि मुझे पूर्ण विश्वास है कि वे सुख और अनेक प्रकार के आनन्द के दिन फिर आवेंगे। सूरदास जी कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि हे ऊधो, हमें प्रतीक्षा करते करते अब तेरहवाँ महीना लग गया है अर्थात बहुत दिन हो गये हैं। अब वे अवश्य आवेंगे।

विशेष—तीसरी पंक्ति में निदर्शना तथा चौथी पंक्ति में दृष्टान्त अलंकार दर्शनीय है।

तेरो बुरो कोऊ न मानै।
रस की बात मधुप नीरस, सुनु, रसिक होत सो जानै॥
दादुर बसै निकट कमलन के जन्म न रस पहिचानै।
अलि अनुराग उडन मन बाँध्यो कहे सुनत नहिं कानै॥
सरिता चलै मिलन सागर को कूलमूल द्रुम भानै।
कायर बकै लोह ते भाजै, लरै जो सूर बखानै॥

शब्दार्थ—भानै=तोड़ती है। लोह=लोहा, हथियार। सूर=शूरवीर, सूरदास।

व्याख्या—उद्धव ने जब बार बार वही सन्देश दुहराया तो गोपियाँ व्यंग्य करती हुई उनसे कहने लगीं कि कहे जा। ऊधो ! तेरे कहे का यहाँ कोई बुरा नहीं मानता। हे भौंरे, प्रेम की बात तो कोई प्रेमी ही जान सकता है। तुम क्या जानो। मेढक जन्म भर कमलों के निकट रहता है किन्तु जन्म भर वह कमल के रस को नहीं समझ सकता। भौंरा उससे बहुत दूर रहता है किन्तु उसके रस का महत्व समझता है। वह उसे पाने के लिए दिन रात उड़ान भरता है, किसी का कहना नहीं मानता। माने भी क्यों ? प्रेम पथ का साधक कठिनाइयों से कभी नहीं घबराता। वह तो निरन्तर अपनी धुन में मस्त रहता है। देखो नदी और सागर का प्रेम है। नदी जब अपने प्रियतम सागर से मिलने को चलती है तो तट और तट के वृक्ष आदि उसके मार्ग में बाधक बनते हैं। किन्तु क्या वह रुकती है ? नहीं वह तो उन्हें हटाती हुई आगे बढ़ती ही चली जाती है। कायर केवल बकवाद ही करते हैं और रणभूमि से भाग लेते हैं। सच्चा शूर वही है जो डट कर संघर्ष करे। अर्थात हे ऊधो ! तुम हमें कितना ही बहकाओ और रोको किन्तु हम अपने प्रेम मार्ग पर आरूढ़ ही रहेंगी।

विशेष—दृष्टान्त अलकार का प्रयोग देखने योग्य है।

पूरनता इन नयन न पूरी।
तुम जो कहत स्रवननि सुनि समुझत, ये याही दुख मरति बिसूरी॥
हरि अंतर्यामी सब जानत बुद्धि बिचारत बचन समूरी।
वै रस रूप रतन सागर निधि क्यों मनि पाय खवावत धूरी॥
रहु रे कुटिल, चपल, मधुलपट, कितव सँदेस कहत कटु कूरी।
कह मुनि ध्यान कहाँ ब्रज युवती। कैसे जात कुलिस करि चूरी॥
देखु प्रगट सरिता, सागर सर सीतल सुभग स्वाद रुचि रूरी।
सूर स्वातिजल बसै जिय चातक चित लागत सब झूरी॥३३॥

शब्दार्थ—बिसूरी=विलख कर। समूरी=जड़ मूल से। सागरनिधि=महासमुद्र। धूरी=धूल। कितव=धूर्त, छली। कूरी=निष्ठुर। कुलिस=वज्र। रूरी=अच्छी। झूरी=नीरस।

व्याख्या—उद्धव जी की यह बात कि कृष्ण तो परमब्रह्म हैं गोपियों को नहीं जँचती। वे कहती हैं कि तुमने जो उन्हें पूर्ण कहा, हमारी दृष्टि मे यह बात नहीं जँची। तुम जो कहते हो कि कानों से सुनकर योग की बातें हमे समझनी चाहिये और कृष्ण को भूल जाना चाहिये, किन्तु हमे यह बात नहीं जँचती और इसीलिये ये हमारे नेत्र विलखते हैं। सब जानते हैं कि हरी अन्तर्यामी हैं। हम जब अपनी पूर्ण बुद्धि से विचार करती हैं तो इसी निष्कर्ष पर पहुँचती हैं कि हरि तो प्रेम-सागर की निधि हैं। जब वह मणि हमको प्राप्त हो गई तो तुम फिर हमसे योग की धूल चाटने को क्यों कह रहे हो? रे चचल, कुटिल, मधुलोभी धूर्त भौरे! बस चुप रह, तू छल से भरा हुआ सदेश क्रूरतापूर्वक हमसे क्यों कहता है? कहाँ तो मुनियों की समाधि और कहाँ हम ब्रज युवितियाँ। भला कहीं वज्र भी चूर्ण किया जा सकता है? सूरदास जी कहते हैं कि गोपियों ने उद्धव से कहा कि हे, उद्धव, भला तू ही सोच कर देख कितने नद, नदी, सागर और तालाब शीतल और स्वादिष्ट जल से भरे पड़े हैं किन्तु चातक के मन में स्वाति जल की ही लग्न लगी रहती है। उसको स्वाति जल के अतिरिक्त और सब कुछ नीरस ही प्रतीत होता है। कहने का भाव यह है कि योग मार्ग चाहे कितना ही भी उत्तम क्यों न हो (शीतल और स्वादिष्ट जल की भाँति) किन्तु ये गोपियाँ चातक की भाँति स्वाति जल अर्थात कृष्ण से ही अपनी लगन रखती हैं। उन्हें कृष्ण के अतिरिक्त और सब वस्तुएँ तुच्छ प्रतीत होती हैं।

विशेष—तुलसी ने भी चातक के इस गुण का निम्न प्रकार से वर्णन किया है।

"जीव चराचर जहँ लगें। है सबको हित मेह।
तुलसी चातक मन बस्यो घन सों सहज सनेह॥"

हम तो दुहूँ भाँति फल पायो।
जो ब्रजनाथ मिलै तो नीको। नातरु जग जस गायो॥

कहँ वे गोकुल की गोपी सब बरन हीन लघु जाती।
कहँ वे कमला के स्वामी सग मिलि बैठी इक पांती॥
निगम ध्यान मुनि ज्ञान अगोचर, ते भए घोष निवासी।
ता ऊपर अब साँच कहो धों मुक्ति कौन की दासी॥
जोग कथा, पा लागों ऊधो, ना कहु बारबार।
सूर स्याम तजि और भजै जो ताकी जननी छार॥३४॥

शब्दार्थ—नातरु=नहीं तो। बरनहीन=हीनवर्ण। पा लागो=पैर पड़ती हूँ। छार=भस्म, राख।

व्याख्या—जब उद्धव जी ने यह कहा कि प्रेम-मार्ग विरह-व्यथा का कष्ट असहनीय होता है और योग मे विरह की आशंका ही नहीं है अत योग मार्ग ही श्रेष्ठतर है तो गोपियों ने कहा कि हमें तो दोनो प्रकार से ही फल मिलेगा यदि हमें व्रजनाथ कृष्ण की प्राप्ति हो गई तो अच्छा है ही। यदि ऐसा नहीं हुआ और हम इस प्रकार ही विरह-व्यथा मे जल कर मर गई तो हमें हमारे उत्कट प्रेम का यश प्राप्त होगा। इस प्रकार हमारे तो दोनों हाथों में लड्डू हैं। भला कहाँ तो हम गोकुल की नीच जाति की गोपियाँ और कहाँ लक्ष्मी के स्वामी कृष्ण। जब इनके साथ हम भी एक पंक्ति मे बैठेंगी अर्थात् हमारा नाम भी उनके साथ लिया जायगा। तो यह हमारा अहोभाग्य ही तो है। शास्त्रीय मनन तथा मुनियों के ज्ञान के लिए भी जो अगम्य रहे वे हमारी बस्ती के वासी बन गये। क्या इससे बढ़कर हमारे लिए कुछ और बात हो सकती है? अब तुम्ही सच बोलो कि भला मुक्ति किसकी दासी हुई? अत हे उद्धव, हम तुम्हारे पैरो पड़ती हैं, इस योग कथा को बार बार मत कहो। सूरदास जी कहते हैं कि हमारी सम्मति में तो जो श्याम को छोड़कर किसी और की उपासना करता है उसकी माता राख है अर्थात् तुच्छ है।

विशेष—इस पद म एक बात बहुत महत्वपूर्ण आई है। प्रेमी प्राप्त हो जाय तो भी अच्छा और न हो तो भी अच्छा उर्दू के कवि तो वस्ल से ज्यादा मज़ा इन्तजार में समझते हैं। वे तो देखिये यहाँ तक कहते हैं—

'वह देखते हैं वे देखो से देखते ...।
मैं शाद हूँ कि हैं तो किसी की नि

शब्दार्थ—लरिकाई=लड़कपन, बचपन, बाल्यावस्था। अन्तरगति=चित्त की वृति, मन। सौंह=शपथ।

व्याख्या—गोपिका ऊधो से कहती हैं कि बाल्यावस्था से जो हमारा प्रेम-सम्बन्ध कृष्ण से चला आ रहा है, वह भला अब कैसे छूट सकता है? मैं ब्रजनाथ श्रीकृष्ण के चरितों की मोहकता का वर्णन कहाँ तक करूँ। जब उनका स्मरण हो जाता है तो तन मन की सारी सुधि खो बैठती हूँ। वह घुटपुटी चाल, मनोहर चितवन, मुस्काना तथा मद स्वरों से गाना, नटवरवेश तथा वृंदावन जाकर ग्वाल-बालों के साथ अनेक क्रीड़ायें करते हुए घर लौटना आदि सब बातों को भुलाना सहज नहीं है। सभी में एक अद्भुत आकर्षण है। गोपी कहती हैं कि मैं उनके चरण कमलों की सौगन्ध खाकर कहती हूँ कि मुझे यह योग-सन्देश विष के समान लगता है। मनमोहन कृष्ण की वह सुन्दर मूर्ति दिन-रात सोते-जागते कभी भी एक क्षण के लिए हमारे नेत्रों से दूर नहीं होती।

विशेष—सूर की गोपियों और कृष्ण का प्रेम बचपन का प्रेम है। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि बचपन के संस्कार अमिट रहते हैं। बचपन की क्रीड़ायें विस्मृत करना सहज नहीं है।

कृष्ण की चितवन और मुस्कान के विषय में देखिये रसखानि भी कुछ ऐसा ही कह रहे हैं—

"जैसे धुनि बाँसुरी की मधुर मधुर तैसो;
बंक चितवनि मद मद मुस्कान री।"

अटपटि बात तिहारी ऊधो सुनै सो ऐसो को है?
हम अहीरि अबला सठ मधुकर। तिन्हैं जोग कैसे सो है?
बूचिहि खुभी आँधरी काजर, नकटी पहिरै बेसरि।
मुँडली पाटी पारन चाहै। कोढ़ी अगहि केसरि॥
बहिरी सो पति मतो करै सो उत्तर कौन पै पावै?
ऐसो न्याव है ताको ऊधो जो हमे जोग सिखावै॥
जो तुम हमको लाए कृपा करि सिर चढाय हम लीन्हे।
सूरदास नरियर जो विष को करहि बंदना कीन्हे॥३६॥

शब्दार्थ—बूची=बनकटी, जिसका कान कटा हो। खुभी=कान में पहनने का एक गहना, लौंग। बेसरि=नाक मे पहनने का एक गहना। मुंडली=जिसके सिर में बाल न हो। पाटी पारना,=माँग काढना। कौन पै=किससे। मतो करै=सलाह करे। नारियर=नारियल।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हे उद्धव, तुम्हारी इन अटपटी बातों को सुनने के लिए कौन प्रस्तुत होगा? हे धूर्त मधुकर! हम अहीर अबलायें हैं। हमे यह तुम्हारा जोग कैसे शोभा देगा? तुम्हारा यह योग का उपदेश हमारे लिए ऐसा है जैसा कि बूँची के लिए बुन्दे, अन्धे के लिए काजल, नकटी के लिए नथनी,

गजे के लिए बाल काढ़ कर मांग निकालना तथा कोढ़ी के अंग पर केसर का लेप करना। अर्थात जिस प्रकार ये सब बातें असम्भव हैं उसी प्रकार गोपियों द्वारा जोग का ग्रहण करना सम्भव नहीं है। यदि कोई पति अपनी बहरी स्त्री से मन्त्रणा करने बैठे तो उसे क्या उससे कोई उत्तर मिल सकता है? हे ऊधो, जिस प्रकार यह बात असम्भव है तथा व्यर्थ है उसी प्रकार हमें योग सिखाना व्यर्थ होगा? हम तुम्हारे इस योग की पात्र नहीं हैं। किन्तु हम इतनी अशिष्ट भी नहीं हैं कि तुम्हारे कृपापूर्ण उपहार को ठुकरा कर तुम्हें अपमानित करें। अतः जो कुछ तुम कृपा करके हमारे लिये लाये हो, वह हमारे लिए शिरोधार्य है। सूरदास जी कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि विष युक्त नारियल के समान तुम्हारा लाया हुआ योग, हमारे वन्दना करने योग्य है। नारियल है इसलिए वदनीय है, विष से युक्त है इसलिए त्याज्य है। बात यह है कि यह योग सन्देश हमारे प्रियतम ने भेजा है इसलिए हमारे लिए वदनीय है किन्तु यह हमारे उपभोग के योग्य नहीं है इसलिए इसे हम स्वीकार नहीं करतीं।

विशेष—मालोपमा अलकार का स्वाभाविक सौन्दर्य देखने योग्य है।

घर ही के बाढ़े रावरे।
नाहिन मीत बियोग बस परे अनव उगे अलि बावरे!
भुख मरि जाय चरै नहिं तिनुका सिंह को यह है स्वभाव रे!
स्रवन सुधा-मुरली के पोषे जोग-जहर न खवाय, रे;
ऊधो हमहि सीख का दे हो? हरि बिनु अनत न ठाँव रे!
सूरजदास कहा लै कीजै याही नदिया नाव, रे!॥३७॥

शब्दार्थ—बाढ़े=बढ़ बढ़ कर बातें करने वाले। अनवउगे=सहोगे। पोषे=पले। अनत=अन्यत्र।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि तुम तो अपने घर पर बैठकर बढ़ चढ़कर बातें करने वाले हो। कभी सनेही के वियोग में नहीं फसे। अरे पगले भौंरे! जब वियोग-व्यथा सहोगे तब पता चलेगा। सिंह का यही स्वभाव है कि चाहे भूखा मर जाय पर घास नहीं चरता। वह तो माँस ही खायेगा। इसी प्रकार सच्चा प्रेमी वियोग के दु खो से घबड़ा कर कोई दूसरा मार्ग ग्रहण नहीं करता। अरे मधुप! जो कान मुरली के रसामृत से पोषित हैं उन्हें योग रूपी विष न खिलाओ। हे उद्धव! तुम हमें क्या शिक्षा दोगे? हम तो कृष्ण की शरण छोड कर और कहीं जा ही नहीं सकती। हमारे लिए तो यह ससार की नदी थाह है, हम तुम्हारी योग रूपी नाव लेकर क्या करेंगे?

विशेष—तुल्ययोगिता अलकार की छटा दर्शनीय है।

स्याम मुख देखे ही परतीत।
जो तुम कोटि जतन करि सिखवत जोग ध्यान की रीति॥
नाहिन कछु सयान ज्ञान में यह हम कैसे मानें।

कहौ कहा कहिये या नभ को कैसे उर मे प्रानै ।।
यह मन एक, एक यह मूरति, भृंग कीट सम माने ।
सूर समय वे बूझत ऊधो यह ब्रज लोग सयाने ।।३८।।

शब्दार्थ—परतीति=विश्वास । भृंगकीट =भिलनी नामक कीडा जिसके विषय मे प्रसिद्ध है कि वह और कीडो को पकडकर उन्हे अपने अनुरूप कर देता है । सयाने=चतुर ।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि अब तो श्याम का मुख देखकर ही विश्वास जम सकेगा। तुम तो कराहो उपायो द्वारा हमें योग और समाधि की शिक्षा दे रहे हो, उसमें कुछ हमें चतुरता नहीं दिखाई देती । फिर हम तुम्हारा कहा कैसे मान लें ? तुम्हीं बताओ कि हम तुम्हारे इस आकाश को अपने हृदय म कैसे समट कर रख लें ? हमारा मन एक है और मूर्ति भी एक ही है जिसन हमारे हृदय मे रह कर भृंगकीट के समान हम तद्रूप बना लिया है। सूरदास जी कहत है कि गोपिया ने कहा कि ब्रज के सयाने लोग तुमसे सौगन्ध देकर पूंछत हैं कि सच बताओ कि तद्रूप हो जाने के पश्चात हृदय मे योग के लिये स्थान ही कहाँ है ?

विशेष—(१) आकाश से यहाँ दो भाव निकलत हैं। एक तो व्यापक और महान और दूसरा शून्य। व्यापक और महान होने के कारण वह छोटे से हृदय मे नही समा सकता। शून्य को यदि हृदय मे रखा गया तो भी वह शून्य ही रहा।

(२) रूपक और उपमालकार ।

(३) गोपियाँ वस्तुत पूर्णत कृष्णमय हो गई हैं। यथा

गर यही मश्के तसव्वुर है यही तस्वीरे हुस्न,
दिल जिसे कहता है, इक दिन दिलरुबा हो जायगा ।

बिलग जानि मानहु, ऊधो प्यारे ।
वह मथुरा काजरि की कोठरि जे आवहिं ते कारे ।।
तुम कारे, सुफलक सुत कारे, कारे मधुप भँवारे ।
तिनके सग अधिक छवि उपजत कमल नैन मनि आरे ।।
मानहुँ नील माट ते काढ़े लै जमुना ज्यों पखारे ।
ता गुन स्याम भई कालिन्दी सूर स्याम गुन न्यारे ।।३९।।

शब्दार्थ—बिलग=बुरा मत मानो। भँवारे=घूमने वाला । मनिआरे =सुहावना माट=मटका । पखारे=धाए=तागुन । इसी से।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से व्यग्य करती हुई कह रही हैं कि प्यारे ऊधो, बुरा न मानना। वह मथुरा काजल की कोठरी है। जो भी वहाँ से आता है काला ही होता है। तुम काले हो, अक्रूर जी यहाँ आय थ वे भी काले थे और यह भ्रमता हुआ भौरा भी काला ही है। इनके साथ हमारे कृष्ण भी अति सुन्दर प्रतीत होते हैं। मानो सबके सब नील के मटके से निकलकर यमुना के जल म धोये गये है। इसलिए यमुना भी श्याम रग की हो गई है। सूरदास जी कहते हैं कि गोपियो ने

उद्धव से कहा कि काई वालो में सब गुण अद्भुत ही होते हैं।

विशेष—प्रस्तुत पद में अहेतु को मानकर उत्प्रेक्षा की गई है अतः हेतूत्प्रेक्षालंकार है। यमुना ने अपना गुण त्याग कर दूसरे का गुण धारण कर लिया है अतः तद्गुण अलंकार भी है।

> अपने स्वारथ को सब कोऊ।
> चुप करि रहौ, मधुप रस लंपट ! तुम देखे अरु वोऊ॥
> औरौ कछू सँदेस कहन को कहि पठयो किन सोऊ।
> लीन्हे फिरत जोग जुवतिन को बड़े सयाने दोऊ॥
> तब कत मोहन रास खिलाई जो पै ज्ञान हु तोऊ ?
> अब हमरे जिय बैठो यह पद होनी होउ सो होऊ॥
> मिटि गयो मान परेखो ऊधो हिरदय हतो सो होऊ।
> सूरदास प्रभु गोकुल नायक चित-चिंता अब खोऊ॥४०॥

शब्दार्थ—रस लपट=रस का लोभी। वोऊ=वे भी, उन्हें भी। पठयो=भेजा। हुतोऊ=थे। मान परेखो=भरोसा।

व्याख्या—ऊधो और कृष्ण की स्वार्थपरता पर व्यंग्य करती हुई गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि सभी अपने अपने स्वार्थ के हैं। हे रस के लोभी मधुप ! चुप भी रहो। हमने तुमको भी देख लिया और उन्हें अर्थात् कृष्ण को भी। और जो कुछ संदेश उन्होंने और कहलवाया हो, उसे क्यों नहीं कह डालते ? तुम दोनों बड़े चतुर हो, स्त्रियों के लिए योग का उपदेश लिये फिरते हो। कृष्ण जी यदि ऐसे ही ज्ञानी थे तो उन्होंने हमारे साथ रास-लीलायें क्यों की थी ? रास-लीला करते समय उनका ज्ञान कहाँ चला गया था ? अब तो हमने अपने मन में यह दृढ़ निश्चय कर लिया है कि चाहे कुछ भी हो, हम कृष्ण के प्रेम से विमुख नहीं हो सकतीं। अब तो सब आशायें और भरोसे मिट गये और हमारा हृदय हताश हो गया है। किन्तु कोई बात नहीं। श्रीकृष्ण तो गोकुल के नायक हैं। अतः हम अब निश्चिन्त रहेंगी।

विशेष—प्रस्तुत पद में एक ओर कवि ने कृष्ण की स्वार्थपरता पर गोपियों द्वारा व्यंग्य करवाया है तो दूसरी ओर उनकी (गोपियों की) अटल प्रेम भक्ति का भी दिग्दर्शन किया है।

> बरु वै कुब्जा भलो कियो।
> सुनि सुनि समाचार ऊधो मो कछुक सिरात हियो॥
> जाको गुन, गहि, नाम, रूप, हरि हारयो, फिरि न दियो।
> तिन अपनो मन हरत न जान्यो हँसि हँसि लोग जियो॥
> सूर तनक चंदन चढ़ाय तन ब्रजपति बस्य कियो।
> और सकल नागरि नारिन को दासी दाँव लियो॥४१॥

शब्दार्थ—सिरात=ठंडा होना। हारयो=हर लिया। वस्यकियो=वश में

कर लिया।

व्याख्या—कृष्ण की निष्ठुरता पर व्यग्य करती हुई कोई गोपी उद्धव से कहती है कि कुब्जा ने कुछ अच्छा ही किया। इस बात के समाचार सुन सुन कर मेरा हृदय कुछ कुछ ठन्डा हो जाता है। कृष्ण ने जिसका भी गुण, गति, नाम तथा रूप अर्थात सब कुछ हर लिया उसे फिर कभी नही लौटाया। किन्तु जब उनका स्वय का मन कुब्जा ने हरा तो वे जान भी न पाये। इस बात को जान कर लोग हँसते हैं। दूसरो का मन हरने वालो के कुछ का मन हर लिया गया और उन्हें पता भी न चला, कितनी आश्चर्य और हँसी की बात है? देखो तो भला उस कुब्जा ने व्रज पति को थोडा सा चन्दन लगाकर अपने वश मे कर लिया। इस प्रकार सभी चतुरा स्त्रियो की ठगाई का दाँव उस दासी कुब्जा ने ले लिया।

विशेष—स्त्री हृदय की अपने प्रेमी की निष्ठुरता पर कितनी मार्मिक तथा हृदयस्पर्शी उक्ति है!

हरि काहे के अंतर्यामी ?
जो हरि मिलत नहीं यहि औसर, अवधि बतावत लामी ॥
अपनी चोप जाय उठि बैठे और निरस बेकामी ?
सो कह पीर पराई जानै जो हरि गरुडागामी ॥
आई उघरि प्रीति कलई सी जैसे खाटी आमी।
सूर इते पर अनख मरति हैं, ऊधो, पीवत मामी ॥४२॥

शब्दार्थ—लामी=लम्बी। चोप=चाह, चाव। बेकामी=निष्काम। अनख=कुढन। मामी पीना किसी बात को पी जाना, साफ मना कर देना।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि श्रीकृष्ण कैसे अन्तर्यामी हैं जो मिलने की इतनी लम्बी अवधि बता रहे है, इस समय आकर नही मिलते। वे स्वय अपनी इच्छा से ही नीरस और निष्काम होकर वहाँ जा बैठे हैं। गरुडवाहन कृष्ण दूसरो की व्यथा को भला क्या समझें? जैसे आम की खटाई से बर्तन की कलई छूट जाती है उसी प्रकार इस प्रवास से उनकी झूँठी प्रीति का पता भी हमे लग गया। सूरदास जी कहते हैं कि गोपियो ने ऊधो से कहा कि हम तो इस कुढन से और भी मरी जा रही है कि वे हमारे प्रेम से स्पष्टत मना कर रहे हैं।

विशेष—पाचवी पक्ति मे जो उपमा सूर ने दी है, वह उनके महानकवित्व की परिचायक है।

तुम जो कहत सँदेसो आनि।
कहा करौ वा नद नन्दन सों होत नहीं हित हानि ॥
जोग-जुगुति किहि काज हमारे जदपि महा सुख खानि ?
सने सनेह स्यामसुन्दर के हिलिमिलि कै मन मानि ॥
सोहत लोह परसि पारस ज्यों सुबरन बारह बानि।
पुनि यह चोप कहाँ चुम्बक ज्यों लटपटाय लपटानि ॥

रूप रहित निरासा निरगुन निगमहु परत न जानि।
सूरदास कौन विधि तासों अब कीजै पहिचानि।।४३।।

शब्दार्थ—आनि=आकर। हित-हानि=प्रेम का त्याग। जदपि=यद्यपि। बारहबानि=द्वादशवर्ण अर्थात सूर्य की भांति चमकने वाला, खरा।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हे ऊधो, तुमने जो यहाँ आकर हमें योग का संदेश दिया है (उसका मानना हमारा कर्त्तव्य है) किन्तु क्या करें, नदनंदन श्रीकृष्ण से जो हमें लगन लगी है, वह तो किसी प्रकार भी छूटती ही नहीं है। यद्यपि योग-युक्ति महान सुख की खान है किन्तु हमारे लिए यह किस काम की है? हम तो यहाँ श्यामसुन्दर के प्रेम में पगी हुई हैं और उन्हीं के मिलने से मन प्रसन्न होता है। योग में चाहे इससे भी श्रेष्ठ गति मिल जाय किन्तु वे ऐसा मिलन-सुख उसमें कहाँ? लोहा पारस के सयोग से खरा स्वर्ण बन जाता है किन्तु उसमें भी वह उमग से भरा प्रेम कहाँ है जिसके कारण वह चुम्बक से जाकर लिपट जाता है। तुम्हारा ब्रह्म तो निर्गुण है, निराकार है, निरीह है, अचिंतनीय है और शास्त्रों की समझ से भी परे है। उसका ज्ञान भला हमें विशेषकर अब जबकि हम कृष्ण में इतनी आसक्त हैं, कैसे हो सकता है?

विशेष—दृष्टान्त अलकार के प्रयोग ने गोपियों की उक्ति को तो सबल बना ही दिया है, साथ ही पद की शोभा भी बहुत बढ़ गई है।

हम तो कान्ह-केलि की भूखी।
कैसे निरगुन सुनहिं तिहारो बिरहिनि विरह-बिदूखी?
कहिए कहा यहो नहिं जानत काहि जोग है जोग।
या लागों तुमहीं सो वा पुर बसत बावरे लोग।।
अजन, अभरन, चीर, चारु बरु नेकु आप तन कीजै।
दंड, कमडल, भस्म, अधारी जो जुवतिन को दीजै।।
सूर देखि दृढ़ता गोपिन की ऊधौ यह ब्रत पायो।
कहै 'कृपानिधि' हो कृपाल हो! प्रेमै पढन पठायो।।४४।।

शब्दार्थ—केलि=रगरेलियाँ। बिदूखी=दुखी। काहि जोग=किस योग्य। पुर=नगर। अभरन=गहना।

व्याख्या—गोपियाँ कहती हैं कि हम तो कृष्ण के साथ रगरेलियाँ करने की भूखी हैं। विरह के दुःख से दुखी हम विरहिणी तुम्हारे निर्गुण को कैसे सुन सकती हैं? हम तुमसे क्या कहें जब तुम इतना भी नहीं जानते कि जोग का योग्य पात्र कौन है? हम तुम्हारे पैर छूकर तुमसे ही पूछती हैं क्या उस नगर में सब तुम जैसे ही पागल रहते हैं। शृंगार की सब सामग्री जैसे अजन, गहना और सुन्दर वस्त्र तनिक तुम ले लो और तुम अपने योग के सब साधन दण्ड, कमण्डल, भभूत और अधारी (साधुओं की लकड़ी) ब्रज-युवतियों को दे दो। भाव यह है कि जिस शृंगार की सामग्री योगियों के लिए अनुपयुक्त है उसी प्रकार हम प्रेमिकाओं के

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि तुम कृष्ण से जाकर कहना कि आपके संदेश में उत्तर में गोपियों ने आपकी कुशल-क्षेम पूछी है और कहा है कि तुम्हारी कही हुई बातें (योग की शिक्षा) वही मान सकता है जिसको बिल्कुल ज्ञान न हो। तुम्हारा नाम काला (कृष्ण) है, रूप भी काला (श्याम रंग) है और तुम्हारे सखा भी सब काले अंगो वाले हैं। यदि काले अच्छे होते तो वसुदेव जी तुम्हारे बदले लड़की को क्यों ले जाते ? हमारे लिए योग और कुब्जा के लिए भोग, भला यह बात किसे जँच सकती है ? गोपियाँ कहती हैं कि हमारी क्या बात है जिन नन्द यशोदा ने उन्हें विश्वास पूर्वक पाला पोसा वे ही स्वयं पछता रहे हैं।

विशेष—गोपियों का कहने का भाव यह है कि हमने तो उनसे पति रूप में ही प्रेम किया था। उनके माता पिता ने पाल-पोस कर उन्हें बड़ा किया था, उनको ही उन्होंने जब धोखा दे दिया तो हमारी तो बात ही क्या ?

अब कत सुरति होति है, राजन् ?
दिन दस प्रीति करी स्वारथ-हित रहत आपने काजन ॥
सबै अयानि भईं सुनि मुरली ठगी कपट की छाजन।
अब मन भयो सिंधु के खग ज्यों फिरि फिरि सरत जहाजन ॥
वह नातो टूटो ता दिन ते सुफलक सुत-सग भाजन।
गोपीनाथ कहाय सूर प्रभु कत मारत हौ लाजन ॥४७॥

शब्दार्थ—हित=हेतु। अयानि=अज्ञान। छाजन=स्वाँग। सरत=बढ़ता है। भाजन=भागना।

व्याख्या—कृष्ण की निष्ठुरता पर व्यंग्य करती हुई गोपियाँ कहती हैं कि अरे राजा साहब ! अब भला आप हमारी काहे को याद करोगे ? अपने स्वार्थ के हेतु थोड़े से समय के लिए ही आपने हमसे प्रेम किया था। वस्तुतः आप तो अपना मतलब पूरा करने में ही लगे रहे। क्या कहे, मुरली की ध्वनि सुनकर हम ही पागल हो गई थी। हम ही मूर्ख बन गई। यह तो अब ज्ञात हुआ कि आपके ये सब इनके कपटपूर्ण व्यवहार थे। पर हम करें भी क्या ? जिस प्रकार समुद्र का पक्षी इधर उधर भटक कर जहाज की शरण में ही आता है इसी प्रकार हमारा मन भी इधर उधर भटक कर आपकी (श्याम की) शरण में ही जाता है। किन्तु यह निश्चित है कि हमारे प्रेम का नाता तो उसी दिन टूट गया था कि जिस दिन श्याम अक्रूर के साथ चले गये थे। इस प्रकार नाता तोड़ कर भी न जाने श्याम अपना नाम गोपीनाथ रखकर हमे क्यों लज्जित कर रहे हैं ? नाम गोपीनाथ अर्थात् गोपियों के स्वामी किन्तु नाता रहा नहीं कुछ भी।

विशेष—चौथी पंक्ति में उपमा अलंकार की स्वाभाविकता देखने योग्य है।

लिखि आई ब्रजनाथ की छाप।
बाँधे फिरत सीस पर ऊधो देखत आवै ताप ॥
नूतन रीति नंदनंदन की घर घर दीजत थाप।

हरि आगे कुब्जा अधिकारी, ताते है यह दाप ॥
आए कहन जोग अवराधो अविगत-कथा की जाप।
सूर संदेसो सुनि नहिं लागै कहौ कौन को पाप ॥४८॥

शब्दार्थ—छाप=मुहर, चिन्ह । ताप=बुखार । दाप=गर्व ।

व्याख्या—उद्धव द्वारा लाए हुए संदेश-पत्र पर व्यंग्य करती हुई गोपियाँ कहती हैं कि भाई देखो इस पत्र पर तो श्रीकृष्ण की मुहर लगी हुई है (वास्तव में यह ऊधो की मनगढन्त नहीं है)। इसे ऊधो अपने सिर पर बांधे घूम रहे हैं अर्थात उपदेश देते फिर रहे हैं। हमे तो इसे देखते ही बुखार चढ़ रहा है। आज जिसकी घर घर स्थापना की जा रही है वह नन्दनन्दन की एक नयी रीति है। अब कृष्ण के यहाँ कुब्जा का अधिकार है इसीलिये तो यह गर्व दिखायी पड़ रहा है। उसी के शासन से तो ये उद्धव जी हमसे योग की आराधना तथा अज्ञात का जाप करने को कहने आये हैं। सूरदास जी कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि तुम्हारे इस संदेश को सुनकर भला कौन ऐसी सती होगी जिसे पाप नहीं लगेगा? कहने का भाव यह है कि सच्चे प्रेमी के लिए किसी अन्य से प्रेम करना तो दूर रहा, उसका सुनना भी पाप है।

विशेष—तुलसीदास जी का विचार भी देखिये "कुछ ऐसा ही है—
'उत्तम के अस बस मन माहीं।
सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं॥'

कहाँ लौं कीजै बहुत बड़ाई।
अतिहि अगाध अपार अगोचर मनसा तहाँ न जाई॥
जल बिनु तरग, भीति बिनु चित्रन, बिन चित ही चतुराई।
अब ब्रज में अनरीति कछू यह ऊधो आनि चलाई॥
रूप न रेख, बदन, बपु जाके संग न सखा सहाई।
ता निर्गुन सों प्रीति निरंतर क्यों निबहै, री माई?
मन चुभि रही माधुरी मूरति रोम रोम अरुझाई।
हौं बलि गई सूर प्रभु ताके जाके स्याम सदा सुखदाई॥४९॥

शब्दार्थ—बदन=मुख। बपु=शरीर। सहाई=सहायक।

व्याख्या—उद्धव के बेतुके उपदेश देने पर गोपियाँ कहती है कि उद्धव जी, आपकी कहाँ तक बड़ाई की जावे? हे ऊधो जी! आपने व्रज मे आकर यह कैसी अनरीति चलाई है कि अगम्य, अपार और अगोचर ब्रह्म का उपदेश दे रहे हो जहाँ कि मन की भी पहुँच नही है। यह तो उसी प्रकार की बात हुई जैसे बिना पानी के तरग, बिना किसी भीति अर्थात आधार के चित्र और बिना चित्त के चतुरता। जिसके रूप, रेखा, शरीर और मुख कुछ भी नहीं है और न कोई सखा अथवा सहायक है, भला उस निर्गुण से लगातार प्रेम कैसे निभ सकता है? हमारे चित्त में तो वह माधुर्यमयी मूर्ति चुभ रही है जो हमारे रोम रोम से उलझ रही है। हम तो उन पर

ही बलिहारी जाते हैं जिन्हें श्याम सदैव भाते हैं।

विशेष—दूसरी पंक्ति में वृत्यानुप्रास अलंकार की छटा दर्शनीय है।

> काहे को गोपीनाथ कहावत ?
> जो पै मधुकर कहत हमारे गोकुल काहे न आवत ?
> सपने की पहिचानि जानि कै हमहिं कलंक लगावत।
> जो पै स्याम कूबरी रीझे सो किन नाम धरावत ?
> ज्यों गजराज काज के औसर औरे दसन दिखावत।
> कहन सुनन को हम हैं ऊधो सूर अनत बिरमावत॥५०॥

शब्दार्थ—धरावत=धारण किया। बिरमावत=रमना। अनत=अन्यत्र।

व्याख्या—कृष्ण की उदासीनता एवं निष्ठुरता पर व्यंग्य करती हुई गोपियाँ कहती हैं कि यदि कृष्ण हमसे अपना सम्बन्ध तोडना ही उचित समझते हैं तो फिर उन्होने अपना नाम गोपीनाथ क्यों रखा है ? हे उद्धव, यदि वे हमारे कहलाते हैं तो फिर गोकुल क्यों नही आते ? यदि हमसे स्वप्न की सी ही जान-पहचान मात्र थी अर्थात् वास्तविक प्रेम नही था तो फिर हम पर अपने सम्बन्ध का यह कलंक क्यों लगा रहे हैं ? (गोपीनाथ से तो यही प्रकट होता है कि वास्तव मे वे हमारे पति हैं)। जब हमसे वे कुछ सम्बन्ध रखते नही हैं तो फिर हम पर यह व्यर्थ का कलंक ही तो रहा। यदि उनका कुबडी पर ही अनुराग है तो वे अपना नाम कुब्जानाथ क्यों नहीं रखवाते, गोपीनाथ क्यो रखवा रखा है ? उनका यह व्यवहार तो उस हाथी के समान हुआ जिसके दाँत खाने के और होते हैं और दिखाने के कुछ और। कहने सुनने को तो हम हैं उनकी किन्तु वे रमते और कही ही हैं। हमारे नाम की आड में प्रेम कर रहे हैं कुब्जा से।

विशेष—दृष्टान्त अलंकार के प्रयोग ने गोपियों के कथन को अधिक बल-शाली बना दिया है।

> हमको हरि की कथा सुनाव।
> अपनी ज्ञान कथा हो, ऊधो ! मथुरा ही लै गाव॥
> नागरि नारि भले बूझेंगी अपने बचन सुभाव।
> पा लागों, इन बातनि, रे अलि ! उनहीं जाय रिझाव॥
> सुनि प्रिय सखा स्याम सुन्दर के जो पै जिय सति भाव।
> हरि मुख अति आरत इन नयननि बारक बहुरि दिखाव॥
> जो कोउ कोटि जतन करै, मधुकर, बिरहिनि और सुहाव।
> सूरदास मीन को जल बिनु नाहिन और उपाव॥५१॥

शब्दार्थ—सुनाव = सुनाओ। सति भाव = सत्यभाव सद्भावना। [सु]हात=सुहाता है। उपाव=उपाय।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हे ऊधो, हमे तो तुम कृष्ण की ही [कथ]ा सुनाओ। यह अपनी ज्ञान-चर्चा तो मथुरा ही ले जाकर गाना। वहाँ की नागरी

स्त्रियाँ इसका मूल्य ठीक जाँच सकेंगी। हम तुम्हारे पैर छूती हैं। अपने इस उपदेश को उन्ही को जाकर सुनाओ और अपनी इन मीठी बातों से उन्ही को मोहित करो। हे कृष्ण के प्रिय सखा, यदि वास्तव में तुम्हारे हृदय में हमारे लिये सद्‌भावना है तो हमारे इन दुःखी नेत्रो को तो श्रीकृष्ण के मुख का दर्शन ही एक बार फिर कराओ। हे भौरे! चाहे कोई कितना ही प्रयत्न करे किन्तु क्या विरहिणियो को और कोई चर्चा अच्छी लग सकती है अर्थात् बिलकुल नही (उन्हे तो अपने प्रेमी की ही चर्चा अच्छी लग सकती है)। सूरदास जी कहते हैं कि गोपियो ने कहा कि मछली के जीवन के लिये तो जल के अतिरिक्त और कोई उपाय ही नहीं है।

विशेष—प्रस्तुत पद मे गोपियों की अटल प्रेम-भक्ति दर्शनीय है।

अलि हो! कैसे कहौं हरि के रूप-रसहि ?
मेरे मन मे भेद बहुत बिधि रसना न जानै नयन की दसहि ॥
जिन देखे ते आहि बचन बिनु, जिन्हें बचन दरसन न तिसहि।
बिन बानी भरि उमगि प्रेम जल सुमिरि वा सगुन-जसहि ॥
बार-बार पछितात यहै मन कहा करै जो बिधि न बसहि।
सूरदास अगन की यह गति को समुझावै या छपद पसुहि ?॥५२॥

शब्दार्थ—दसहि=दशा को। तिसहि=उसे। बसहि=वश में। छपद पसुहि =भौरा।

व्याख्या—श्रीकृष्ण की रूपमाधुरी के रस की अनिर्वचनीयता का वर्णन करती हुई गोपियाँ कहती हैं कि हे भौंरे! कृष्ण की रूप-माधुरी के रस को किस प्रकार वर्णन किया जाय ? मेरे शरीर मे बहुत सारे रहस्य हैं जिनमे से एक यह भी है कि मेरी जिह्वा नेत्रो की दशा नही जानती। जिन नेत्रो ने उन्हें देखा है वे वाणी से विहीन हैं अर्थात् वे कुछ कह नही सकते। जिह्वा जो बोल सकती है उसने उसके दर्शन नही किये हैं। वाणी का अभाव होने के कारण ये नेत्र उन सगुण प्रभु के दर्शन की याद करके प्रेम-जल से परिपूर्ण रहते हैं। मन बार बार यही पश्चाताप करता रहता है कि विधि या भाग्य पर किसी का वश नही चलता। सूरदास जी कहते हैं कि गोपियो ने कहा कि अपने अगो की यह दशा इस छः पैर वाले मधुप को कौन समुझावै ?

विशेष—तुलसी ने भी नयन और वाणी की यही असमर्थता निम्न शब्दों में व्यक्त की है—

'गिरा अनयन नयन बिनु पानी।'

फिरि फिरि कहा सिखावत बात ?
प्रातकाल उठि देखत, ऊधो, घर घर माखन खात ॥
जाकी बात कहत हौ हमसों सो है हम सों दूरि।
ह्वाँ है निकट जसोवा नन्दन प्रान-सजीवन मूरि ॥

बालक संग लये दधि चोरत खात खवावत डोलत।
सूर सीस सुनि चौंकत नावहिं अब काहे न मुख बोलत ?५३॥

शब्दार्थ—ह्यां=यहाँ। सीस=सिर पर, निकट। मुख बोलत=बोलना।

व्याख्या—उद्धव के निरन्तर समझाने पर भी गोपियाँ कहती हैं कि हे ऊधो! आप बार-बार हमे क्या शिक्षा दे रहे है ? आप सम्भवत. हमको विरह व्यथा से पीडित देखकर कुछ सहानुभूति करके यह उपदेश दे रहे हैं। किन्तु आपको ज्ञात होना चाहिये कि हम प्रतिदिन उन्हे घर-घर माखन खाते हुए देखती हैं। तुम जिस निर्गुण की बात हम से करते हो वह तो हम से बहुत दूर है। हमारे प्राणो की सजीवन यशोदा नन्दन वस्तुत हमारे बहुत समीप है। हमे तो आज भी वे ग्वाल बालो के साथ दही चुराते और उन्हे खवाते डोलते दिखाई देते है और हमे देख कर या आहट सुनकर वे चौक कर सिर झुकाये दिखाई पडते हैं। हे ऊधो! अब बताओ तुम, हमारे प्रेम मे वियोग का क्या भय रहा ? अब तुम क्यो नही बोलते ?

विशेष—अब उद्धव जी के निर्गुन भगवान ही क्या करेंगे। जब गोपियो को मथुरा मे बैठे कृष्ण गोकुल मे माखन खाते दिखाई दे रहे है। वस्तुत कृष्ण की स्मृति उनके हृदय मे कुछ ऐसी गड गई है कि वह उनकी अनुपस्थिति मे भी उनके (गोपियो के) सामने उन्हें सदैव उपस्थित रखती है।

अपने सगुन गोपालै, माई! यह बिधि काहे देत ?
ऊधो की ये निरगुन बातें मीठोई कैसे लेत।
धर्म, अधर्म कामना सुनावत सुख औ मुक्ति समेत॥
काकी भूख गई मन लाडू सो देखहु चित चेत।
सूर स्याम तजि को भुस फटकै मधुप तिहारे हेत ?५४॥

शब्दार्थ—मनलाडू=मन के मोदक। भुस फटकै=भूसी मे से कुछ सार निकालने का प्रयत्न कर।

व्याख्या—निर्गुण के समक्ष सगुण की श्रेष्ठता प्रमाणित करती हुई गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि हे ऊधो, हमारे तो सगुण गोपाल हैं फिर ब्रह्मा जी हमारे लिये यह निर्गुण ब्रह्म बरबस क्यो भेज रहे हैं ? हम अपने सगुण गोपाल को आपकी निर्गुण के विषय मे की हुई चिकनी चुपडी बातो के बदले मे कैसे दे सकती हैं ? यद्यपि आप धर्म, अधर्म और कामना आदि की बात सुना कर सुख और मुक्ति के दाता बने हुए हैं किन्तु तो भी हमारी समझ मे आपकी बात नही आती। तनिक सोचो तो सही कि भला मन के मोदक खाकर किसकी भूख शान्त होती है ? (अर्थात् योग की बातो मात्र से हमारा कार्य नही चलेगा)। सूरदास जी कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि कृष्ण को छोडकर भूसी फटक कर कुछ सार निकालने के समान आपके निर्गुण को भजने का कौन प्रयत्न करे ? अर्थात् आपके निर्गुण में से बहुत कुछ प्रयत्नो के बाद कुछ सार निकल भी आया तो वह किस काम का ?

विशेष—लोकोक्ति अलंकार ने गोपियों के कथन को अधिक बलशाली बना दिया है।

> प्रेम रहित यह जोग कौन काज गायो ?
> दीनन सों निठुर बचन कहे कहा पायो ?
> नयनन निज कमल नयन सुन्दर मुख हेरो।
> मूंदत ते नयन कहत कौन ज्ञान तेरो ?
> तामें कहु मधुकर! हम कहा लैन जाहीं।
> जामें प्रिय प्राननाथ नंद नन्दन नाहीं ?
> जिनके तुम सखा साधु बातें कहुँ तिनकी।
> जीवें सुनि स्याम कथा दासी हम जिनकी॥
> निरगुन अबिनासी गुन आनि आनि भाखौ।
> सूरदास जिय के जिय कहां कान्ह राखौ ?५५॥

शब्दार्थ—काज=कार्य। कमल नयन=कृष्ण। भाखौ=कहना। कान्ह=कृष्ण।

व्याख्या—नीरस योग और सरस प्रेम का अन्तर स्पष्ट करती हुई गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि आपका प्रेम से रहित इस योग की कथा का गान करना व्यर्थ है। हम विरह से व्यथित गोपियों के सम्मुख योग के निष्ठुर वचन कह कर भला तुमने क्या पाया ? जिन नेत्रों से हमने अपने कमल नयन श्रीकृष्ण के सुन्दर मुख के दर्शन किये हैं तुम उन्ही नेत्रों को हम से बन्द करने की बात कहते हो, यह तुम्हारा कौन सा ज्ञान है ? भला नेत्र बन्द करने से हमको क्या प्राप्त हो जायगा, कहने का आशय यह है कि जिस परम तत्व का दर्शन योगी नेत्र बन्द करके करता है हमने तो उसके दर्शन खुले नेत्रों से ही कर लिये हैं फिर इन्हे बन्द करने से क्या लाभ होगा ? अरे भ्रमर, जिसमे हमारे प्राणनाथ नन्दनन्दन नही है, उससे हमें लेना ही क्या है ? हमसे तो तुम उनकी बातें करो जिनके तुम सखा हो और जिनकी हम दासियाँ हैं। उनकी कथा सुनना ही हमारा जीवन है। जब तुम अविनाशी तथा निर्गुन ब्रह्म के अन्यान्य गुणों का वर्णन करते हो तो हमारे प्राणों के प्राण उन कृष्ण को कहाँ छिपाये रखते हो ?

विशेष—वस्तुतः योगियों के नेत्र बन्द करके उस परम तत्व के दर्शन करने की अपेक्षा गोपियों द्वारा खुले नेत्रों से दर्शन करना सरल एवं ग्राह्य है।

> जनि चालो, अलि, बात पराई।
> ना कोउ कहै सुनै या ब्रज में नइ कीरति सब जाति हिराई॥
> बूझै समाचार मुख ऊधो कुल की सब आरति बिसराई।
> भले संग बसि भई भली मति, भले मेल पहिचान कराई॥
> सुन्दर कथा कटुक सी लागति उपजत उर उपदेस खराई।
> उलटी नाव सूर के प्रभु को बहे जात माँगत उतराई॥५६॥

शब्दार्थ—नइ=नीति। जाति=खो जाती है। आरति=दुख। खराई=खारापन।

व्याख्या—योग को पराया होने के कारण अनुपयुक्त बताती हुई गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि योग हमारे लिये पराया है और परायी बातों को कहने से क्या लाभ ? इस सब बात को ब्रज में न कोई कहता है और न कोई सुनता है ? तुम्हारी यह सब नयी कीर्ति समाप्त हुई जाती है। कहने का भाव यह है कि पुरानी जमी हुई कीर्ति को तो जाने मे विलम्ब लगता है किन्तु ऊद्धव की यह कीर्ति तो नयी है, इसके जाने में देर नहीं लग सकती। अतः अच्छा हो यदि इस निर्गुण गाथा को ऊधो न कहे गोपियाँ कहती हैं कि हमे तो तुम अपने मुख से यह समाचार सुनाओ कि कुल की व्यथा उन्हें कैसे भूल गई ? भले लोगो का साथ हुआ उनका जो उन्हें यह भली मति प्राप्त हुई। तुम्हारी यह सुन्दर कहानी हमें कड़वी लगती है और तुम्हारा यह उपदेश हमारे हृदय में खारापन उत्पन्न कर रहा है। सूरदास जी कहते हैं कि गोपियों ने कहा ! आपके मित्र कृष्ण भगवान के यहा कैसा अजीब न्याय है कि बहे जाने वालों से भी उतराई का तकाजा किया जा रहा है ? मतलब यह कि प्रेमधारा में बहे जाने वालो से निर्गुण के अपनाने की बात कहना ऐसा ही है जैसा कि बहे जाने वालों से मल्लाहो द्वारा उतराई का तकाजा करना।

विशेष—'तुष्यनुदुर्जन.' न्याय से यद्यपि योग उत्तम माना जाता है किन्तु गोपियों को उसे पराया कह कर अनुपादेय बताना भी कम न्याय सगत नहीं है। लोकोक्ति अलकार की छटा भी दर्शनीय है।

> हमारे हरि हारिल की लकरी।
> मन बच क्रम नद नन्दन सों उर यह दृढ़ करि पकरी॥
> जागत सोवत, सपने सौतुख कान्ह कान्ह जकरी।
> सुनतहि जोग लगत ऐसो अलि ! ज्यों करुई ककरी॥
> सोई व्याधि हमें लै आए देखी सुनी न करी।
> यह तो सूर तिन्हें लै सौंपो जिनके मन चकरी॥५७॥

शब्दार्थ—हारिल=एक पक्षी जो प्राय पंजुल में कोई लकड़ी या तिनका लिये रहता है। सौतुख=प्रत्यक्ष। जक=रट, धुन। चकरी=चकई, चकई नामक खिलौने की भाँति चचल।

व्याख्या—सगुण में अपनी दृढता दिखाती हुई गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि जैसे हारिल पक्षी का यह व्रत है कि वह पृथ्वी पर अपना पैर नहीं रखती। वृक्ष, लता आदि के आधार के अभाव में वह अपने पंजुल में दबी लकड़ी के आधार पर ही अपने अटल व्रत का निर्वाह करती है और जीते जी उस लकड़ी को नहीं बिसारती उसी प्रकार हमने भी हरि को पकड़ रखा है और हम जीते जी उन्हें नहीं छोड़ सकतीं। हमने तो अपने हृदय में मनसा वाचा कर्मणा से हरि को ही दृढ़ता से जमा रखा है। सोते-जागते, स्वप्न और प्रत्यक्ष में सदा कृष्ण के ही दर्शन और उन्हीं की

रट रहती है। हे भौंरे, तुम्हारी जोग की बातें सुनने में ऐसी लगती हैं जैसे कड़वी ककड़ी। तुम तो योग रूपी ऐसी व्याधि हमारे लिये लाये हो कि जिसको न हमने पहले कभी सुना था और न कभी जिसका अनुमान ही किया था। सूरदास जी कहते हैं कि गोपियो ने उद्धव से कहा कि यह तो तुम उन्हे ही ले जाकर दे दो जिनका मन चरई की भांति चचल है। हम तो अत्यन्त दृढ हृदय वाली हैं। हम पर कृष्ण के अतिरिक्त और किसी का प्रभाव पड ही नही सकता।

विशेष—'उपमा' अलकार के संयोग ने गोपियो के कथन को अधिक बलशाली बना दिया है, साथ ही पद की शोभा भी द्विगुणित हो गई है।

फिरि फिरि कहा सिखावत मौन ?
दुसह वचन अलियों लागत उर ज्यों जारे पर लौन ॥
सिंगी, भस्म, त्वचामृग, मुद्रा, अरु अवरोधन पौन।
हम अबला अहीर, सठ मधुकर ! घर बन जानैं कौन ॥
यह मत लै तिनहीं उपदेसौ जिन्हैं आजु सब सोहत।
सूर आज लौं सुनी न देखी पोत सूतरी पोहत ॥५८॥

शब्दार्थ—जारे=जले हुए। लोन=नमक। अवरोधन=प्राणायाम। पोत=माला की गुरिया।

व्याख्या—अपनी मनोदशा का सम्यक् वर्णन करने पर भी जब उद्धव का योगोपदेश का क्रम जारी रहा तो गोपियाँ झल्ला उठी और उससे कहने लगी कि तुम बार-बार हमे मौन की शिक्षा क्यो दे रहे हो ? तुम्हारे ये कठोर उपदेश हमे ऐसे प्रतीत हो रहे हैं जैसे कोई जले पर नमक छिडक रहा हो। सिंगी फूँकना, भस्म रमाना, मृगछाला और मुद्राओं का धारण करना और प्राणायाम का साधन तो योगियो के लिए ही उचित है। मन की शुद्धि तथा एकाग्रता के लिए, ये योगियो के लिए ही आवश्यक साधन हैं। हे मूर्ख भौंरे, हम तो गँवार अहीर अबलाएँ हैं। भला हमे ये साधन कैसे फब सकते हैं ? ज्ञानी इन्हे सुख और दुख मे सम भावना रखने के हेतु अपनाते हैं। वे वैरागी बनना चाहते हैं। हमे यह भावना वैसे ही प्राप्त है। हमारे लिए घर और वन मे कोई भेद वैसे ही नही है। हमारे लिए तो सब भूमि गोपाल की ही है। अतः उद्धव महाराज, यह उपदेश तो तुम उन्ही को दो जो सब प्रकार से सुशोभित हैं। सूरदास जी कहते हैं कि गोपियो ने कहा कि आज तक हमने तो माला के दानो को सुतरी मे पिरोने वाला न तो देखा और न सुना।

विशेष—'मौन' योग का उपलक्षण है। वाणी का सयम करने के लिए योगी लोग मौन साधन करते हैं। इसी मौन की ओर सकेत करके गोपियों ने उद्धव जी से योग के विषय मे कहा है।

मोहिं अलि दुहूँ भाँति फल होत।
तब रस-अधर लेति मुरली, अब भई कूबरी सौत ॥

तुम जो जोगमत सिखवन आये भस्म चढावन अग।
इन विरहिन मे कहूँ कोउ देखी सुमन गुहाये मग ?
कानन मुद्रा पहिरि मेखली धरे जटा आधारी।
यहाँ तरल तरिवन कहूँ देखे अरु तनसुख की सारी॥
परम वियोगिनी रटति रैन दिन धरि मन मोहन-ध्यान।
तुम तो चलो वेगि मधुबन को जहाँ जोग को ज्ञान॥
निसदिन जीजतु है या ब्रज मे देखि मनोहर रूप।
सूर जोग लै घरघर डोलौ, लेहु लेहु धरि सूप॥५६॥

शब्दार्थ—मग=माँग। तरल=चचल। तरिवन=कान का गहना। तनसुख=एक कपडा।

व्याख्या—गोपियाँ कहती हैं कि हे अलि, हमे तो सयोग और वियोग दोनों दशाओ मे एक ही फल प्राप्त होता है। जब कृष्ण यहाँ थे तब उनके अधरो के अमृत रस को लेने वाली मुरली थी और अब वियोग मे कुबरी सौत उनके अधरामृत के पान करने की अधिकारिणी है। तुम तो इन विरहिणियो को योग सिखाने आए हो और अगों पर भस्म चढाने को कह रहे हो। भला बताओ, क्या इनमें से किसी की माँग मे तुमने फूल गुहाए देखा है ? ये सब तो पोषित पतिकाएँ हैं अत केशो को सजाने से कोसों दूर हैं। तुम इन्हे कानो मे योगियों की-सी मुद्रा, मेखला और जटाओ के धारण करने का उपदेश दे रहे हो और इनसे कहते हो साधुजनो जैसा दण्ड धारण करने को, तो क्या तुमने यहाँ किसी को चमकते हुए कर्णफूल और तनसुख की झीनी साडी पहने देखा है ? ये तो सब वियोगिनियाँ हैं, शृगार से बहुत दूर रहकर दिन-रात मनमोहन का ध्यान कर उन्हे ही रटती रहती हैं। अत यहाँ आपका उपदेश देना व्यर्थ है। आपको शीघ्र ही मथुरा चला जाना चाहिये जहाँ योग के पारखी आपके योग ज्ञान की कद्र करेंगे। यहाँ ब्रज मे तो दिन-रात श्यामसुन्दर का वही मनोहर रूप अब भी चारो ओर जागता दिखाई पडता है। सूरदास जी कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि हे उद्धव, तुम सूप म जोग रखकर जो घर-घर घूम रहे हो और चिल्ला रहे हो कि योग ले लो, योग ले लो, सब व्यर्थ है क्योकि यहाँ तुम्हारे योग का कोई ग्राहक नही है।

विशेष—वस्तुत यह कथन अक्षरश सत्य है कि जो जिस वस्तु के गुणों की परख जानता है वही उसका आदर करता है। कहा भी है—

नवेत्तियो यस्य गुण प्रकर्ष स तस्य निन्दां सतत करोति।
यथा किराती करिकुम्भजातां मुक्तां परित्यज्य बिभर्ति गुजाम्॥

बिलग जनि मानो हमरी बात।
डरपति बचन कठोर कहति, मति बिनु पति यों उठि जात॥
जो कोउ कहत जरे अपने कछु फिरि पाछे पछितात।
जो प्रसाद पावत तुम ऊधो कृस्न नाम लै खात॥

मन जु तिहारो हरि चरनन तर अचल रहत दिन रात।
'सूर स्याम ते जोग अधिक' केहि कहि आवत यह बात ?॥६०॥

शब्दार्थ—पति यों उठि जात=मर्यादा जाती रहती है। जरे अपने=अपना जी जलने पर। तर=नीचे। बिलग जनि मानो=बुरा मत मानना।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि ऊधो जी, तुम हमारी बात का बुरा मत मानना। हमे कठोर बात कहने में कुछ भय-सा प्रतीत हो रहा है। बात यह है कि मति अर्थात् विवेक के बिना मर्यादा नष्ट हो जाती है। यदि कोई किसी के जले पर कुछ कहता है तो वह पीछे पश्चात्ताप करता है। भाव यह है कि पीडित व्यक्ति को आवश्यकता है सहानुभूति के दो शब्दो की। उसे ज्ञान और धर्म का उपदेश नही चाहिये। हम कृष्ण से प्रेम करती है, तो क्या यह कुछ पाप है ? आप भी तो कृष्ण के नाम के प्रताप से ही प्रतिष्ठा प्राप्त किये हुए हो और खाते-कमाते हो। आपका मान भी तो दिन-रात श्री कृष्ण के चरणों मे ही लगा रहता है। बडा आश्चर्य है कि फिर भी तुम्हारे मुख से यह बात कैसे निकल आती है कि कृष्ण से योग महान् है। एक प्रकार से यह तो तुम्हारा उनके प्रति बडा भारी अन्याय और कृतघ्नता है।

विशेष—ऊधो कृष्ण के सखा थे। वे दिन-रात उनके चरणो मे ही पडे रहना चाहते थे। उनकी जो कुछ भी प्रतिष्ठा तथा आवभगत थी वह थी केवल कृष्ण-सखा होने के कारण। वे जब योग को कृष्ण से बडा बताने लगे तो गोपियो का आश्चर्य प्रकट करना कुछ आश्चर्य की बात नही।

याकी सीख सुनै ब्रज को, रे ?
जाकी रहनि कहनि अनमिल, अलि, कहत समुझि अति थोरे॥
आपुन पद-मकरद सुधारस हृदय रहत नित बोरे।
हमसों कहत बिरस समझौ, है गगन कूप खनि खोरे॥
धान को गाँव पयार ते जानौ ज्ञान विषय रस भोरे।
सूर सो बहुत कहे न रहै रस गूलर को फल फोरे॥६१॥

शब्दार्थ—याकी=इनकी। अनमिल=विपरीत। खोरे=नहाये। फोरे=फोडने खोलने। पयार=पयाल अर्थात् पके हुए धान के डठल।

व्याख्या—उद्धव की कथनी एव करनी में अन्तर स्पष्ट करते हुए तथा उनके उपदेश की निस्सारता का प्रतिपादन करते हुए गोपियाँ उससे कहती हैं कि ब्रज मे इसकी शिक्षा भला कौन सुनने वाला है ? हमारे थोडे से कहने से ही सब समझ जाओ कि इसके रहन-सहन और कथन मे कितना अन्तर है ? स्वय तो अपने हृदय को उनके चरणामृत मे डुबोये रहते हैं और हमे उसे नीरस बता कर निगुर्ण की साधना द्वारा आनन्द प्राप्त करने का उपदेश देते हैं। यह तो कुछ ऐसी बात हुई कि जैसे कोई आकाश मे कुआँ खोद कर स्नान करने की इच्छा करे। तुम जैसे वैरागी हो वह तो हम जानती हैं। धानो का गाँव पके हुए धान के डठलो से मालूम हो

जाता है। ज्ञान तो विषयो के आनन्द से विरक्त रहता है। किन्तु एक तुम ज्ञानी हो कि जो उनके चरणामृत का आनन्द ले रहे हो और हमें योग का उपदेश दे रहे हो। सूरदास जी कहते हैं कि गोपियो ने कहा कि बस जाओ रहने दो, अधिक कहने से क्या लाभ, गूलर के फल को फोडने से कीडे ही कीडे निकलते हैं जिससे घृणा हो जाती है।

विशेष—लोकोक्ति अलकार के सुन्दर एव स्वाभाविक प्रयोग ने गोपियो के कथन में तो तीव्रता एव प्रभावोत्पादकता ला ही दी है, साथ ही पद की शोभा को भी बहुत अधिक बढा दिया है।

निरखत अक स्यामसुदर के बार बार लावति छाती।
लोचन-जल कागद-मसि मिलि कै ह्वै गई स्याम स्याम की पाती॥
गोकुल बसत सग गिरिधर के कबहुँ बयारि लगी नहि ताती।
तब की कथा कहा कहों ऊधो, जब हम बेनुनाद सुनि जाती॥
हरि के लाड गनति नहि काहू निसिदिन सुदिन रास समाती।
प्राननाथ तुम कब धौ मिलोगे सूरदास प्रभु बाल सघाती॥६१॥

शब्दार्थ—निरखत=देखकर। बयारि=हवा। ताती=गरम। बेनुनाद=वशी की ध्वनि। बाल सघाती=बाल्यकाल के साथी।

व्याख्या—सूरदास जी कहते हैं कि कृष्ण के पत्र के अक्षरो को देख-देखकर गोपिकायें बार बार उन्हे हृदय से लगाती हैं, किन्तु नेत्रो से बहने वाली आँसुओ की धारा ने पत्र पर गिर कर स्याही को फैला दिया है जिससे सारा पत्र काले र का हो गया है और उन्हें इस प्रकार पत्र में भी कृष्ण ही दिखाई पड रहे है। वे विगत स्मृतियो को याद कर कहन लगीं कि जब कृष्ण गोकुल में थे तब हमे कभी भी गर्म हवा न लगी अर्थात् हमे उस समय पूर्ण शान्ति और सुख प्राप्त होता था तथा लम्बी लम्बी उसासें लेनी नही पडती थी। हे उद्धव, हम तुमसे भी इस बात को क्या छिपावें कि उस समय हम इतनी भोली थी कि मुरली की ध्वनि सुनते ही कृष्ण के पास पहुँच जाती थी और उनके प्रेम में किसी को भी कुछ नहीं समझती थी तथा सदैव दिन रात रसिक कृष्ण के प्रेम में ही लीन पडी रहती थी। किन्तु अब न जाने हमारे बचपन के साथी प्राणप्रिय कृष्ण कब मिलेंगे?

विशेष—(i) पत्र ने अपना गुण त्याग कर श्यामता ग्रहण कर ली है इसलिए तद्गुण अलकार है।

(ii) गिरिधर को यदि साभिप्राय माना जाय तो परिकरांकुर अलकार भी है।

अपनी सी कठिन करत मन निसिदिन।
कहि कहि कथा, मधुप, समुझावति तदपि न रहत नदनदन बिन॥
बरजत श्रवन सँदेस, नयन जल, मुख बतियाँ कछु और चलावत।
बहुत भाँति चित धरत निठुरता सब तजि और यहै जिय आवत॥

कोटि स्वर्ग सम सुख अनुमानत हरि समीप-समता नहिं पावत।
थकित सिंधु नौका के खग ज्यों फिरि फिरि फेरि वहै गुन गावत॥
जे बासना न बिदरत अन्तर तेइ तेइ अधिक अनूअर दाहत।
सूरदास परिहरि न सकत तन बारक बहुरि मिल्यो है चाहत॥६३॥

शब्दार्थ—अपनी सी=अचानक। विदरत=फटना। अतर=हृदय। अनूअर=लगातार।

व्याख्या—प्रयत्न करने पर भी जब गोपियाँ अपने को श्री कृष्ण से ही अनुरक्त पाती हैं तो वे उद्धव से कहती हैं कि हे मधुप, हम यथा शक्ति अपने मन को बहुत कठोर बनाती हैं। अनेक प्रकार की कथायें कह कहकर अपने मन का प्रबोध देती हैं फिर भी वह नदनदन के बिना नही रहता। हम कानो म उनका सदेश नही पडने देती, नेत्रो के आँसुओ को भी दबाती हैं और मुख से कुछ अन्य बातें भी चलाती हैं जिसमे मन उनकी ओर न जाय। मन मे बहुत प्रकार की कठोरता लगा कर भी हम देखती हैं कि मन सब कुछ छोड कर यही निश्चय करता है कि जो सुख हरि के समीप रहने से प्राप्त होता है वह सुख करोडो स्वर्ग के सुख की कल्पना करके भी प्राप्त नहीं हो सकता। सागर मे चलने वाली नाव का पक्षी जिस प्रकार चक्कर काटकर थक कर फिर नाव पर ही आकर बैठता है उसी प्रकार हमारा मन इधर-उधर भटक कर उन्हीं के गुण गाकर उन्ही की भक्ति मे आश्रय प्राप्त करता है। हमारे हृदय मे उनसे मिलने की एक ऐसी कामना पैदा होती है जिससे हमारा हृदय लगातार जलता रहता है। बस एक कसर रह जाती है और वह यह कि हृदय फटता नही। सूरदास जी कहते हैं कि गोपियो ने कहा कि यह व्यथा मरणदायक है किन्तु फिर भी हम इस बात का प्रयत्न करती हैं कि अभी हमारा शरीर न छूटे क्योकि अभी हम उनसे एक बार और मिलने की इच्छा रखती हैं।

विशेष—(1) एक बार सच्चा प्रेम होने पर फिर किसी प्रकार भी उस प्रेम-मार्ग से नही हटा जा सकता। गोपियाँ प्रयत्न करती है कि वे बेचारे ऊधो का मार्ग ग्रहण करलें, कृष्ण को भूल जाय किन्तु भला यह सभव ही कहाँ था?

(11) मिलन की आशा मरणदायक व्यथा को भी सहन करने की शक्ति दे देती है। इसीलिए गोपिकाएँ ऐसी अवस्था म भी जीवित रहीं।

(111) उपमा अलकार की छटा भी प्रस्तुत पद म दर्शनीय है।

रहु रे, मधुकर! मधुमतवारे।
कहा करौं निर्गुन लै कै हौं जीवहु कान्ह हमारे॥
लोटत नीच परागपक मे पचत न आपु सम्हारे।
बारबार सरक मदिरा की अपरस कहा उघारे॥
तुम जानत हमहूँ वैसी हैं जैसे कुसुम तिहारे।
घरी पहर सबको बिलमावत जेते आवत कारे॥

सुन्दरस्याम कमलदल-लोचन जसुमति-नंद-दुलारे।
सूर स्याम को सर्वस अर्प्यो अब कापै हम लेहि उधारे ॥६४॥

शब्दार्थ—सरक=घूंट भरना। अपरस=रसहीन। उधारे=उधार, कर्ज। पचत=परेशान होता है। कहा उघारे=खोलने से क्या लाभ। बिलमावत=रोकते हो, आराम देते हो। कापै=किससे।

व्याख्या—गोपियाँ अत्यन्त खीझ कर कहती है कि हे मधु पीछे मतवाले भौंरे, चुप रह। हमारे कृष्ण चिरायु हो, हम निर्गुण को लेकर क्या करेगी? जैसे तुम स्वार्थी हो कि अपने स्वार्थ के लिए पराग के पक मे लोटते फिरते हो और अपने मन को वश मे नही कर पाते, वैसे ही तुम सब को समझते हो। बार-बार तुम शराब की घूंटें भरते हो जिसके बुरे स्वाद वर्णन न करना ही अच्छा है। तुम इतने बुरे हो लेकिन फिर भी फूलो से रगरेलियाँ करते हो और वे तुम्हारा ऐसी दशा मे भी स्वागत करते हैं। चाहे कोई भी काले रग का क्यो न आवे वे तो सभी के साथ रगरेलियाँ करने को तैयार रहते हैं क्योकि वे रगरेलियो के भूखे हैं। किन्तु हम उन जैसी नही हैं। हम ऐसी नही हैं कि आज सगुण को अपनाती हैं और कल निर्गुण के गीत गाती हैं। याद रखो, भ्रमर, हमने तो केवल कृष्ण से प्रेम किया है। उनके अतिरिक्त हम किसी को नही अपना सकती। हमने तो अपना सब कुछ नन्द और यशोदा के प्यारे सुन्दर कृष्ण को ही अर्पित कर दिया है। अब हमारे पास किसी दूसरे को कुछ देने को शेष रहा ही नहीं। हम अब किसी और को कुछ देने के लिए उधार भी किससे माँगें?

विशेष—(i) 'सरक' शब्द का अर्थ हमने आचार्य शुक्ल से कुछ भिन्न माना है। उनके अनुसार इसका अर्थ है मद्यपात्र किन्तु वह इतना ठीक नही बैठता जितना कि हमारा अर्थ 'घूंट भरना'।

(ii) सूरदास जी ने यहाँ यह प्रदर्शित किया है कि उनकी गोपियाँ वासना की देवी नही थी, उनमे तो सतीत्व की दृढ एव निश्चल भावना थी।

✓निर्गुन कौन देस को बासी?
मधुकर! हँसि समुझाय, सौंह दै बूझति साँच, न हाँसी॥
को है जनक, जननी को कहियत, कौन नारि, को दासी?
कैसो बरन भेस है कैसो केहि रस मे अभिलासी॥
पावैगो पुनि कियो आपनो जो रे! कहैगो गाँसी।
सुनत मौन ह्वै रह्यो ठग्यो सो सूर सबै मति नासी॥६५॥

शब्दार्थ—सौंह=सौगन्ध। बरन=वर्ण। गाँसी=कपट की बात, चुभने वाली बात। नासी=नष्ट हो गई।

व्याख्या—गोपियाँ ऊधो के निर्गुण ब्रह्म का मजाक उड़ाती हुई कहती हैं कि हे ऊधो, बताओ तुम्हारा निर्गुण किस देश का रहने वाला है। हे मधुकर, तुम हमें हँसी यह बात समझा दो। तुम्हें हमारी शपथ है, हम तुमसे हँसी नहीं कर रही तुम

हमें सच-सच बता दो। उसके माता पिता का क्या नाम है? उसकी स्त्री कौन है और उसकी दासी का क्या नाम है? उसका रंग और भेष कैसा है? यह भी बताओ कि उसे किस वस्तु से विशेष रुचि तथा लगाव है जिससे हम उसे जान सकें। पर देख लेना बिल्कुल सच-सच बताना। यदि तुम कुछ भी कपट अपने हृदय में रखा तो जान लो अपने किये का फल पाओगे। सूरदास जी कहते हैं कि ऊधो गोपियों की इन बातों को सुनकर ठगे-से रह गये! उनकी बुद्धि नष्ट हो गई। उनसे कोई उत्तर ही न बन पड़ा।

विशेष—ठीक ही है, भला वेद जिसका 'न तस्य प्रतिमा अस्ति' कहकर गान करते हैं और उपनिषद् जिसे 'नेति नेति' कह कर बताते हैं उसका वर्णन बेचारा उद्धव ही क्या कर सकता था?

नाहिन रह्यो मन में ठौर।
नंदनंदन अछत कैसे आनिए उर और?
चलत, चितवत, दिवस जागत, सपन सोवत राति।
हृदय ते वह स्याम मूरति छन न इत उत जाति॥
कहत कथा अनेक ऊधो लोक-लाभ दिखाय।
कहा करौं तन प्रेम-पूरन घट न सिंधु समाय!
स्याम गात सरोज-आनन ललित अति मृदु हास।
सूर ऐसे रूप-कारन मरत लोचन प्यास॥६६॥

शब्दार्थ—अछत=रहते। नाहिन=नहीं है। आनिए=ला सकती हैं। लोक-लाभ=सांसारिक लाभ।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हमारे मन में और किसी को बसाने को स्थान ही नहीं है। हमारे हृदय में तो नंदनंदन विराजमान हैं। उनके रहते हुए भला और कोई दूसरा हृदय में किस प्रकार लाया जा सकता है? यदि ऊधो यह कहने लगें कि जब कभी वे कहीं चले जावें तभी के लिए किसी दूसरे को शरण दे दो तो इसके लिए भी जैसे पहले से ही गोपियाँ उत्तर देने को तैयार बैठी हैं। वे कहती हैं कि उनकी श्यामली मूर्ति क्षण भर के लिए भी इधर-उधर नहीं जाती। वे तो दिन में जागते समय, चलते-फिरते, देखने-निहारते तथा रात में सोते या स्वप्न देखने में भी वे सदा साथ रहते हैं, क्षण भर के लिए भी इधर-उधर को नहीं जाते। यद्यपि उद्धव अनेकानेक लौकिक लाभ दिखा कर अपनी निर्गुण गाथा सुना रहे हैं किन्तु हमारा अन्तःकरण तो प्रेम से लबालब भरा है। ऐसी दशा में अंशतः भी निर्गुण का ग्रहण किस प्रकार किया जा सकता है। भला घड़े में कहीं समुद्र समा सकता है। निर्गुण जैसा व्यापक ब्रह्म हमारे छोटे से हृदय में समा ही कैसे सकता है? कृष्ण का श्याम शरीर है, कमल के समान मुख है, साथ ही उनकी हँसी अत्यन्त आकर्षक है। सूरदास जी कहते हैं कि गोपियों ने उद्धव से कहा कि हमारे नेत्र तो ऐसे रूप का पान करने के लिए सदा तृषित रहते हैं।

विशेष—(i) रामानुजीय दर्शन और न्याय दर्शन के अनुसार मन अणु है अत गोपियों ने ठीक ही कहा है कि उनके मन मे इतना स्थान कहां कि जो दूसरा भी ठहराया जा सके।

(ii) रहीम और कबीर जैसे विद्वान कवियों ने भी मन के विषय मे कुछ ऐसी ही बात कही है—

प्रियतम छवि नयनन बसी, पर छवि कहां समाय।
भरी सराय रहीम लखि, पथिक आप फिरि जाय।। (रहीम)
कबिरा काजर रेखहू अब तो दई न जाय।
नैनन प्रीतम रमि रहा दूजा कहां समाय।। (कबीर)

काहे को रोकत मारग सूधो ?
सुनहु मधुप ! निर्गुन-कटक ते राजपंथ क्यों रूंधो ?
कै तुम सिखै पठाए कुब्जा, कै कही स्यामघन जू धौं।
वेद पुरान सुमृति सब ढूंढो जुवतिन जोग कहूं धौं ?
ताको कहा परेखो कीजै जानत छाछ न दूधो।
सूर मूर अक्रूर गए लै ब्याज निवेरत ऊधो। ६७।

शब्दार्थ—राजपथ=राजमार्ग, चौडा मार्ग। धौं=कदाचित्। सुमृति= स्मृति शास्त्र। कहूं धौं=कही भी। छाछ=मट्ठा। मूर=मूलघन। रूंधो=रोकते हो।

व्याख्या—गोपियां उद्धव से कहती हैं कि हे मधुप, तुम सीधे मार्ग (सगुण मार्ग) को क्यो रोक रहे हो। तुम निर्गुण के कांटो से सगुण के चौडे मार्ग को क्यों रोकते हो ? ऐसा प्रतीत होता है कि तुम्हे कुब्जा ने सिखा-पढा कर भेजा है जिससे उसका मार्ग सदा के लिए साफ हो जाय। ऐसा भी हो सकता है कि स्वय घनश्याम ने ही हमसे अपना पिंड छुडाने के लिए तुमसे ऐसा कहला दिया हो। कुछ भी हो और चाहे किसी ने भी कहला कर भेजा हो ? समस्त वेद, पुराण और स्मृति ग्रंथ खोज डालो, क्या कही युवतियों के लिए योग का विधान लिखा है ? चाहे शास्त्रो मे भी न लिखा हो किन्तु उनके इष्टदेव कृष्ण का कथन होने के कारण मान्य है। इसका उत्तर देती हुई गोपियां कहती हैं कि जिसे दूध और छाछ का अन्तर भी ज्ञान न हो तो उसकी बातों का हम बुरा भी क्या मानें ? सूर कहते हैं कि गोपियो ने कहा कि मूल-धन अर्थात् कृष्ण को पहले ही अक्रूर ले गये और अब ब्याज अर्थात् उनकी स्मृति को तुम (ऊधो) लेने आये हो।

विशेष—'निर्गुन कटक' मे रूपक, 'राजपथ' मे रूपकातिशयोक्ति तथा अंतिम पंक्ति मे लोकोक्ति अलंकार की छटा दर्शन ही बनती है।

बातन सब कोऊ समझावै।
जेहि बिधि मिलन मिलैं वै माधव सो बिधि कोउ न बतावै।।
जद्यपि जतन अनेक रची पचि और अनत बिरमावै।
तद्यपि हठी हमारे नयना और न देखे भावै।।

वासर-निसा प्रानवल्लभ तजि रसना और न गावैं।
सूरदास प्रभु प्रेमहिं लगि करि कहिए जो कहि आवैं ॥६८॥

शब्दार्थ—और=कहीं दूसरे पर टिके। प्रेमहिं=प्रेम के सम्बन्ध से। बिरमावैं=रम रहे हैं। बासर=दिन।

व्याख्या—गोपियाँ कहती हैं कि सभी लोग हमें बातों से ही समझाना चाहते हैं किन्तु मिलन का उपाय कोई नहीं बताना चाहता जिससे कि कृष्ण मिल सकें। यद्यपि हम अनेक यत्न कर-करके थक गई हैं किन्तु वे तब भी अन्यत्र ही रमे रहते हैं। पुनः ये हमारे नेत्र इतने हठीले हैं कि इन्हें और कुछ देखना भाता ही नहीं। यह हमारी जिह्वा भी कुछ ऐसी है कि दिन-रात प्राणवल्लभ श्री कृष्ण के अतिरिक्त और किसी का गुणगान करना ही पसन्द नहीं करती। सूरदास जी कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि हे ऊधो, प्रेम के नाते तुम जो चाहो सो हमसे कहो किन्तु हमारी सब इन्द्रियाँ कृष्ण में ही अनुरक्त हैं।

विशेष—भक्तशिरोमणि रसखान ने भी इस तथ्य को निम्न पद में स्वीकार किया है—

'बैन वही, उनको गुन गाइ
औ कान वही, उन बैन सो सानी।
हाथ वही उन गात सरैं
अरु पाइ वही जु वही अनुजानी ॥'

ऐसेई जन दूत कहावत।
मोको एक अचंभो आवत यामें ये कह पावत?
वचन कठोर कहत, कहि दाहत, अपनी महत गवावत।
ऐसी परकृति परति छांह की जुवतिन ज्ञान बुझावत॥
आपुन निलज रहत नखसिख लौं एते पर पुनि गावत।
सूर करत परसँसा अपनी, हारेहु जीति कहावत ॥६९॥

शब्दार्थ—दूत=इधर की उधर लगाने वाले। महत=महत्ता, महिमा। परकृति=प्रतिकृति या प्रकृति अर्थात् संसर्ग अथवा छाया का ऐसा प्रभाव पड़ता है।

व्याख्या—कोई गोपी कहती है कि वास्तव में ऐसे ही मनुष्यों को दूत कहा जाता है (जो तनिक-सी बात को बढ़ा कर बहुत बड़ी बात कर देते हैं।)। परन्तु मुझे तो आश्चर्य यह है कि ऐसा करने में इन्हें मिलता क्या है? ये अपना प्रभाव जमाने के लिए ही दूसरों को बुरा भला कहते हैं जिससे सुनने वालों का हृदय दुःखी होता है। दुःखी होकर फिर वे लोग खूब इनकी बेइज्जती करते हैं और इस प्रकार इनकी महत्ता धूल में मिल जाती है। इन्हें ही देखो, संगति का इन पर भी यह प्रभाव पड़ा है कि ये भी युवतियों को ज्ञान पढ़ाने चल दिये हैं। स्वयं तो नख से शिख तक अर्थात् सर्वांग निर्लज्ज हैं पर साथ ही निरंतर अपना वही गीत भी गाये चले जा रहे हैं। सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि ये लोग अपने मुँह मियाँ मिट्ठू बन रहे हैं।

इतने लज्जारहित हैं कि ये अपनी पराजय को भी विजय समझते हैं।

विशेष—कृष्ण का योग सन्देश गोपियों को इतना बेतुका प्रतीत होता है कि वे ऊधो पर घोर अविश्वास प्रगट करती हैं और उसे एक ऐसा दूत समझती हैं जिसके विषय में सभवत किसी ने कहा भी है—

'लज्जामेका परित्यज्य त्रैलोक्य विजयी भवेत्।'

प्रकृति जोई जाके अग परी।
स्वान-पूंछ कोटिक जो लागै सूधि न काहु करी॥
जैसे काग भच्छ नहिं छाँडै जनमत जौन घरी।
धोये रग जात कहु कैसे ज्यों कारी कमरी?
ज्यों अहि डसत उदर नहिं पूरत ऐसी धरनि धरी।
सूर होउ सो होउ सोच नहिं, तैसे हैं एउ री॥७०॥

शब्दार्थ—प्रकृति=स्वभाव। स्वान=कुत्ता। अहि=साँप। धरनि धरी=टेक पकड़ी।

व्याख्या—गोपियों द्वारा बार-बार मना करने पर भी जब उद्धव योग की गाथा गाते ही रहे तो वे झल्ला कर कहने लगी कि ठीक है जो स्वभाव भी जिस आदमी का बन जाता है वह कभी नही छूटता। करोडो उपाय क्यो न कीजिये, कुत्ते की पूँछ कभी सीधी हो ही नही सकती, सदैव टेढ़ी ही रहेगी। कौआ जन्म से ही अभक्ष खाना नही छोडता। काले कम्बल को चाहे कितना ही भी क्यों न धोया जाय, उसका रग कभी नही छूटता अर्थात् उसका रग काला ही रहेगा। चाहे पेट न भरे पर साँप का यह स्वभाव है कि वह काट ही खाता है। सूर कहते हैं कि गोपियो ने कहा, चाहे कुछ भी हो उद्धव अकारण ही दूसरो को दुख देने की अपनी आदत नही त्याग सकते।

विशेष—(i) उर्दू के प्रसिद्ध कवि अकबर ने भी निम्न पंक्तियो में उक्त कथन से सहमति प्रगट की है—

आदत जो पडी हो पहले से वह दूर भला कब होती है?
पाकिट में रखो चुनौटी है, पतलून के नीचे धोती है।
नसीहत का असर क्या खाक होगा ऐसे पागल पर।
इकहरे हो गुलाबी रग तुम भी काले कम्बल पर।

(ii) अर्थान्तरन्यास अलकार का स्वाभाविक प्रयोग है।

ब्रजजन सकल स्याम-व्रतधारी।
बिन गोपाल और नहिं जानत आन कहैं व्यभिचारी॥
जोग मोट सिर बोझ आनि कै कत तुम घोष उतारी?
इतनी दूरि जाहु चलि कासी जहाँ बिकति है प्यारी॥

यह सँदेस नहिं सुनै तिहारो, है मडली अनन्य हमारी।
जो रसरीति करी हरि हमसों सो कत जात बिसारी?
महामुक्ति कोऊ नहिं बूझै, जदपि पदारथ चारी।
सूरदास स्वामी मनमोहन मूरति की बलिहारी ॥७१॥

शब्दार्थ—भ्रान=दूसरे। प्यारी=महँगी। अनन्य=सच्ची। पदारथ चारी=चार पदार्थ अर्थात् धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष।

व्याख्या—ब्रज मे सभी श्याम मे पूर्णतया अनुरक्त हैं अतः हे ऊधो, आप अपना जोग और कही ले जाओ। इसी भाव को प्रगट करती हुई गोपियाँ कहती हैं कि यहाँ ब्रज मे तो सभी लोग श्याम का व्रत धारण किये हुए हैं। श्याम के अतिरिक्त यहाँ के लोग और किसी को जानते भी नही। किसी अन्य की कथा कहना अथवा सुनना यहाँ व्यभिचार माना जाता है। तुमने अपने जोग की पोटली यहाँ व्यर्थ मे उतार दी है। यदि तुम इसे काशी ले जाते तो वहाँ तुम्हारा यह योग का सौदा महँगा बिकता क्योंकि वहाँ विद्वान लोग रहते हैं और विद्वान ही योग का महत्त्व भी समझते हैं। यहाँ तो सरल स्वभाव के ब्रज जन हैं जो पूर्णतया श्याम मे अनुरक्त हैं और तुम्हारे इस योग को सुनना भी नही चाहते। हमारी मडली तो बडी अनोखी है। जो रास-रग यहाँ कृष्ण कर गये हैं वह भला हम कैसे भूल सकते हैं? यहाँ तुम्हारी मुक्ति को भी कोई नही पूछता क्योकि जो आनन्द कृष्ण के साथ रसकेलियो मे आया था वह इस मुक्ति मे कहाँ। रही चारो पदार्थों—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—की बात सो वे हमे सहज मे ही प्राप्त हैं। सूरदास जी कहते हैं कि गोपियो ने कहा कि हे उद्धव, यहाँ तो हम अपने सुन्दर रूप वाले मनमोहन पर न्योछावर हैं।

विशेष—श्री मैथिलीशरण गुप्त ने भी गोपियो के इस तथ्य को स्वीकार किया है—

जो जन तुम्हारे पद कमल के असल मधु को जानते।
वे मुक्ति को भी कर अनिच्छा तुच्छ उसको मानते॥

बहुति कहा ऊधो सो बौरी।
जाको सुनत रहे हरि के ढिग स्यामसखा यह सो री!
हमको जोग सिखावन आयो, यह तेरे मन आवत।
कहा कहत री! मैं पत्यात री नहीं सुनी कहनावत॥
करनी भली भलेई जानै, कपट कुटिल की खानि।
हरि को सखा नहीं री माई! यह मन निसचय जानि॥
कहाँ रास-रस कहाँ जोग-जप? इतनो अन्तर भाखत।
सूर सबै तुम कत भई बौरी याकी पति जो राखत॥७२॥

शब्दार्थ—बौरी=पगली। पत्यात=विश्वास करती हूँ। पति=विश्वास।

व्याख्या—उद्धव को बनाने के लिए एक गोपी दूसरी गोपी से कहती है कि अरी पगली, तू ऊधो से क्या कह रही है? तू जानती नही कि ये कृष्ण के वे ही सखा

हैं जिनके विषय में हम बहुत कुछ सुना करते थे। अरी पगली, तू क्या कह रही है मैं तो अभी तक यही सच माने बैठी थी कि ये अवश्यमेव कृष्ण के ही मित्र हैं और उन्हीं के आदेशानुसार यहाँ योगसन्देश लाये हैं। किन्तु वास्तविकता यह नहीं है। क्या तुम्हें यह कथन ज्ञात नहीं है कि जो भले होते हैं वे तो सदा भला काम करते हैं और जो कपटी होते हैं वे कुटिलता की खान होते हैं, तू बस मेरे इतना कहने से ही सब समझ जा। तब गोपी ने उत्तर दिया कि अच्छा तो ये हजरत कृष्ण के मित्र नहीं हैं, अब मैं जान गई। यह योग का सन्देश इनकी मनगढन्त कल्पना है। ठीक भी है, कहाँ तो उन रसिक शिरोमणि कृष्ण का राम के प्रति सच्चा अनुराग और कहाँ यह जोग-जप आदि नीरस क्रियायें? आकाश और पाताल का अन्तर है। वास्तव में अरी तुम सब क्यों पागल हो गई हो जो इस पर विश्वास कर रही हो, यह कृष्ण का मित्र नहीं है।

विशेष—गोपियों को इस प्रकार का भ्रम हो जाना अत्यन्त स्वाभाविक है क्योंकि कृष्ण तो रसिक शिरोमणि हैं फिर वे नीरस योग का सन्देश क्यों भेजते। रसिक शिरोमणि और योग का सन्देश बिल्कुल विपरीत बात है।

तौ हम मानैं बात तुम्हारी।
अपनो ब्रह्म दिखावहु ऊधो मुकुट-पीताम्बरधारी॥
भजि हैं तब ताको सब गोपी सहि रहि हैं बरु गारी।
भूत समान बतावत हमको जारहु स्याम बिसारी॥
जे मुख सदा सुधा अँचवत है ते विष क्यों अधिकारी।
सूरदास प्रभु एक अंग पर रीझि रहीं ब्रजनारी॥७३॥

शब्दार्थ—गारी=गाली। भूत=आकारहीन परछाईं। अँचवत=आचमन करना अर्थात् पीत है।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव के ब्रह्म को मानने के लिए अपनी एक शर्त रखती हुई कहती हैं कि हे उद्धव, हम तुम्हारी बात मान सकती हैं यदि हमें तुम अपने ब्रह्म को मुकुट और पीताम्बर वपधारी के रूप में दिखा दो। यदि तुम हमारी यह शर्त पूरी कर दो तो हम तुम्हें विश्वास दिलाती हैं कि चाहे हमें गाली ही क्यों न लगे, हम तुम्हारे ब्रह्म को स्वीकार कर लेंगी। किन्तु तुम तो हमें भूत जैसी आकारहीन परछाईं बता रहे हो। आग लगा दो अपने ऐसे भयानक ब्रह्म में। इसके उपदेश से भला हम अपने श्याम को कैसे भुला देंगी? भला जो अपने मुख से अमृत पीते रहे हैं, वे विष के अधिकारी क्यों बनने लगे? सूरदास जी कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि ब्रज की नारियाँ तो प्रभु कृष्ण के अंग-अंग पर रीझ चुकी है अर्थात् वे फिर तुम्हारे आकारहीन भयावह ब्रह्म को कैसे अपना लेंगी?

विशेष—गोपियों की शर्त वास्तव में बहुत कठोर है। न नौ मन तेल होगा न राधा नाचेगी। न तो ऊधो अपने निराकार ब्रह्म को मुकुट और पीताम्बरधारी के रूप में दिखा सकेंगे और न गोपियाँ स्वीकार करेंगी।

यहै सुनत ही नयन पराने ।
जबहीं सुनत बात तुव मुख की रोवत रमत ढराने ॥
बारबार स्यामघन घन तें भाजत फिरत लुकाने ।
हमको नहिं पतियात तबहि तें जब ब्रज आपु समाने ॥
नातरु यहौ काछ हम काछति वै यह जानि छयाने ।
सूर दोष हमरे सिर धरिहौ तुम हौ बड़े सयाने ॥७४॥

शब्दार्थ—ढराने=ढले । काछ काछति=वेष धारण करती, चाल चलती । रमत=मग्न होते है । भाजत=भागते हैं । लुकाने=छिपते हैं । समाने=आए ।

व्याख्या—निर्गुण के उपदेश की भयानकता का प्रकारान्तर से वर्णन करती हुई गोपियाँ कहती हैं कि हे उद्धव, तुम्हारा निर्गुण का उपदेश सुनते ही हमारे नेत्र यहाँ से भाग निकले । तुम्हारे मुख से बात सुनते ही रोते हुए यहाँ से ढुलक-ढुलक कर ये चलते बने । तुम्हारे कृष्ण के समान वर्ण को देखकर ये लालच से तुम्हारी ओर बढे थे किन्तु पास पहुँचने पर तुमने जो व्यथा इनको दी इससे ये अब सभी कालो को देखकर चकपका जाते हैं । कृष्ण के सदृश काली घटाओ को भी देखकर ये नेन अब इधर-उधर छिपते फिरते हैं । काले रग से इस प्रकार भयभीत होने के वास्तविक कारण आप है । जब से आप ब्रज मे पधारे है तभी से श्याम रग से ये कुछ इतने भय-भीत हो गये हैं कि हमारे समझाने पर भी विश्वास नही करते । यदि ये हमारा कहना मान लेते तो शायद हम आपकी बतायी हुई चाल पर भी चल देती । पर अब क्या करें य तो पहले ही कही जाकर छिप गये है । सूर कहते है कि गोपियो ने ऊधो से कहा कि तुम तो बडे चतुर हो, तुम तो इस सबका दोष हमारे माथे ही मढोगे । इन सत्याग्रही नेत्रो का दोष कुछ न मानकर श्याम से जाकर यही कहोगे कि गोपियो ने आपका सदेश नही माना ।

विशेष—नेनो का यह सत्याग्रह सूर की गोपियो की चतुरता एव वाग्विदग्धता का ज्वलत प्रमाण है ।

देन आए ऊधो मत नीको ।
आवहु री ! सब सुनहु सयानी, लेहु न जस को टीको ॥
तजन कहत अबर, आभूखन, गेह नेह सब ही को ।
सीस जटा, सब अग भस्म, अति सिखवत निर्गुन फीको ॥
मेरे जान यहै जुवतिन को देत फिरत दुख पी को ।
तेहि सर-पजर भए स्याम तन, अब न गहत डर जी को ॥
जाकी प्रकृति परी प्रानन सों, सोच न पोच भली को ।
जैसे सूर ब्याल डसि भाजत का मुख परत अमी को ?॥७५॥

शब्दार्थ—अबर=वस्त्र । सर-पजर=बालो का घेरा । अमी=अमृत । पोच=बुरा । ब्याल=सर्प ।

व्याख्या—गोपियाँ आपस मे कह रही हैं कि ऊधो जी अच्छी सलाह देने आये

हैं। आओ ! चतुर सखियो, सब की सब चलकर सत्संग लाभ के यश की अधिकारिणी बनें। अरे ! यह सुन्दर और सूक्ष्म वस्त्र और आभूषण त्यागने को कहते हैं और घर आदि सभी के स्नेह को छोड़ने की बात बता रहे हैं। इनके उपदेशानुसार तो सिर पर जटायें तथा सारे शरीर पर भस्म लगाना होगा और नीरस निर्गुण का ध्यान करना होगा। मेरा विचार तो यह है कि युवतियों को वैराग्य की शिक्षा देकर तथा सबके स्नेह से विमुख होने का उपदेश देकर यही उनके स्वामियों को वियोग दुख प्रदान करते फिरते हैं। उनको घायल करने के हेतु ये बाणों के समूह को ग्रहण किये हुए हैं। इन्हीं बाणों के समूहों के पिंजड़े में फँसे होने के कारण ये काले हो रहे हैं। अब तो ये इतने पक्के हो गये हैं कि इनके हृदय में तनिक भी शंका और सकोच का अनुभव नहीं होता। वास्तव में बात यह है कि जिसका जन्म से जो स्वभाव बन जाता है उसके लिए फिर वह बात कुछ भली और बुरी नहीं रहती। सूरदास जी कहते हैं कि साँप काटता है किन्तु क्या काटने से उसके मुख में अमृत पड़ जाता है ? नहीं, काटना तो उसका जन्मजात स्वभाव है इसीलिए वह काटता है।

विशेष—उत्प्रेक्षा और दृष्टान्त अलंकार की छटा दृष्टव्य है।

प्रीति करि दीन्हीं गरे छुरी।
जैसे बधिक चुगाय कपटकन पाछे करत बुरी॥
मुरली मधुर चेंप कर काँपो मोरचन्द्र ठटवारी।
बक बिलोकनि लूक लागि बस सकी न तनहि सम्हारी॥
तलफत छाँड़ि चले मधुबन को फिरि कै लई न सार।
सूरदास वा कलप-तरोवर फेरि न बैठी डार॥७८॥

शब्दार्थ—काँपो=कंपा, बाँस की पतली तीलियाँ जिनमें बहेलिये लासा लगा कर चिड़िया फँसाते हैं। ठटवारी=टट्टी। सार=खोज खबर लेना। कलप-तरोवर=कल्पतरु।

व्याख्या—कृष्ण की निष्ठुरता पर प्रकाश डालती हुई गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि कृष्ण का यह विस्मरण संदेश हमें बहुत कठोर प्रतीत हो रहा है। यह तो ऐसा है जैसे पहले प्रीति करना और फिर कटार भोंक देना। उनका यह कार्य तो ऐसा है जैसा कि एक उस शिकारी का जो पहले तो कपट से अन्न के कण चुगाता है और बाद में जब जीव लुब्ध हो जाता है तो उसको मार डालता है। इस प्रकार अब हम जान गईं कि वस्तुतः कृष्ण ने हमारे लिए शिकारी का बाना धारण करके हमें भूल में डाल कर हमारा सर्वनाश करने का विचार किया था। कृष्ण की मधुर मुरली ही तो मानो हमें फँसाने के लिए लासा था तथा उनके हाथ जिनमें मुरली शोभायमान थी, कंपा के समान थे। उनके सिर का मोरमुकुट मानो हमें फँसाने को टट्टी था। फिर उन्होंने अपनी बाँकी चितवन से तो हमको अचानक वह चोट दी जिससे हम अपने आप को सभाल ही न सकीं। चितवन की उस आग में हमें छटपटाते हुए छोड़कर वे स्वयं मधुबन को चलते बने और हमारी कोई खैर-खबर तक न ली। सूर कहते हैं कि

गोपियो ने कहा कि हे उद्धव, फिर हम उस कल्पतरु की डाल पर बैठ ही न सकी अर्थात् कृष्ण के जाने के बाद फिर हम सुखी हो ही न सकी। हमारे मनोरथ के कल्पतरु मे फिर कोई शाखा न निकली अर्थात् हमारे सब मनोरथ मिट्टी मे मिल गये।

विशेष—उपमा और सागरूपक अलकार की छटा दर्शनीय है।

नयननि वहै रूप जो देख्यो।
तौ ऊधो यह जीवन जग को सांचु सफल करि लेख्यो॥
लोचन चारु चपल खजन, मनरंजन हृदय हमारे।
रुचिर कमल मृग मीन मनोहर स्वेत अरुन अरु कारे॥
रतन जटित कुंडल श्रवननि वर, गंड कपोलनि झाँई।
मनु दिनकर प्रतिबिंब मुकुर महँ ढूंढत यह छवि पाई॥
मुरली अधर बिकट भौहैं करि ठाडे होत त्रिभंग।
मुकुतमाल उर नीलसिखर तें धसि धरनी ज्यों गंग॥
और भेरु को कहै बरनि सब अंग अग केसरि खौर।
देखत बनै, कहत रसना सो सूर बिलोकत और॥७७॥

शब्दार्थ—झाँई=प्रतिबिम्ब। मुकुर=दर्पण। बिकट=टेढी। होत त्रिभग=गले, कमर और पैर से टेढे होकर। मुकुतमाल=मोती की माला। और=और कोई (यहाँ नेत्र से तात्पर्य है)।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हमने नेत्रो से जो वह रूप (कृष्ण का) देखा तो हमने ससार मे अपना जीवन सफल समझा। वे सुन्दर नेत्र जो चचल खजनो के समान हमारे मन को अनुरक्त करते थे, कमल, मृगनयन और मछली के सदृश शोभायुक्त थे और श्वेत, लाल और काले रग के थे भला हमारे मन को अपनी ओर कैसे आकर्षित न करते? फिर कानो मे सुन्दर रत्नजटित कुण्डल जिनकी मन को आकर्षित करने वाली कान्ति निर्मल कपोलो पर प्रतिविम्बित होती हुई अत्यन्त मनमोहक प्रतीत हो रही थी। ऐसा प्रतीत होता था मानो सूर्य का प्रतिबिम्ब मुकुट मे पड कर इस छवि को ढूंढ निकालने का प्रयास कर रहा हो। अधरो पर मुरली, टेढी भौंहे तथा, त्रिभगी मुद्रा मे उनका खडा होना भी बहुत मनमोहक था। छाती पर स्थित मोतियों की माला ऐसी सुशोभित थी जैसी कि नील पर्वत से धरणी की ओर गिरती हुई गगा सुशोभित होती है। उनके शरीर के अन्य वेश का वर्णन करना व्यर्थ है। उनके अग-प्रत्यग पर केसर की रचना शोभायमान थी। कृष्ण की इस शोभा का वर्णन नहीं किया जा सकता; इसकी अच्छी अनुभूति तो देखने से ही हो सकती है क्योंकि कहने वाली वाणी तथा देखने वाले और कोई (नेत्र) हैं।

विशेष—(i) तुलसी ने भी एक स्थान पर ऐसा ही कहा है—
'गिरा अनयन नयन बिनु बानी।'

(ii) रूपक, उत्प्रेक्षा और उपमालकार ने पद की शोभा बहुत बढा दी है।

नयनन नंदनंदन ध्यान।
तहाँ लै उपदेस दीजै जहाँ निरगुन ज्ञान॥
पानिपल्लव-रेख गनि गुन अवधि बिधि-बँधान।
इते पर काहे कटुक बचनन हनत जैसे प्रान॥
चंद्र कोटि प्रकास मुख, अवतंस कोटिक भान।
कोटि मन्मथ वारि छबि पर, निरखि दीजत दान॥
भृकुटि कोटि कुदंड रुचि अवलोकनी संधान।
कोटि वारिज बंक नयन कटाच्छ कोटिक बान॥
कंबु ग्रीवा रतनहार उदार उर मनि जान।
आजानुबाहु उदार अति कर पद्म सुधानिधान॥
स्याम तन पटपीत की छबि करै कौन बखान?
मनहु निर्तत नीलघन मे तड़ित अति दुतिमान॥
रासरसिक गोपाल मिलि मधु अधर करती पान।
सूर ऐसे रूप बिनु कोउ कहा रच्छक आन?॥७८॥

शब्दार्थ—गनि=समझकर। गुन=गुण की सीमा, अत्यन्त गुणयुक्त। बिधि बँधान=ब्रह्मा की रचना। अवतंस=कुडल। भान=भानु। रुचि=शोभा। कबु=शख। उदार=चौडा। मनि=मणि, कौस्तुभ। निर्तत=नाचती है, चमकती है। कुदड=कोदड, धनुष। अवलोकनी=चितवन। सधान=धनुष खीचना।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हमारे नेत्रो मे सदा नदनदन का ही ध्यान समाया रहता है। हमारे नेत्रो मे उसके अतिरिक्त और कोई जँचता ही नहीं। अत तुम यह अपना निर्गुण का उपदेश वही जाकर दो जहाँ लोग निर्गुण से जानकारी रखते हो। एक तो हम अभाग्यवश वैसे ही अपनी हस्तरेखाओ पर उनके आगमन की अवधि के दिन गिना करती हैं और अपने भाग्य को कोसा करती हैं और उस पर भी फिर आप वियोग की कटु बात कह-कहकर हमारे प्राणो को मारे डालते हैं। किन्तु ध्यान रखो कोई कुछ भी करता रहे हमारा आश्रय तो वही रूप माधुरी है जिसमें हमने करोडो चन्द्रो के प्रकाश जैसे चमकते मुख के और करोडो सूर्य जैसे जगमगाते हुए आभूषणो को देखा है। करोडो कामदेवो जैसी उस छवि पर हम अपने को बलिदान कर चुकी है। जिनकी भ्रूलतायें धनुष जैसी शोभा वाली हैं। जिनकी दर्शन-शक्ति उस भ्रूलता धनुष का आकर्षण है और जो अपने अनोखे कमल जैसे कोमल नयनो से कटाक्ष रूपी कोमल बाणो की वर्षा करता है, कौन होगा ऐसा जो उन बाणो की चोट खाकर भी अपना सब कुछ बलिदान न कर दे। प्रियतम कृष्ण की शख जैसी गर्दन मे रत्नो के हार और वक्षस्थल पर सरस एव सुन्दर कौस्तुभ मणि शोभायमान है। उनके हाथ घुटनो तक लम्बे हैं और उनके कमल रूपी चरण अमृत-निधान है। उनके सर्वांग सुन्दर श्याम शरीर पर पीताम्बर से जो शोभा आई है उसका वर्णन करने की भला किसमे शक्ति है? ऐसा प्रतीत होता है कि मानो श्याम

मेघों मे कांतियुक्त बिजली नाच कर रही हो। ऐसे सुन्दर गोपाल से आलिंगन करके हमने उनके अधरामृत का पान किया है। सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि ऐसे रूप माधुर्य के अतिरिक्त भला और कौन हमारा रक्षक हो सकता है? अत अब हम वियोग मे रक्षा के लिए किसी और की शरण नहीं जा सकती। वही श्याम इस विपद मे भी हमारी रक्षा करेंगे।

विशेष—इस एक ही पद मे उपमा, प्रतीप, सागरूपक, वाचकलुप्तोपमा, वस्तुत्प्रेक्षा पाँच अलकारो का स्वाभाविक प्रयोग देखने योग्य है।

हम, अलि, गोकुलनाथ अराध्यो।
मन बच क्रम हरि सो धरि पतिव्रत प्रेम-योग तप साध्यो॥
मातु-पिता हित प्रीति निगम-पथ तजि दुख-सुख भ्रम नाख्यो।
मानऽपमान परम परितोषी अस्थिर थित मन राख्यो॥
सकुचासन, कुलसील परस करि, जगत बँद्य करि बदन।
मानऽपवाद पवन-अवरोधन हित-क्रम काम-निकदन॥
गुरुजन-कानि अगिनी चहुँदिसि, नभ तरनि ताप बिनु देखे।
पिवत धूम-उपहास जहाँ तहँ, अपजस श्रवन-अलेखे॥
सहज समाधि बिसारि बपुकरो, निरखि निमेख न लागत।
परम ज्योति प्रतिअग-माधुरी धरत यहै निसि जागत॥
त्रिकुटी सग भ्रूभग, तराटक नैन नैन लगि लागे।
हँसन प्रकास, सुमुख कुंडल मिलि चद्र सूर अनुरागे॥
मुरली अधर श्रवन धुनि सो सुनि अनहद सब्द प्रमाने।
बरसत रस रुचि-बचन सग, सुख पद-आनद समाने॥
मत्र दियो मनजात भजन लगि, ज्ञान ध्यान हरि ही को।
सूर, कहौ गुरु कौन करै, अलि, कौन सुनै मत फीको?॥७६॥

शब्दार्थ—नाख्यो=पार किया। कानि=लज्जा। त्रिकुटी=दोनो भौहो के [बी]च का स्थान। तराटक=त्राटक योग के छ कर्मों म स एक अनिमेष रूप से [कि]सी बिन्दु पर दृष्टि गडाने का अभ्यास। मनजात=कामदेव। सकुचासन=सकोच [रू]पी आसन पर स्थित होकर। परस करि=छूकर दान देकर छोड कर। क्रम=[क]र्म। निकदन=नाश। तरनि=सूर्य। अपजस=अपयश। अलेखे=सुनी अनसुनी [क]र देना। प्रकास=ब्रह्म ज्योति दर्शन। अनहद=अनाहत शब्द। प्रमाने=मान, [प्र]मान। समाने=ब्रह्मानद मे लीन होने की दशा।

व्याख्या—अपने प्रेम योग की ऊधो के ज्ञान-योग से समानता प्रदर्शित करती [ह]ुई गोपियाँ कहती हैं कि अरे मधुप, हमने गोकुलनाथ कृष्ण की आराधना की [है]। हमने मन, वचन और कर्म से हरि के साथ पतिव्रत धर्म का निर्वाह करके प्रेम

के योग और तप को प्रमाणित कर दिया है। तुम्हारी योग-साधना के सदृश ही हमने भी प्रेम-योग साधना में माता पिता तथा अन्य हितैषियों के प्रेम से अपना सम्बन्ध तोड कर तथा सारी इच्छाओं को पूरा करने वाले वैदिक पथ को त्याग कर संसार के सुख एवं दुखों के भ्रम को त्याग दिया है। भाव यह है कि हम भी योगियों के समान सुख-दुख की भ्रान्ति से मुक्त हो चुकी है। इतना ही नहीं, हमने प्रेम-योग द्वारा चचल मन को भी स्थिर कर लिया है और इसलिए मान और अपमान दोनों से हम परम सन्तुष्ट रहती हैं। सकोच का आसन बना कर हमने कुलशील प्राणायाम भी सिद्ध कर लिया है। हमने संसार की सभी हितकारी क्रियाओं को छोड दिया है तथा सच्ची सन्यासी जनों जैसी निस्पृहता ग्रहण कर ली है। प्रेम-योग ही नहीं, हमने प्रेम-तप को भी सिद्ध कर लिया है। योगियों जैसी पचाग्नि तप की साधना हमने भी की है। हमारी इस साधना मे चारो दिशाओं की अग्नि का कार्य किया चारो ओर विद्यमान हमारे बडे जनों की लज्जा ने और पचाग्नि तप मे सूर्य के स्थान में हमारा वियोग जन्य प्रदर्शन रहा। जहाँ-तहाँ होने हुए अनेक उपहासों का धूम्र पीकर निरन्तर कानों मे पडने वाले अपयश की भी हम अवहेलना करते रहे हैं। अपने शरीर को भुलाकर हम एक निश्चल एवं अखड समाधि मे लगी रही हैं। इस समाधि मे हमने भी योगियों की भाँति अपने इष्टदेव की प्रत्येक अग माधुरी के दर्शन किये हैं। ये दर्शन हमने एकटक नेत्रों से इतनी तन्मयता से किये कि अब रात और दिन सोते-जागते वही अलौकिक ज्योति सामने खडी दीखती है। हमने उनके भ्रूभग पर त्रिकुटी साधना तथा उनके नेत्रों को एकटक देखकर नाटक साधना मे भी सिद्धि प्राप्त कर ली है। उनके स्मित प्रकाश से युक्त कुण्डल तथा मुख रूप सूर्य चन्द्र से अनुराग करके होठो पर स्थित मुरली के मधुर स्वर रूपी योगियों के अनाहत शब्द को भी हमने निरन्तर सुना है। उनके राग भरे वचनों का रस हमारे लिए सदैव आनन्द देने वाला मोक्ष-सुख रहा है। हमारे इस प्रेम-योग का मन्त्र कामदेव का मन्त्र है जिसमे सर्वदा हरि का ज्ञान एवं ध्यान बना रहता है। सूर कहते हैं कि गोपियों ने ऊधो से कहा कि अब तुम्ही बताओ भौंरे, फिर हम किसी और को गुरु क्यों बनावें और तुम्हारे इस फीके मत को यहाँ कौन सुने?

विशेष—प्रेम-योग को ज्ञान-योग के समान सिद्ध करके सूर ने अपना अनन्त शास्त्रीय ज्ञान प्रकट किया है, साथ ही प्रस्तुत पद का सागरूपक अलकार का सु-निर्वाह उनके महान् काव्य-कला ज्ञान का भी प्रतीक है।

कहिबे जीय न कछु सक राखो।
लावा मेलि दए हैं तुमको बकत रहो दिन आखो॥
जाकी बात कहो तुम हमसों सो धौं कहो को काँधी।
तेरो कहो सो पवन भूस भयो, बहो जात ज्यों आँधी॥
कत श्रम करत सुनत कोऊ है, होत जो बन को रोयो।
सूर इते पै समुझत नाहीं, निपट दई को खोयो॥८०॥

शब्दार्थ—लावा मेल दए=जादू अथवा टोटका करके पागल बना देना। याग्यो=सारा। कांधी=मान लिया। दई की खोयो=गया-बीता।

व्याख्या—बहुत कुछ कहने पर भी जब उद्धव निर्गुण का उपदेश देने से विरत न हुए तो गोपियाँ भल्ला कर कहने लगी कि अब जो कुछ तुम्हारे मन मे हो, उसके कहने मे कोई कसर मत रखना। बेधडक होकर खूब कहो जो भी तुम्हे कहना है। ऐसा प्रतीत होता है कि तुम्हे तो किसी ने कुछ जादू-टोना करके पागल बना दिया है। तुम्हारी इच्छा है कि दिन भर बकवास करते रहो। तुमने जिसके विषय मे यहाँ जो कुछ कहा है, उसे यहाँ किसी ने स्वीकार भी किया है? तुम्हारा कहना तो यहाँ लोगो ने इस कान से सुना और उस कान से निकाल दिया है। तुम्हारे कथन की तो यहाँ वह गति हुई है जो आँधी मे भूसे की होती है। तुम व्यर्थ ही श्रम कर रहे हो। तुम्हारा कथन यहाँ वन मे रोने के सदृश निरर्थक है। सूर कहते हैं कि गोपियो ने कहा कि तुम तो इतने गये-बीते हो कि इतना होने पर भी तो नही समझते।

विशेष—लोकोक्तियो की भरमार ने गोपियो के कथन को अत्यधिक प्रभावशाली बना दिया है।

कोउ ब्रज बांचत नाहिन पाती।
कत लिखि लिखि पठवत नँदनदन कठिन बिरह की काती॥
नयन, सजल, कागद अति कोमल, कर अँगुरी अति ताती।
परसत जरै, बिलोकत भीजै दुहूँ भाँति दुख छाती॥
क्यों समुझै ये अक सूर सुनु कठिन मदन-सर-घाती।
देखे जियहि स्याम सुंदर के रहहि चरन दिन राती॥८१॥

शब्दार्थ—पाती=पत्र। काती=छुरी। मदन=कामदेव। सर=बाण। घाती=बिंधे हुए।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कहती है कि ब्रज मे नन्दनन्दन की इस सदेश-पत्रिका को कोई नही पढता। अत्यधिक विरह की इस कठोर छुरी-सी तीखी इस पत्री को नन्दनन्दन बार-बार क्यो लिख भजते हैं? क्या तुम्हे ज्ञात नही है कि इस पत्र का कागज बडा कोमल है। इसके सदेश की व्यथा से हमारे नेत्र छलक उठे हैं और हाथ की उँगलियाँ गर्म हो गई हैं। यदि हमने गर्मी से जलती हुई इन उँगलियों से इसे छू लिया तो छूते ही यह जल जायगी और यदि अश्रुपूर्ण नेत्रो से देख लिया तो यह भीग जायगी। तात्पर्य यह है कि इसका स्पर्श करना और इस पर दृष्टि डालना दोनो बातें ही गोपियो के लिए बडी दुःखदायक हैं। सूर कहते हैं कि गोपियो ने कहा कि हे उद्धव, इन कठोर कामदेव के बाणों का प्रहार करने वाले इन अक्षरों को समझ कर हम क्या करेंगी, हम तो श्यामसुन्दर को देखे ही जीती है और दिन-रात उन्ही के चरणों मे रत रहती हैं।

विशेष—'लुप्तोपमा' अलंकार की छटा दर्शनीय है।

मुकुति आनि मंदे में मेली।
समुझि सगुन लै चले न, ऊधो ! ये सब तुम्हरे पूंजि अकेली ॥
कै लै जाहु अनत ही बेंचन, कै लै जाहु जहाँ विष-बेली।
याहि लागि को मरै हमारे बृंदावन पाँयन-तर पेली ॥
सीस-धरे घर घर कत डोलत, एकमते सब भई सहेली।
सूर यहाँ गिरिधरन छबीलो जिनकी भुजा अंस गहि मेली ॥८२॥

शब्दार्थ—मंदे में=मंदे बाजार में। मेली=उतारी। अंस=कंधा। सगुन लै=सगुन विचार कर। ये सब=जोग, तप, व्रत आदि। विष-बेली=कुब्जा। पाँयन-तर पेली=पैरों के नीचे करके, तिरस्कार करके।

व्याख्या—गोपियाँ योग-सदेश पर व्यंग्य कसती हुई उद्धव से कहती हैं कि तुमने मुक्ति को मन्दे बाजार में लाकर उतारा है। तुम सगुन विचार कर नहीं चले नहीं तो लाभ अवश्य होता। यहाँ लाकर तो तुमने हानि ही उठाई। तुम्हारे पास तो पूँजी भी बस यही है। अतः यदि तुम लाभ चाहते हो तो इसे और कहीं जाकर बेचो। सम्भवतः तुम्हें अच्छे ग्राहक मिल जायँ और तुम्हारा यह सौदा (योग सदेश) लाभ से बिक जाय। हमारी सम्मति में तो तुम इसे वहाँ ले जाओ जहाँ विष-बेल कुब्जा है। वह इसके गुणों को भली प्रकार जानती है और इसलिए वही इसके गुणों की परख भी कर सकेगी। हम निकट ही रहने वाले वृन्दावन और उसकी रंगरेलियों को तिरस्कृत करके इसके लिए अपनी जान क्यों खपावें ? अतः तुम इसे सिर पर रखे घर-घर क्यों फेरी लगा रहे हो ? सूरदास जी कहते हैं कि सब सखियाँ एकमन होकर उद्धव से कहने लगी कि हमारा अद्‌भुत छविशाली गिरधारी जो आजकल मथुरा में रहता है और जिससे गलबाहीं डाल कर हमने आलिंगन किया है, उसमें प्राप्त आनन्द के सामने हम और किसी सुख को कुछ नहीं समझती।

विशेष—प्रस्तुत पद व्यंग्य, जो सूर के भ्रमरगीत की प्रधान विशेषता है, का एक जीता-जागता उदाहरण है।

निरमोहिया सों प्रीति कीन्ही काहे न दुख होय ?
कपट करि करि प्रीति कपटी लै गयो मन गोय ॥
काल-मुख तें काढ़ि आनी बहुरि दीन्हीं ढोय।
मेरे जिय की सोइ जानै जाहि बीती होय ॥
सोच ; आँखि मँजीठ कीन्हीं निपट काँची पोय।
सूर गोपी मधुप आगे दरकि दीन्हीं रोय ॥८३॥

शब्दार्थ—निरमोहिया=निष्ठुर। गोय=चुरा कर। आँख मँजीठ कीन्ही=

आँख लाल की। कांची पोय=कच्ची रोटी बना कर, अर्थात् प्रेम का कच्चा व्यवहार करके।

व्याख्या—कृष्ण की निष्ठुरता से व्यथित होकर पश्चात्ताप करती हुई गोपियाँ कहती हैं कि जब हमने निष्ठुर से प्रेम कर लिया तो भला इसका परिणाम दुःख कैसे न होता ? हमे आज ज्ञात हुआ है कि उनका वह प्रारम्भ का प्रगाढ़ प्रेम सच्चा प्रेम नही था। वह तो हमारे मन को चुराने के लिए एक छल मात्र था। उस समय तो उन्होंने हमसे प्रेम करके हमे ऐसा आनन्दित किया था मानो काल के मुख से निकाल लिया हो किन्तु अब इस सत वियोग की बान ने मुझको मानो फिर से मृत्यु के मुख मे धकेल दिया है। आज उनके इस व्यवहार से मेरे हृदय को जो दुःख पहुँचा है उसे तो वही जान सकता है जिसने कभी इस प्रकार का दुःख भोगा हो। उनके कच्चे प्रेम के लिए मैं व्यर्थ ही रो-रो कर नेत्र लाल करती रही। सूरदास जी कहते हैं कि इस प्रकार गोपियाँ उद्धव के आगे अपने विचार प्रगट करके फूट-फूट कर रोने लगी।

विशेष—लोकोक्ति अलकार है।

बिन गोपाल बैरिन भई कुंजै।
तब ये लता लगति अति सीतल, अब भई विषम ज्वाल की पुंजै॥
वृथा बहति जमुना, खग बोलत, बृथा कमल फूले, अलि गुंजै।
पवन पानि घनसार सजीवनि दधि सुत किरन भानु भई भुंजै॥
ए, ऊधो, कहियो माधव सो बिरह कदन करि मारत लुंजै।
सूरदास प्रभु को मग जोवत अँखियाँ भई बरन ज्यों गुंजै॥८४॥

शब्दार्थ—ज्वाल=अग्नि। पुंजै=समूह। वृथा=व्यर्थ। खग=पक्षी। घनसार=कपूर। दधि-सुत किरन=चन्द्रमा की किरणें। भुंजै=भुनसाने वाली। मग जोवत=मार्ग देखते-देखते। कदन=छुरी। बरन=वर्ण। गुंजै=गुंजा, घुँघची।

व्याख्या—सयोगावस्था मे जो वस्तुएं गोपिकाओं के लिए सुखदायी थी, विरहावस्था मे वे ही वस्तुएं दुःखदायक हो गई हैं। इसी भाव का प्रगटीकरण करती हुई गोपिकायें कहती हैं कि कृष्ण के बिना अब ये कुंज भी हमारे शत्रु हो रहे हैं। जब वे हमारे पास थे तो ये लतायें अत्यन्त शीतल लगती थी और अब उनके विरह मे ये कठोर लपटों के समूह बन गई हैं। जब कृष्ण ही यहाँ नही तो यह यमुना व्यर्थ बहती है, पक्षी व्यर्थ ही कलरव कर रहे हैं, कमल व्यर्थ मे ही फूलते हैं और ये भ्रमर व्यर्थ मे ही गूंजते है। शीतल पवन, कपूर एव सजीवनी चन्द्र किरणें अब सूर्य के समान भूने डालती हैं। हे उद्धव, तुम माधव से जाकर कहना कि विरह की छुरी हमे काट-काट कर लगड़ा-लूला कर रही है। सूर कहते हैं कि गोपियो ने कहा कि हे उद्धव,

कृष्ण का मार्ग देखते-देखते हमारे नेत्र घुंघची के समान लाल हो गये हैं।

विशेष—यह एक लोकप्रसिद्ध बात है कि विरह मे आनन्द देने वाले सभी पदार्थ भी सन्ताप देने वाले बन जाते है। गोस्वामी तुलसीदास जी की भी इसी भाव को प्रगट करने वाली निम्न चौपाइयाँ देखिये—

> कहेउ राम वियोग तव सीता।
> मो कहुँ सकल भये विपरीता॥
> नव तरु किसलय मनहुँ कृसानू।
> काल निसा सम निसि ससि भानू॥
> जे हित रहे करत तेइ पीरा।
> उरग स्वास सम त्रिविध समीरा॥ (रामचरितमानस)

> संदेसो कैसे कै अब कहौं ?
> इन नैनन्ह या तन को पहरो कब लौं देति रहौं ?
> जो कुछ विचार होय उर-अंतर रचि पचि सोचि गहौं।
> मुख आनत, ऊधो-तन चितवत न सो विचार, न हौं॥
> अब सोई सिख देहु सयानी! जातें सखहिं लहौं।
> सूरदास प्रभु के सेवक सों विनती कै निवहौं॥८५॥

शब्दार्थ—तन=ओर, तरफ। आनत=आते ही। चितवत=देखकर। लहौं=प्राप्त कर लूं।

व्याख्या—कोई गोपी कहती है कि अब सन्देश किस प्रकार कहें? वे सोचती हैं कि अब प्रियतम श्री कृष्ण ने चरम निष्ठुरता का प्रदर्शन किया है तो उनके पास प्रेम का प्रति सन्देश भेजना निरर्थक है। उनके निष्ठुर सन्देश को सुनकर हमारा मन शरीर तो चल बसना चाहता है किन्तु क्या करें ये नेत्र अभी तक इस पर पहरा लगा रहे हैं कि कहीं यह भाग न जाय। नेत्रों को तो अभी उनसे मिलने की आशा है किन्तु ये बेचारे नेत्र भी भला कब तक पहरा लगायेंगे? हृदय में प्रति सन्देश देने के लिए विचार उठते हैं और बडी कठिनाई से उन विचारों को सोच-सोच कर उठाया जाता है किन्तु जहाँ वे कहने के लिए मुख मे आये, उद्धव को देखते ही विलीन हो जाते हैं और मैं तथा मेरे विचार सब कुछ गायब हो जाते हैं। अत: रे चतुर सखियो, अब तो कुछ ऐसी शिक्षा दो जिससे प्रियतम से मिलन हो सके। सूरदास जी कहते हैं कि गोपी ने यह कहा कि मेरी राय मे तो स्वामी श्याम के सेवक ऊधो से ही विनती करनी चाहिये। शायद हमारा कार्य उन्हीं के द्वारा हो सकता है। वे ही हमारी भेंट करा सकते हैं, और कोई उपाय नहीं दीखता।

विशेष—ठीक भी है, अपनी गरज मे तो गधे को भी बाप बनाना पड़ता है। ऊधो हृदयहीन हो सही किन्तु अब यह कार्य निकल ही कहाँ सकता है? नीति भी

यही कहती है—

स्वन्धेनापिवहेच्छत्रुं कालमासाद्य-बुद्धिमान ।

बहुरो ब्रज वह बात न चाली ।
वह जो एक बार ऊधो-कर कमलनयन पाती दै घाली ॥
पथिक ! तिहारे पा लागति हौं मथुरा जाव जहाँ बनमाली ।
करियो प्रकट पुकार द्वार ह्वै 'कालिंदी' फिर आयो काली ॥
जब कृपा जदुनाथ कि हमपै रही, सुरुचि जो प्रीति प्रनिपाली ।
माँगत कुसुम देखि द्रुम ऊँचे, गोद पकरि लेते गहि डाली ॥
हम ऐसो उनके केतिक हैं अग-प्रसग सुनहुरी, आली !
सूरदास प्रभु प्रीति पुरातन सुमिरि सुमिरि राधा-उर साली ॥८६॥

शब्दार्थ—कमलनयन=श्री कृष्ण । घाली=भेजी । काली=काली नाग । द्वार ह्वै=द्वार पर से । केतिक=कितनी ही । साली=पीडा पहुँचाने लगी ।

व्याख्या—उद्धव के चले जाने के बाद फिर जब ब्रज मे कृष्ण की कोई खबर तक न मिली तो विरह से व्यथित होकर राधा कह रही है कि ब्रज मे तो फिर से वह बात भी न चली । एक बार कमलनयन श्री कृष्ण ने उद्धव के हाथ जो पत्र भेजा था उसकी चर्चा भी बाद मे यहाँ न हुई । राधा किसी पथिक से प्रार्थना करती है कि हे पथिक, मैं तुम्हारे पैर छूती हूँ, तुम मथुरा जाओ जहाँ वनमाली कृष्ण रहते हैं और उनके द्वार पर खडे होकर पुकार लगाना कि यमुना मे काली नाग फिर से आ गया है । तो क्या इस सूचना को पाकर कृष्ण आ जावेंगे ? उनकी पुरातन प्रीति से तो यही भरोसा होता है कि वे अवश्य आवेंगे । पहले तो जब कभी हम वनस्थली मे विहार करते समय पुष्पो को देखकर उन्हे प्राप्त करने के लिए मन ललचाती थीं तो वे ऊँचे वृक्षो पर लटकते हुए पुष्पो को हमे गोद मे लेकर डाली झुका कर तोड कर हमे दे देते थे । किन्तु सखी, हमारे जैसी छोटी-बडी, उनके न जाने कितनी हैं ? सूर कहते हैं कि इस प्रकार पुरातन प्रेम का स्मरण करके राधा का हृदय व्यथित हो उठा ।

विशेष—निम्न पक्तियाँ भी कुछ ऐसा ही भाव-प्रदर्शन कर रही है कि उनके लिए तो हम जैसे लाखो हैं पर हमारे लिए उन जैसा अन्य कोई नही—

साहब तुम जनि बीसऐ लाख लोग मिलि जाहिं ।
हमसे तुमको बहुत हैं तुमसे हमको नाहिं ॥

ऊधो ! क्यों राखौं ये नैन ?
सुमिरि सुमिरि गुन अधिक तपत हैं सुनत तिहारो बैन ॥
मनोहर बदनचद के सादर कुमुद चकोर ।
परम-तृषारत सजल स्यामघन के जो चातक मोर ॥

मधुप, मराल चरन पंकज के, गति विलास-जल मीन।
चक्रवाक, मनि-दुति दिनकर के, मृग मुरली आधीन॥
सकल लोक सूनी लागतु है बिन देखे वा रूप।
सूरदास प्रभु नँदनंदन के नखसिख अंग अनूप॥८७॥

शब्दार्थ—बैन=वचन। मराल=हंस। मनि दुति=सूर्यकान्त मणि। चक्रवाक=चकवा। अनूप=अद्भुत।

व्याख्या—उद्धव के निर्गुणोपदेश से व्यथित होकर गोपियाँ कहती हैं कि उद्धव, तुम ही बताओ अपने इन नेत्रों को कैसे रोका जाय? तुम्हारी बात सुनकर तथा उनके गुणों का स्मरण कर-करके ये हमारे नेत्र बहुत अधिक सन्तप्त होते हैं। हमारे नेत्र उनके सुन्दर मुखचन्द्र के लिए कुमुद और चकोर हैं जिन्होंने उसे देख कर ही विकसित होना सीखा है और जो उसी ओर एकटक देखकर ही सन्तोष पाते हैं। हमारे ये नेत्र उन सजल घनश्याम के रूपमाधुर्य के लिए अत्यधिक प्यासे मोर और चातक हैं और उनके कमल रूपी चरणों में अनुराग रखने वाले ये भ्रमर और हंस हैं। यदि उनका लीलायुक्त गमन जलप्रवाह है तो ये हमारे नेत्र उसी जलप्रवाह के मीन हैं। उनके उरस्थल पर चमकती हुई सूर्यकान्त मणि वाले सूर्य के ये चक्रवाक हैं और उनकी मुरली के लिये ये मृग हैं। इस प्रकार हमारे ये नेत्र उनके अंग-प्रत्यंग के रूप माधुर्य पर मुग्ध है। उस सौंदर्य को बिना देखे हम यह सारा संसार शून्य प्रतीत होता हैं। सूरदास जी कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि उनके नख से लेकर शिखा तक अद्भुत सौंदर्य भरा पड़ा है।

विशेष—(i) रूपक अलंकार के सर्वांगपूर्ण प्रयोग ने नेत्रों के चित्रण को अत्यन्त पूर्ण तथा चित्रोपम बना दिया है।

(ii) वास्तव में उनका (कृष्ण भगवान् का) सौंदर्य सारे संसार के सौंदर्य का मूल है। तभी तो गोपिकाओं को उनके बिना यह संसार सूना सा प्रतीत होता है।

✓संदेसनि मधुबन कूप भरे।
जो कोउ पथिक गए हैं ह्याँ तें फिरि नहिं अवन करे॥
कै वै स्याम सिखाय समोधे कै वै बीच मरे?
अपने नहिं पठवत नँदनंदन हमरेउ फेरि धरे॥
मसि खूँटी कागद जल भीजे, सर दव लागि जरे।
पाती लिखैं कहो क्यों करि जो पलक-कपाट अरे?॥८८॥

शब्दार्थ—समोधे=समुझा-बुझा दिया। खूँटी=चुक गई। दव=दावाग्नि। कागद=कागज। सर=सरकण्डा। अरे=बन्द हो गये।

व्याख्या—अपने संदेशा के उत्तर न मिलने का कारण कल्पित करती हुई गोपियाँ कहती हैं कि हमारे संदेशों से तो मथुरा के कुएँ भर गये। जो कोई पथिक इधर से गया वह फिर उधर से लौट कर ही न आया। ऐसा प्रतीत होता है कि कृष्ण

ने उन्हे समझा-बुझा दिया अथवा वे वही बीच मे ही मर गये जिससे वे इधर न आ सके। नदनदन अपने तो भेजते ही नही और जो हमने भेजे थ उनको भी वही समेट कर रख लिया। कृष्ण के पत्र न लिखने के कारण कल्पित करती हुई वे कहती है शायद मथुरा मे स्याही भी चुक गई, कागज गल गये और दावाग्नि से सरकंडे (जिनकी लिखने की कलम बनती है) जलकर भस्म हो गये। जब नेत्रो के पलक कपाट भी बन्द हो रहे हैं तो भला पत्र कहाँ से लिखे जाते ?

विशेष—रूपक और अतिशयोक्ति अलकार ने अपना खूब रग दिखाया है।

नँदनदन मोहन सों मधुकर ! है काहे की प्रीति ?
जो कीजै तौ है जल, रवि औ जलधर की सी रीति ।।
जैसे मीन, कमल चातक की ऐसे ही गइ बीति।
तलफत, जरत, पुकारत सुनु, सठ ! नाहिंन है यह रीति ।।
मन हठि परे, कबंध जुद्ध ज्यों, हारेहु भइ जीति।
बँधत न प्रेम समुद्र सूर बल कहुँ, बारुहि की भीति। ८६।।

शब्दार्थ—कबध=धड। बल=बल सहित। बारुहि=बालू। भीति=दीवार।

व्याख्या—अपने प्रेमी कृष्ण से प्रेम न पाकर भी गोपियाँ अपने प्रेम पथ पर अटल हैं और इसी तथ्य पर प्रकाश डालती हुई वे उद्धव से कहती हैं कि हे भ्रमर, नदनदन श्री कृष्ण से प्रेम कैसा ? उनकी रीति तो जल, सूर्य और बादल के सदृश है। मछलियाँ, कमल और चातक क्रमश इनसे बहुत प्रेम करते हैं और अपनी सारी आयु इसी प्रेम मे बिता देते हैं किन्तु तब भी उन्हे अपने अपने प्रियतम का प्रेम प्राप्त नही होता। मीन जल के बिना तडपा करती है, कमल सूर्य की प्रचण्ड गर्मी मे जलता रहता है और चातक पिउ पिउ की पुकार मचा कर रह जाता है। हे शठ, प्रेम की यह पद्धति नहीं है। वे बेचारे यह सब जानते हुए भी अपने प्रेम पथ पर अटल रहते हैं। इनकी दशा उस योद्धा के समान है जिसका युद्ध म सिर कट जाने पर भी शेष धड अपने यश के हेतु निरतर सघर्ष किया करता है। वे बेचारे यह जानते हुए भी कि प्रियतम का मिलना असम्भव है, यश के लिए प्रेम मे बलिदान हो जाते हैं। वे अपनी पराजय मे ही अपनी विजय समझते हैं। सूरदास जी कहते हैं कि प्रेम का पारावार प्रियतम द्वारा की गई अवहेलनाओ की बालू की दीवारो की भाँति बधन मे नही रह सकता। वह प्रेम कोई ऐसा प्रेम नही है जो प्रियतम की उदासीनता पर कम हो जाय अर्थात् हमारा श्री कृष्ण से जो प्रेम है वह अटल है। उन के द्वारा प्रेम न पाकर भी हम उनसे प्रेम करना नही छोड सकती।

विशेष—(1) जिंदा रहकर इश्क मे जलना है तहजीबे वफा। (नश्तर)
जान परवाने ने दे दी बेशऊर इतना तो था।।
(ii) समालकार तथा विदर्शनालकार का स्वाभाविक प्रयोग दृष्टव्य है।

मधुबनियाँ लोगनि को पतिग्राय ?
मुख और अंतर्गत और पतियाँ लिखि पठवत हैं बनाय ॥
ज्यों कोइलसुत काग जिग्रावत भाव-भगति भोजनहिं खवाय।
कुहकुहाय आए बसंत ऋतु, अंत मिलै कुल अपने जाय ॥
जैसे मधुकर पहुप-बास लै फेरि न बूझै बातहु आय।
सूर जहाँ लौं स्यामगात हैं तिनसों क्यों कीजिये लगाय ? ॥ ६०॥

शब्दार्थ—पतिग्राय=विश्वास करना। अंतर्गत=मन में। भाव=प्रेम-भाव। कुहकुहाय=कूकती है। लगाय=लगन।

व्याख्या—कृष्ण की कपट-प्रीति पर प्रकाश डालती हुई गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि मथुरावासियों का कौन विश्वास करे ? उनके मन में कुछ और मुख में कुछ होता है। सोचते कुछ हैं और करते कुछ हैं। छल-कपट की बातें बना-बनाकर पत्र लिखते हैं। जिस प्रकार काग बड़े चाव से चुग्गा खिला-खिला के कोयल के बच्चों को पालता है किन्तु वसन्त आने पर वे कू-कू करके अपने कोकिल कुल में जा मिलते हैं। ठीक उसी भाँति कृष्ण ने किया है। नन्द और यशोदा ने बड़े चाव से उन्हें पाला किन्तु जब यौवन का वसन्त आया अर्थात् किसी योग्य हो गये तो अपने माँ-बाप के यहाँ मथुरा चले गये। हमारे साथ कृष्ण ने भ्रमर जैसा व्यवहार किया है। जैसे भ्रमर पुष्पों की गन्ध लेकर चलता बनता है और फिर लौट कर उनकी खैर-खबर भी नहीं लेता, उसी प्रकार कृष्ण ने हमारे साथ व्यवहार किया है। सूरदास जी कहते हैं कि वास्तव में श्याम शरीर वालों से मन लगाने से पश्चात्ताप के अतिरिक्त और कुछ प्राप्त नहीं होता। इनसे तो सम्बन्ध न रखना ही उत्तम है।

विशेष—अर्थान्तरन्यास अलंकार का प्रयोग अत्यन्त स्वाभाविक है।

मोहन माँग्यो अपनो रूप।
या ब्रज बसत अँचै तुम बैठीं, ता बिनु तहाँ निरूप ॥
मेरो मन, मेरो अलि ! लोचन लै जो गए धुप धूप।
हमसों बदलो लेन उठि धाए मनो धारि कर सूप ॥
अपनो काज सवाँरि सूर, सुनु, हमहिं बतावत कूप।
लेवा-देइ बराबर मे हैं, कौन रंक को भूप ॥६१॥

शब्दार्थ—अँचै=पी गई। निरूप=निराकार। धुप धूप=धुला हुआ।

व्याख्या—निराकार की उपासना के लिए उद्धव का विशेष आग्रह देखकर कोई सखी राधा से व्यंग्यपूर्वक कहती है कि हे राधा, श्री कृष्ण ने तुमसे अपना रूप माँगा है। जब वे यहाँ ब्रज में रहते थे तो उनके रूप का पान तुमने कर लिया था अब वे उस रूप के अभाव में वहाँ निराकार हो गये हैं। राधा इस बात का उत्तर देती हुई कहती है कि हे सखी, क्या तुम्हें ज्ञात नहीं है कि उन्होंने भी मेरे शुद्ध मन को अपनी चितवन से चुरा लिया है। आज ये उद्धव हाथों में सूप लेकर खूब फटक कर हमसे बदला लेने को चल दिये हैं। इस प्रकार ये अपना कार्य तो ठीक सँवार रहे हैं किन्तु

हमारी वस्तु (मन जो श्री कृष्ण चुरा ले गये हैं) की इन्हे कोई चिन्ता नहीं। इस प्रकार ये हमे तो कुएं मे ढकेले दे रहे है। सूरदास जी कहते हैं कि राधा ने सखियो से कहा कि उद्धव को यह विदित होना चाहिये कि लेन-देन मे सब बराबर है, चाहे कोई राजा हो अथवा रक। जिसने जो जिससे लिया है वह उसे उसका वापिस कर दे। कहने का तात्पर्य यह है कि कृष्ण यदि हमसे अपना रूप माँगते हैं तो वे भी हमारा मन, जिसे वे चुरा कर ले गये हैं, हमे वापिस कर दें।

विशेष—परिवृति अलकार की छटा दृष्टव्य है।

हरि सों भलो सो पति सीता को।
बन बन खोजत फिरे बधु-सग, कियो सिंधु बीता को॥
रावन मार्‌यो, लंका जारी, मुख देख्यो भीता को।
दूत हाथ उन्हैं लिखि न पठायो निगम ज्ञान गीता को॥
अब धों कहा परेखो कीजै कुबजा के मीता को।
जैसे चढत सबै सुधि भूली, ज्यो पीता चीता को?
कीन्हीं कृपा जोग लिखि पठयो, निरखु पत्र री! ताको।
सूरजदास प्रेम कह जानै लोभी नवनीता को॥६२॥

शब्दार्थ—बीता को=बीते भर का। भीता=भयभीत। पीता चीता को=किसी ने नही। निगम=ब्रह्मज्ञान। परेखो=विश्वास।

व्याख्या—कृष्ण की राम से तुलना करती हुई गोपिकायें कहती है कि हमारे प्रियतम श्री कृष्ण से तो सीता के पति राम कहीं अधिक अच्छे थ। वे तो सीता की खोज मे भाई लक्ष्मण को साथ लेकर बन-बन भटकते फिरे और फिर समुद्र को एक बीता के समान पार कर गये। उन्होने रावण का वध किया, लका को जला दिया और उस भयभीत सीता का मुख देखा। प्रेमी से मिलन के लिए प्रियतम के ये कठिन आयोजन कितने सराहनीय है? उन्होने कृष्ण की भाँति उद्धव जैसे दूत के हाथो शास्त्रो के ज्ञान का सन्देश भेज कर सीता को और भी अधिक दुखी बनाने की कभी चेष्टा नही की। हम उस कुब्जा के मित्र अर्थात कृष्ण का क्या बुरा मानें? वे तो स्वार्थी हैं। जब प्रेम का नशा चढा था तब इस निष्ठुरता का विचार नही किया था। नशे मे होश भी कहाँ रहता है? खैर, चलो यह भी उनकी हम पर महान् कृपा ही है कि उन्होंने सदेशा भेज दिया, हो चाहे वह योग का ही। कम से कम उन्हे हमारी याद तो आई, चाहे वह आई हो किसी रूप मे भी। न मानो तो सखी! यह उनका पत्र देख लो। सूर कहते हैं कि गोपियो ने कहा कि अरे भाई, वह माखन का लोभी प्रेम की परिपाटी क्या जाने?

विशेष—विपत्ति के समय अपने समान अन्य लोगो की याद करके अपने प्रियजनो के व्यवहार की दूसरे समान स्थिति वालो के प्रियजनो के व्यवहार से तुलना करना कितना स्वाभाविक है। कृष्ण और राम की यह तुलना कितनी स्वाभाविक एव प्रसगानुकूल है?

हरि हैं राजनीति पढि आए।
समुझी बात कहत मधुकर जो ? समाचार कछु पाए ?
इक अति चतुर हुते पहिले ही, अरु करि नेह दिखाए।
जानी बुद्धि बड़ी, जुवतिन को जोग-सँदेस पठाए।।
भले लोग आगे के, सखि री ! परहित डोलत धाए।
ये अपने मन फेरि पाइए जे हैं चलत चुराए।।
ते क्यों नीति करत आपुन जे औरनि रीति छुड़ाए ?
राजधर्म सब भए सूर जहँ प्रजा न जायँ सताए।।६३।।

शब्दार्थ—जुवतिन—युवतियाँ। धाए—दौड़े फिरना। औरनि—दूसरों को।

व्याख्या—गोपियाँ आपस में कहती हैं कि कृष्ण तो मथुरा जाकर राजनीति के पंडित हो गए हैं। तुमने जो कुछ उद्धव कह रहे हैं समझा, क्या इसमें कुछ निष्कर्ष निकाला। एक तो वह पहले से ही बहुत चतुर थे जबकि उन्होंने कपटपूर्ण नीति द्वारा प्रेम-प्रदर्शन किया था, अब उनकी प्रतिभा का और भी पता लग गया जबकि उन्होंने युवतियों के लिए योग का संदेश भेजा है। सखी, वस्तुतः पुराने लोग बहुत भले होते हैं। व बेचारे दूसरों की भलाई करने के लिए इधर-उधर दौड़ते फिरते हैं। तात्पर्य यह है कि ये उद्धव जी जो अपना काम-धन्धा छोड़कर दूसरों की भलाई के लिए इधर-उधर घूमते फिर रहे हैं इन्हें तुम भला न समझो। खैर, कुछ भी हो देखने की बात तो यह है कि उन्होंने चलने समय जो हमारा चित्त चुराया था उसे तो हम आज तक न लौटा सकीं फिर इस योग का आयान कहाँ है ? जो दूसरों की नीति छुड़ाने का प्रयास करते हैं उनसे अपनी नीति-पालन की आशा कैसे की जा सकती है। सूरदास जी कहते हैं कि राजनीति तो राजधर्म के पालन को कहते हैं। राजधर्म के पालन का अर्थ यह है कि वहाँ प्रजा नहीं सताई जाती। तात्पर्य यह है कि कृष्ण जी हमको सता रहे हैं अतः यह उनकी राजनीति नहीं है, यह तो कूटनीति है कूटनीति।

विशेष—राजा का कार्य है प्रजा को सुख पहुँचाना। कृष्ण जी ने गोपियों को दुःख दिया, अतः उन्होंने अपने राजधर्म का पालन नहीं किया। अतः उनकी इस नीति को राजनीति कहना राजधर्म का अपमान करना है। वस्तुतः उनकी इस नीति को कूटनीति कहना ही न्यायसंगत है। इस पद में यही व्यंग्य है।

जोग की गति सुनत मेरे अंग आगि बई।
सुलगि सुलगि हम रही तन में फूँक आनि दई।।
जोग हमको भोग कुबजहिं, कौनै सिख सिखई ?
सिंह गज तजि तृनहिं खडत सुनि बात नई।।
कर्मरेखा मिटति नाहीं जो विधि आनि ठई।
सूर हरि की कृपा जापै सकल सिद्धि भई।।६४।।

शब्दार्थ—बई—लगी। ठई—बनाई। सिख—शिक्षा। सिखई—सिखाई।

व्याख्या—कोई गोपी उद्धव के सामने अपनी किसी सखी से कह रही है कि इस योग के समाचार को सुनकर तो मेरे सारे शरीर मे आग लग गई। हम तो पहले से ही विरहानल मे जल रही थी। उद्धव ने योग का उपदेश देकर उसे और भी प्रचण्ड कर दिया। हमारे लिए तो योग और कुब्जा के लिए भोग, यह शिक्षा तुम्हे किसने दी ? सिंह भी हाथी के मास को छोडकर घास खाता है, यह अनहोनी बात सुनी जा रही है। तात्पर्य यह है कि हम तो अटल प्रेमिका हैं, भला योग को कैसे अपना सकती हैं ? जो विधाता ने भाग्य मे लिख दिया वह किसी से नही मिट सकता। सूरदास जी कहते हैं कि *हरि की कृपा जिन पर हो जाती है उन्हे सारी सिद्धिया प्राप्त हो जाती हैं।* भाव यह है कि यद्यपि वर्तमान दशा से यही प्रतीत होता है कि विधाता ने कुब्जा के भाग्य मे सुख और गोपियो के भाग्य मे दुख लिखा था। किन्तु यदि भगवान् श्री कृष्ण की कृपा हो जाय तो गोपियो को सुख प्राप्त होना कठिन नही है क्योकि भला भगवान् की शक्ति से बाहर ही क्या है ? जिस पर हरिकृपा हो जाय उसके लिए सब कुछ प्राप्त करना सभव है।

विशेष—अप्रस्तुत प्रशसा अलकार का सुन्दर प्रयोग दर्शनीय है।

ऊधो ! जान्यो ज्ञान तिहारो।
जानै कहा राजगति-लीला अत अहीर बिचारो॥
हम सबै अयानी, एक सयानी कुबजा सों मन मान्यो।
आवत नाहि लाज के मारे, मानहु कान्ह खिस्यान्यो॥
ऊधो ! जाहु बाँह धरि ल्याओ सुदर स्याम पियारो।
ब्याहौ लाख, धरौ दस कुबरी, अतहि कान्ह हमारो॥
सुन, री सखी ! कछू नहिं कहिए माधव आवन दीजै।
जबहीं मिलै सूर के स्वामी हांसी करि करि लीजै॥१५॥

शब्दार्थ—खिस्यान्यौ—लज्जा अनुभव हुई। धरौ—रखे। राजगति—राजनीति।

व्याख्या—कृष्ण ने गोपियो के पास योग का सन्देश किस कारण से भेजा, इस बात का अनुमान लगाती हुई गोपिया उद्धव से कहती है कि तुम्हारे ज्ञानोपदेश का रहस्य अब ज्ञात हुआ। हमारा प्रियतम तो बेचारा अहीर है वह राजकीय गतिविधियो को क्या जाने ? हम सबको अज्ञानी समझ कर वे बिचारे हमे त्याग कर चले गए और अब ज्ञानी बनाने के हेतु ही शायद यह ज्ञान भिजवाया है। उन्हे तो वह अकेली कुब्जा ही ज्ञानी दिखाई दी अत वे उसी से अपना मन लगा बैठे। किन्तु वास्तविकता यह थी नही, सो वे भी जान गए। अत वे अब यहा लज्जा के वश नही आते। हे उद्धव, हम तुम्हें विश्वास दिलाती हैं कि हम उनसे इस विषय मे कुछ नही कहेंगी, तुम उनका हाथ पकडकर उन्हे यहाँ लिवा लाओ। चाहे वे लाखो ब्याह कर लें, चाहे कुबरी जैसी दसो घर लें किन्तु यह निश्चित है कि ये अन्त मे रहेगे हमारे ही ! इस प्रकार से कहती हुई गोपी से कोई दूसरी गोपी यह सोचकर कि कहीं उद्धव जाकर उन्हे यह सब जता दें तो फिर वे

नही आवेंगे, कहती है कि हे सखी, तुम अभी से कुछ मत कहो, पहले माधव को जाने दो। जब वे सूर के स्वामी मिल जाएं तो तब खूब मनभर के हँसी कर लेना।

विशेष—'बिब्बोक' भाव की सुन्दर छटा देखने योग्य है।

उर मे माखनचोर गडे।
अब कैसे हु निकसत नहिं, ऊधो! तिरछे ह्वै जो अडे॥
जदपि अहीर जसोदानदन तदपि न जात छंडे।
वहाँ बने यदुवस महाकुल हमहि न लगत बडे॥
को वसुदेव, देवकी है को, ना जानें औ बूझै।
सूर स्याममुंदर बिनु देखे और न कोऊ सूझै॥९६॥

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव के योगमार्ग को ग्रहण करने की अपनी असमर्थता को प्रगट करती हुई कहती है कि हे ऊधो, हमारे हृदय में तो माखनचोर श्री कृष्ण गड़े हुए हैं। वे कुछ ऐसे तिरछे होकर फस गये है कि किसी प्रकार भी निकलते नही हैं। भाव यह है कि कृष्ण की बाँकी अदायें हृदय मे ऐसी जम गई हैं कि उन्हे अलग करना बडा कठिन है। यदि तुम यह कहो कि वे अहीर हैं और हमे एक अहीर से प्रेम करना शोभा नही देता, तो भी हम उन्हे नही त्याग सकती। आखिर हम भी तो अहीर ही हैं। वहाँ जाकर चाहे उन्होने बडे भारी कुल यदुवश से अपना सम्बन्ध स्थापित कर लिया है किन्तु हम तब भी उन्हे बडा नही समझती हैं। होंगे कोई वसुदेव, होगी कोई देवकी; हम न उन्हे जानते हैं और न बूझते हैं। सूरदास जी कहते हैं कि गोपियो ने कहा कि हमें श्री कृष्ण के बिना देखे कुछ भी अच्छा नही लगता और न कुछ समझ मे आता है।

विशेष—कृष्ण जी के त्रिभगी होने की बात कविवर बिहारी के निम्न दोहे में दृष्टव्य है—

करौ कुवत जग कुटिलता तजौं न दीनदयाल।
दुखी होउगे सरल चित्त बसत त्रिभगीलाल॥

गोपालहि कैसे कै हम देति?
ऊधो की इन मीठी बातन निर्गुन कैसे लेति?
अर्थ, धर्म, कामना सुनावत सब सुख मुकुति-समेत।
जे त्र्यापकहि बिचारत बरनत निगम कहत हैं नेति॥
ताको भूलि गई मनसाहू देखहु जो चित चेति।
सूर स्याम तजि कौन सकत है, अलि काकी गति एति॥९७॥

शब्दार्थ—मनसाहू—इच्छा तक। चेति—विचार करके। एति—इतनी, ऐसी।

व्याख्या—सगुण को निर्गुण से बदलने मे अपनी असमर्थता प्रगट करती हुई गोपियाँ कहती हैं कि हे उद्धव, भला हम गोपाल को कैसे दे सकती हैं? ऊधो की इन

प्रकार की मीठी बातों से निर्गुण को कैसे ग्रहण कर सकती हैं ? वे हमें निर्गुण की उपासना के बाद धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष सभी परम सुखों की प्राप्ति सुगम बताते हैं किन्तु यह निर्गुण का व्रत कितना कठोर है, वे यह नहीं सोचते। उसका प्राप्त करना भी असम्भव है। ब्रह्म की व्यापकता का वर्णन करते हुए शास्त्र उसको नेति-नेति कहते हैं। यदि यह कहा जाय कि मन में मनन करना ही उसकी प्राप्ति है तो यह कथन भी न्यायसंगत नहीं माना जा सकता। वस्तुत. मन भी वहां भटकता रहता है और कभी लक्ष्य पर नहीं पहुंचता। सूर की गोपियां कहती हैं कि सगुणोपासक के सरल मार्ग को छोड़कर उस कठिन ब्रह्म की प्राप्ति कैसे कोई कर सकता है ? भाव यह है कि हम अपने सगुण को निर्गुण से नहीं बदल सकतीं।

विशेष—इस पद में निर्गुण का खण्डन अत्यन्त तर्कयुक्त है।

उपमा एक न नैन गही।
कविजन कहत कहत चलि आए सुधि,करि करि काहू न कही॥
कहे चकोर, मुख-बिधु बिनु जीवन; भँवर न, तहँ उड़ जात।
हरि मुख-कमल कोस बिछुरे तें ठाले क्यों ठहरात ?
खंजन मनरंजन जन जौ पै, कबहुँ नाहिं सतरात।
पांय पसारि न उड़त, मंद ह्वै समर-समीप बिकात॥
आए बंधन व्याध ह्वै ऊधो, जौ मृग, क्यों न पलाय ?
देखत भागि बसैं छन बन से जहँ कोउ संग न धाय॥
ब्रजलोचन बिनु लोचन कैसे ? प्रति छिन अति दुख बाढ़त।
सूरदास मीनता कछु इक जलभरि संग न छांडत॥६८॥

शब्दार्थ—ठाले—अभाव में। समर—कामदेव। सतरात—चिढ़ना। ब्रजलोचन—कृष्ण।

व्याख्या—अपने नेत्रों को उपमा ग्रहण न करने योग्य समझती हुई गोपियाँ कहती हैं कि हमारे नेत्र अब एक भी उपमा ग्रहण करने योग्य नहीं है। कविजन पहले से ही नेत्रों के लिए विविध उपमान प्रस्तुत करते चले आए हैं किन्तु उन्होंने वियोगावस्था के नेत्रों का स्मरण करके कोई उपमान नहीं चुना। नेत्रों के लिए कवियों के पास सर्वप्रसिद्ध उपमान चकोर है किन्तु हमारे नेत्रों की उससे समानता करना नितान्त मिथ्या है। चकोर तो चन्द्रमा के बिना जीवित ही नहीं रह सकता, किंतु ये हमारे नेत्र कृष्ण को बिना देखे जीवित हैं। इनकी भ्रमर से भी समानता बताना अनुचित है। भ्रमर तो कमल से बिछुड़ने पर फिर उड़कर वहीं पहुंच जाता है किन्तु ये हमारे नेत्र निठल्ले यहीं पड़े हैं। उनका तीसरा उपमान है खंजन, सो वह भी ठीक नहीं जंचता। यदि इन्हें खंजन के समान लोगों का मन प्रसन्न करने वाले कहा जाय तो भी उपयुक्त नहीं है। खंजन किसी के निकट जाने पर सुगमता से पकड़ में नहीं आ पाता, किन्तु ये हमारे नेत्र काम के निकट जाते ही उनके हाथों बिक जाते हैं। नेत्रों के लिए एक और

उपमान है मृग। किन्तु यह भी हमारे नेत्रों के लिए ठीक नहीं जचता। मृग तो शिकारी के मारे ही बहुत दूर वन में भाग जाता है, किन्तु ये हमारे नेत्र आज जबकि ऊधो-शिकारी इनका शिकार करने आये हैं तो अब तक यहाँ क्यो हैं, वन मे दूर क्यो नहीं भाग गये? जहाँ इनके साथ कोई न लग सकता था। व्रजलोचन श्री कृष्ण के अभाव मे हमारे ये नेत्र कैसे? उनके रहने से क्या लाभ? उनसे तो और प्रतिक्षण दुःख ही बढ़ता है। हाँ, नेत्रों की उपमा मछली से ठीक बैठ सकती है। मछली का गुण है—जल का कभी साथ न छोड़ना। सो यह गुण हम वियोगिनियो की आँखो मे भी है। ये भी दिन-रात आँसुओं मे भरी रहती हैं, कभी भी जल से इनका साथ नहीं छुटता।

विशेष—इस पद मे हीनोपमा तथा रूपक अलंकार है।

अब नीकैं कै समुझि परी।
जिन लगि हुती बहुत उर आसा सोऊ बात निवरी॥
वै सुफलक सुत, ये सखि! ऊधो मिली एक परिपाटी।
उन तो वह कीन्ही तब हमसों, ये रतन छँड़ाइ गहावत माटी॥
ऊपर मृदु भीतर तैं कुलिस सम, देखत के अति भोरे।
जोइ जोइ आवत वा मथुरा तें एक डार के से तोरे॥
यह, सखि, मैं पहिले कहि राखी असित न अपने होंहीं।
सूर कोटि जो माथो दीजै चलत आपनो गौं हीं॥६६॥

शब्दार्थ—निवरी—छूटी, जाती रही, समाप्त हो गई। असित—काले। गौं—घात।

व्याख्या—उद्धव को लज्जित करने के लिए गोपियाँ आपस में कहती हैं कि अच्छा अब हम अच्छी तरह समझ गई। जिनसे (ऊधो से जिन्हे श्री कृष्ण समझा था) हमें बहुत आशा थी, वह भी अब समाप्त हो गई। हे सखी, ये अक्रूर जी तथा ये उद्धव दोनों की जोड़ी खूब मिली है। उन्होंने तो हमारे साथ वह किया जिसे मुख से कहना भी अच्छा नहीं है (श्री कृष्ण को मथुरा ले गये) और ये अर्थात् ऊधो हमसे रत्न (सगुण भक्ति) छीनकर मिट्टी (निर्गुणोपासना) दे रहे हैं। बाहर से अत्यन्त कोमल तथा भीतर से वज्र के समान कठोर ये लोग देखने में ही भोले-भाले हैं। वस्तुतः तो ये जितने भी मथुरा से आते हैं, सब एक ही थैली के चट्टे-बट्टे हैं। सूर कहते हैं कि एक गोपी दूसरी से कहती है कि हे सखी! मैं तो तुमसे पहले से ही कहती रही हूँ कि ये काले कभी भी अपने नहीं हो सकते। चाहे अपना सिर भी इनको दे दो पर तब भी अपनी घात में ही लगे रहेंगे।

विशेष—उद्धव और अक्रूर दोनों का जो चित्रण गोपियों के शब्दों में सूर ने इस पद मे प्रस्तुत किया है वह अत्यन्त स्वाभाविक एवं हृदयस्पर्शी है।

मधुकर रह्यो जोग सौं नातो।
कतहिं बकत बेकाम काज बिनु, होय न ह्याँ तें हातो॥

जब मिलि मिलि मधुपान कियो हो तब तूं कहि धौं कहाँ तो।
तू आयो निर्गुन उपदेसन, सो नहि हमें सुहातो॥
काँचे गुन लै तनु ज्यों बेधो; लै बारिज को तांतो।
मेरे जान गह्यो चाहत हो फेरि कै मैगल मातो॥
यह लै देहु सूर के प्रभु को आयो जोग जहाँ तो।
जब चहि हैं तब माँगि पठै हैं जो कोउ आवत-जातो॥१००॥

शब्दार्थ—हातो—दूर, अलग। गुन—तागा। मैगल—मस्त हाथी। हो—था। धौं—न जाने। तो—था। बारिज—ततु। जहाँ तो—जहाँ से।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि अच्छा भ्रमर, तुम्हारी दृष्टि मे हमारा श्री कृष्ण से सम्बन्ध योग तक ही रहा है। व्यर्थ की बकवास क्यो करते हो ? यहाँ से दूर क्यो नही चले जाते। जब हम लोगो ने मधुपान किया था तब तुम कहाँ चले गये थे ? अब जो तुम निर्गुन का उपदेश देने आये हो सो हमें अच्छा नही लगता। तुम्हारा यह प्रयत्न ऐसा है जैसा कि कच्चे धागे से किसी के शरीर को बीधने का प्रयत्न अथवा कमल के तन्तुओ से मस्त हाथी को पकडने का प्रयास। तुम यह योग जहाँ से लाये हो वही जाकर वापिस कर दो। जब कभी हमे आवश्यकता पडेगी तब हम वही से किसी आते-जाते के हाथो मगा लेंगी।

विशेष— (i) वस्तुत गोपियो को योग की कभी आवश्यकता ही नही पडगी।

(ii) उपमालकार का प्रयोग दर्शनीय है।

हरिमुख निरखि निमेख बिसारे।
ता दिन तें मनो भए दिगंबर इन नैनन के तारे॥
घूंघट पट छांडि बीथिन महँ अहनिसि अटत उघारे।
सहज समाधि रूपरुचि इकटक टरत न टक तें टारे॥
सूर, सुमति समुझति, जिय जानति, ऊधो ! बचन तिहारे।
करें कहा ये कह्यौ न मानत लोचन हठी हमारे॥१०१॥

शब्दार्थ—अटत—घूमते हैं। निमेख—पलक। अहनिसि—दिन-रात। उघारे—नग्न।

व्याख्या—अपने नेत्रो की विवशता प्रगट करती हुई गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हमने कृष्ण के मुख को देखकर पलक मारना भी भुला दिया। पलक रूपी वस्त्र से न ढकी होने के कारण ये आँखें नगी रह गई हैं। उसी दिन से घूंघट के वस्त्र को त्याग कर रात-दिन गलियो मे नगी घूमती रहती हैं। अपने प्रियतम के सौदर्य की ओर एकटक देखती हुई ये अपनी स्वाभाविक समाधि मे तल्लीन रहती हैं। सूरदास जी कहते हैं कि गोपियो ने उद्धव से कहा कि जब अपनी सुमति से विचार करती हैं तो आपने वचनो का सार पूर्ण रूप से समझ लेती हैं। हम समझती हैं कि आपके वचन अहितकारी नहीं हैं।

परन्तु करें तो क्या करें, ये हमारे हठी नेत्र हमारा कहना नहीं मानते। निरन्तर कृष्ण की उन रूप-माधुरी पर मरते रहते हैं। यही कारण है कि आपके वचनों को अपने लिए हितकारी समझते हुए भी हमें आपके वचनों की अवहेलना करनी पड़ रही है।

विशेष—(i) वस्तुत: नेत्रों की यह विवशता अत्यन्त स्वाभाविक है। देखिये, नशतर भी आँखों की इस विवशता को किस ढंग से प्रगट करते हैं—

"वह आयें या कि न आयें यह उनके दिल की रजा।
हम उनकी राह मे आँखें बिछाये जाते हैं॥"

(ii) दूसरी पंक्ति में उत्प्रेक्षा अलंकार है।

दूर करहु बीना कर धरिबो।
मोहे मृग नाहीं रथ हाँक्यो, नाहिन होत चंद को ढरिबो॥
बीती जाहि पै सोई जानै कठिन है प्रेम-पास को परिबो।
जब तें बिछुरे कमलनयन, सखि, रहत न नयन नीर को गरिबो॥
सीतलचंद अगिनी-सम लागत, कहिए धीर कौन बिधि धरिबो।
सूरदास प्रभु तुम्हरे दरस बिनु सब झूठो जतननि को करिबो॥१०२॥

शब्दार्थ—ढरिबो—अस्त होना। पास—फंदा। रहत—रुकना।

व्याख्या—वियोगिनी राधा के सन्ताप को कम करने के लिए जब गान वाद्य किया गया तो कोई गोपिका कहती है कि हाथ में रखी हुई वीणा को दूर कर दो। तुम्हें दीखता नहीं कि वीणा की मोहक तानों से चन्द्र के रथ में जुते हुए मृग रुक गये और अब चन्द्र भी अस्त नहीं होता अर्थात् रात भी व्यतीत नहीं होती। प्रेम-पाश में फंसे व्यक्ति की व्यथा वही जान सकता है जिसने सन्ताप भोगा हो। हे सखि, जबसे कमल-नयन श्री कृष्ण बिछुड़े हैं तभी से नेत्रों से आँसू गिरने बन्द नहीं हुए। यह शीतल चन्द्रमा भी अग्नि के समान लगता है। फिर बताओ, भला धैर्य कैसे रखा जा सकता है? सूरदास जी कहते हैं कि हे प्रभु, तुम्हारे वियोग से पीड़ित लोगों की कोई औषधि ही नहीं है। सभी उपचार व्यर्थ हैं।

विशेष—(i) 'राम वियोगी न जिएँ तो बौराहोहिं'—(कबीर)
(ii) अतिशयोक्ति अलंकार है।

अति मलीन वृषभानु कुमारी।
हरि स्रम-जल अंतर-तनु भीजे ता लालच न धुवावति सारी॥
अधोमुख रहति उरध नहि चितवति ज्यों गथ हारे थकित जुआरी।
छूटे चिहुर, बदन कुम्हिलाने, ज्यों नलिनी हिमकर की मारी॥
हरि-संदेस सुनि सहज मृतक भई, इक बिरहिनी दूजे अलि जारी।
सूर स्याम बिनु यों जीवति हैं, ब्रजबनिता सब स्याम दुलारी॥१०३॥

शब्दार्थ—गथ—पूँजी। चिहुर—बाल। स्रम-जल—पसीना। अंतर-तनु—

भीतर तक। नलिनी—कमलिनि। हिमकर—चन्द्रमा।

व्याख्या—गोपियाँ वियोगिनी राधा की दशा तथा उस पर उद्धव के निर्गुणोपदेश के प्रभाव का वर्णन करती हुई कहती हैं कि वृषभानु की पुत्री राधा अत्यन्त मलीन है। उसने अपनी साडी इसलिए नही धुलवाई क्योंकि रति-केलि के समय वह साडी प्रियतम कृष्ण के पसीने मे भीग चुकी है। वह सदा नीचे मुख किये रहती है, ऊपर को देखती तक नही। उसकी मुद्रा हारे हुए जुआरी की मुद्रा के समान है। उसके बाल बिखरे हुए हैं, उसका मुख कुम्हलाया हुआ है। इस प्रकार वह पाले से मारी हुई कमलिनी के समान लगती है। कृष्ण के सदेश को सुन कर तो वह अनायास ही मर गई है। विरह का दुःख तो था ही फिर इस भ्रमर (ऊधो) ने और आकर जला डाला है। सूर कहते हैं कि राधा ही नही अपितु श्याम के वियोग में श्याम से प्रेम करने वाली सभी व्रजबनितायें इसी प्रकार जी रही हैं।

विशेष—उत्प्रेक्षा और उपमालकार है।

ऊधो! तुम हो अति बड़भागी।
अपरस रहत सनेह तगा तें, नाहिन मन अनुरागी॥
पुरइनि-पात रहत जल-भीतर ता रस देह न दागी।
ज्यों जल माँह तेल की गागरि बूँद न ताके लागी॥
प्रीति-नदी मे पाँव न बोरयो, दृष्टि न रूप-परागी।
सूरदास अबला हम भोरी गुर चींटी ज्यों पागी॥१०४॥

शब्दार्थ—अपरस—दूर, अलग। दागी—दाग लगाना। पुरइनि—कमल। पात—पत्र, पत्ता।

व्याख्या—गोपियाँ कहती हैं कि हे उद्धव, तुम बड़े भाग्यशाली हो क्योंकि तुम स्नेह के तागे से अनासक्त हो और तुम कहीं आसक्त ही नही होते। जिस प्रकार कमल-पत्र पानी मे रहते हुए भी जल के द्रव से अलग रहता है उसी प्रकार तुम भी संसार मे रहते हुए भी सासारिक प्रपचो से दूर हो। जिस प्रकार तेल से भरी गगरी को जल मे डालने पर भी उस पर जल का कोई प्रभाव नही होता, उसी प्रकार तुम पर भी प्रेम का कोई प्रभाव नही पडता। तुमने प्रेम-नदी मे अपना पैर नही डुबाया और न तुम्हारी आँखें ही किसी के प्रेम मे फसी। सूर कहते हैं कि गोपिकाओं ने कहा कि हम तो भोली-भाली अबलाएँ हैं (तुम तो सबल थे, जो बच गये) प्रियतम के सौन्दर्य पर गुड पर चींटी की भाँति एकदम आसक्त हो गई।

विशेष—रूपक और उपमा अलकार की छटा देखते ही बनती है।

ऊधो! यह मन और न होय।
पहिले ही चढ़ि रह्यो स्याम-रँग छूटत न देख्यो धोय॥
कैतव-बचन छाँडि हरि हमको सोइ करें जो मूल।
जोग हमें ऐसो लागत है ज्यों तोहि चंपक फूल॥

अब क्यों मिटत हाथ की रेखा ? कहो कौन विधि कीजै ?
सूर, स्याममुख आनि दिखाओ जाहि निरखि करि जीजै ॥१०५॥

शब्दार्थ—कैतव—छल, कपट। चंपक फूल—चंपा का फूल। निरखि—देखकर।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हमारा मन अब और कहीं आसक्त हो ही नहीं सकता। इस पर तो पहले श्याम रंग चढ चुका है, जो धोने से धुल ही नहीं सकता। अतः अब हित इसी मे है कि कृष्ण अब कपट वचनो को त्याग कर वही करें जो आरम्भ से करते रहे हैं। हमे तुम्हारा यह योग उसी प्रकार हेय लगता है जैसे तुम्हे चम्पा का फूल लगता है। जो भाग्य मे लिखा हुआ है वह भला अब कैसे मिट सकता है ? सूरदास जी कहते हैं कि गोपियो ने कहा, अच्छा तो बस तुम हमे तो श्याम के मुख के दर्शन करा दो क्योंकि उसी को देखकर हम जी सकती हैं।

विशेष—(i) वस्तुत श्याम रग बहुत पक्का रग होता है, धोने से वह छुट ही नहीं सकता। किसी ने कहा भी है—

'धोए हूँ सौ बेर के काजर होय न सेत।'

(ii) सर्वगुण सम्पन्न होने पर भी चम्पा का पुष्प भ्रमर (ऊधो) को अच्छा नहीं लगता। किसी ने ठीक ही कहा है—

'चंपा मे तो तीन गुण रूप रंग अरु बास।
अवगुण तो बस एक है भवर न आवे पास ॥'

ऊधो ! ना हम बिरही, ना तुम दास।
कहत सुनत घट प्रान रहत हैं, हरि तन भजहु अकास ॥
बिरही मीन मरत जल बिछुरे छाँडि जियन की आस।
दास भाव नहिं तजत पपीहा बरु सहि रहत पियास ॥
प्रगट प्रीति दसरथ प्रतिपाली प्रीतम के बनबास।
सूर स्याम सों दृढ़ब्रत कीन्हो मेटि जगत-उपहास ॥१०६॥

शब्दार्थ—घट—शरीर। अकास—शून्य आकाश अर्थात् निर्गुण ब्रह्म। जगत-उपहास—जगत् द्वारा हसी उडाना।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हे ऊधो ! वास्तविक अर्थ मे न तो हम वियोगिनी हैं और न तुम उनके दास हो। हम तो इसलिए सच्ची विरहिणी नही हैं क्योंकि हमारे प्राण तुम्हारे निर्गुण-उपदेश को सुनकर भी नही निकलते हैं। तुम सच्चे दास इसलिए नही हो क्योंकि तुम कृष्ण को छोड़कर निर्गुण को भजने का उपदेश देते हो। देखो, मछली जल से अलग होने पर अपने प्राण त्याग देती है किन्तु एक हम हैं कि कृष्ण से बिछुड जाने पर भी अपने प्राणो को सवारे बैठी हैं। दूसरी ओर तुम अपने को देखो। पपीहा चाहे प्यासा रहे, चाहे कितने ही भी कष्ट उठावे परन्तु अपने दास-भाव को वह नही त्याग सकता। जहाँ तक सच्चे प्रेम की बात है, वह देखो राजा दशरथ मे। जिन्होंने राम के

वनवास चले जाने पर उनके वियोग में अपने प्राण दे दिये। हमारा प्रेम आ
विडम्बना है। यद्यपि हमने भी सूर के प्रभु श्री कृष्ण से संसार के उपहा
करके प्रेम किया था किन्तु उनके वियोग में अपने प्राणों का परित्याग नह

विशेष—उदाहरण अलंकार है।

ऊधो! कही सो बहुरि न कहियो।
जो तुम हमहिं जिवायो चाहौ अनबोले ह्वै रहियो॥
हमरे प्रान अघात होत हैं, तुम जानत हो हाँसी।
या जीवन तें मरन भलो है करवट लैबो कासी॥
जब हरि गवन कियौ पूरब लौं तब लिखि जोग पठायो।
यह तन जारि कै भस्म ह्वै निबस्यो बहुरि मसान जगायो॥
कै रे! मनोहर आनि मिलायो, कै लै चलु हम साथे।
सूरदास अब मरन बन्यो है, पाप तिहारे माथे॥ १०७॥

शब्दार्थ—बहुरि—फिर। अनबोले—चुप। निबस्यो—निबटा, समाप्त हुआ। पूरब लौं—पूर्व की ओर, मथुरा। मसान जगाना—सिद्धि के लिए साधना करना।

व्याख्या—उद्धव के बार-बार के योग के उपदेश से खीभकर गोपियाँ कहती हैं कि हे उद्धव, तुमने जो योग की बातें अब तक कही हैं, उन्हें फिर न कहना। यदि तुम हमारा जीवन चाहते हो तो बस अब चुप ही रहना। तुम्हारे इन वचनों से हमारे प्राणों को चोट लगती है और तुम हँसी समझ रहे हो। वस्तुतः इस विरह-व्यथित जीवन से तो काशी जाकर अपने प्राण दे देना उत्तम है। यह हमारा दुर्भाग्य ही है कि जब कृष्ण मथुरा गये तो तब यह योग उन्होंने हमारे लिए लिख भेजा। इसकी व्यथा से हमारा शरीर वस्तुतः भस्म ही हो गया है। अब जो कुछ आप कह रहे हैं वह केवल श्मशान जगाना है। अब हम बिल्कुल निर्जीव हो चुकी हैं अतः या तो उस सौन्दर्य राशि श्री कृष्ण को हमसे लाकर मिला दो अथवा हमें अपने साथ उन तक ले चलो। सूरदास जी कहते हैं कि गोपियों ने उद्धव से कहा कि यदि तुमने ऐसा न किया तो हमारा मरण निश्चित है और उसका पाप तुम्हारे ही मस्तक पर लगेगा।

विशेष—'करवट लैबो कासी' पंक्ति का आशय यह है कि काशी जाकर अपने को आरे से चिरवाकर मर जाना ही उत्तम है।

ऊधो! तुम अपनो जतन करो।
हित की कहत कुहित की लागै, किन बेकाज ररौ?
जाय करो उपचार आपनो, हम जो कहत हैं जी की।
कछू कहत कछुवै कहि डारत, धुन देखियत नहिं नीकी॥
साधु होय तेहि उत्तर दीजै तुमसों मानी हारि।
याही तें तुम्हैं नंदनंदन जू यहाँ पठाए टारि॥

मथुरा बेगि गहौ इन पाँयन, उपज्यौ है तन रोग।
सूर सुबैद बेगि किन ढूंढौ भए अर्द्धजल जोग॥१०८॥

शब्दार्थ—कुहित—बुरी। उपचार—दवा। धुन—रगढग। अर्द्धजल जोग—मरने के निकट हुए।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हे उद्धव, तुम हमे क्या शिक्षा देते हो, पहले अपना उपचार तो करो। हम तुमसे तुम्हारी भलाई की कहती हैं पर तुम्हें हमारी बात अहित की लगती है। तुम हमारी तो मानते नही हो और अपनी कहे जा रहे हो। हम तुमसे हृदय से कह रही हैं कि तुम जाकर अपना उपचार करो। कहना चाहते हो कुछ और कह डालते हो कुछ। यह तुम्हारी जक-जक कुछ अच्छी बात नही है। अब हम चुप ही रहेगी क्योकि किसी बात का उत्तर भले आदमी को ही दिया जाता है। हम तो तुमसे हार मान गई। ऐसा प्रतीत होता है कि इसी जक-जक की बीमारी के कारण कृष्ण ने शायद तुम्हे यहाँ खेद दिया है। तुम शीघ्र ही उल्टे पैरो मथुरा चले जाओ क्योकि तुम्हारा शरीर रोगग्रस्त हो गया है। सूर कहते हैं कि गोपियो ने कहा कि हे उद्धव, तुम जाओ शीघ्रता से किसी अच्छे वैद्य की खोज करो क्योकि तुम्हारा रोग असाध्य हो रहा है और तुम मरने के निकट पहुँच रहे हो।

विशेष—'अर्द्धजल' शब्द विचारणीय है। शव को दाह के पूर्व अर्द्धजल दिया जाता है। अत इससे यहाँ अर्थ हुआ 'मरने के निकट पहुँचना'।

ऊधो! जाके माथे भाग।
कुबजा को पटरानी कीन्हीं, हमहि देत बैराग॥
तलफत फिरत सकल ब्रजबनिता चेरी चपरि सोहाग।
बयो बनायो सग सखो री! मैं रे! हस वे काग॥
लौंडी के घर डौंडी बाजी स्याम राग अनुराग।
हाँसी, कमलनयन-सग खेलति बारहमासी फाग॥
जोग की बेलि लगावन आए काटि प्रेम को बाग।
सूरदास प्रभु ऊख छाँडि कै चतुर चिचोरत आग॥१०९॥

शब्दार्थ—चपरि—शीघ्रता से। आग—गन्ने का अगला भाग।

व्याख्या—अपने को दुखी और कुब्जा को सुखी अनुभव करके गोपियाँ भल्ला कर उद्धव से कहती हैं कि हे ऊधो जिसके भाग्य मे जो कुछ लिखा होता है उसे वही भोगना पडता है। यह हमारा दुर्भाग्य ही है कि कृष्ण ने कुब्जा को तो पटरानी बना रखा है और हमे यह वैराग्य का सन्देश भेजा है। यह भाग्य का ही तो खेल है कि ब्रज की सुन्दरियाँ तो विरह-व्यथा मे छटपटाती फिरती है और दासी कुब्जा के मस्तक पर सुहाग का टीका लगाया जा रहा है। इसी बीच मे एक अन्य गोपी बोली, सखी! अब की बार कुब्जा और कृष्ण की जोडी कौए और हम की जोडी के सदृश खूब मिली है! उसके घर कृष्ण के प्रेम की शहनाइयाँ बज रही हैं। आज वह सुखी से

ृष्ण के प्रेम मे बिल्कुल डूब कर बारहमासी फाग खेल रही है। वस्तुत यह अपने-अपने भाग्य की ही बात है कि वहाँ तो वह प्रेमोत्सव हो रहे हैं और यहाँ तुम हमारे प्रेम का बाग काटकर जोग की बेल लगाने आये हो। सूर कहते है कि गोपियो ने ऊधो से कहा कि तुम हमसे प्रेम त्याग कर योग ग्रहण करने की आशा व्यर्थ मे कर रहे हो क्योकि बुद्धिमान लोग भला कही गन्ने को छोडकर उसके आगो को चूसते हैं?

विशेष—अन्तिम पक्ति का अन्तिम शब्द 'आग' विचारणीय है। आचार्य शुक्ल जी ने इसका अर्थ 'आक' अर्थात् 'मदार' किया है। किन्तु हमे यह उतना सार्थक नही जँचता जितना कि 'आगो' अर्थात् गन्ने का अगला भाग। गन्ने की मदार से तुलना उतनी सार्थक नहीं है। फिर ब्रजभाषा मे गन्ने के अगले भाग को 'आग' कहते भी हैं।

ऊधो ! अब यह समुझ भई ।
नँदनदन के अग अग प्रति उपमा न्याय दई ॥
कुतल, कुटिल भवर, भरि भाँवरि मालति भुरै लई ।
तजत न गहरु कियो कपटी जब जानी निरस गई ॥
आनन इदुबरन-समुख तजि करखे तें न नई ।
निरमोही नहिं नेह, कुमुदिनी अंतहि हेम हई ॥
तन घनस्याम सेई निसिबासर, रटि रसना छिजई ।
सूर विवेकहीन चातक-मुख बूदौ तौ न सई ॥११०॥

शब्दार्थ—दई—दी। गहरु—देर। हेम हई—पाले से मारा गया। सई—गई। भुरै लई—ठग लिया। निरस—रसहीन हो गई। करखे तें—खीचने पर भी न हटी। छिजई—घिस डाली।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि अब हमारी समझ मे आया। नदनदन के अग-प्रत्यग के वर्णन के लिए कवियो द्वारा जो अनेक उपमायें दी गई है वे सब न्यायोचित ही है। उनके बालो की जो उपमा भ्रमर से दी गई है वह ठीक ही है। उससे केवल उनका रुप साम्य ही व्यक्त नही होता वरन् स्वभाव की समानता भी दृष्टिगत होती है। जिस प्रकार भौरा चक्कर काट काटकर भोली-भाली मालतियो को भरमाकर उनसे रगरेलिया करके तथा उनके नीरस हो जान पर तुरन्त ही वहाँ से चला जाता है, उसी प्रकार अपने छल्लेदार बालो से मुग्ध करके तथा भाग करके और शिथिल होन पर कृष्ण हमे छोडकर चल दिय। उनके मुख की उपमा चन्द्र से ठीक ही दी गई है। बेचारी कुमुदिनी चन्द्र से इतना प्रम करती है कि सदा एकटक उसकी ही ओर निहारती रहती है, कोई उसे खीचकर हटाना भी चाह तो वह नही हटती। दूसरी ओर चन्द्र इतना निष्ठुर है कि उसमे स्नेह ही नही करता। वह स्वय हिमकर है किन्तु अनुरक्त कुमुदिनी को अन्त मे हिम के हाथो ही अपनी जीवनलीला समाप्त करनी पडती है। बिल्कुल यही दशा कृष्ण के मुख चन्द्र की है। जो ब्रज-बालायें उस पर अपनी जान न्योछावर करती थी, उन्ही को वे अपने मुख के सन्देश से मारे डाल रहे हैं। बाल और मुख ही क्या

उनके समस्त शरीर के लिए घनश्याम की उपमा भी पूर्णतया उपयुक्त है। सूर कहते हैं कि चातक घनश्याम (बादलों) की सेवा दिन-रात करता है, रात-दिन उसको पुकारते-पुकारते उसकी वाणी भी क्षीण हो जाती है किन्तु यह निर्मोही बादल उस बेचारे विवेक-हीन चातक के मुख में एक बूंद भी नहीं डालता। ठीक इसी प्रकार हम रात दिन कृष्ण का नाम ही लेती रहती हैं किन्तु वे हमें दर्शन तक देना नहीं चाहते।

विशेष—काव्यलिंग अलकार है।

> ऊधो ! हम अति निपट अनाथ।
> जैसे मधु तोरे की माखी त्यों हम बिनु ब्रजनाथ ॥
> अधर-अमृत की पीर पुई, हम बालदसा तें जोरी।
> सो तौ बधिक सुफलकसुत लै गयो अनायास ही तोरी ॥
> जब लगि पलक पानि मीडति रही तब लगि गए हरि दूरी।
> कै निरोध निबरे तिहि अवसर दै पग रथ की धूरी ॥
> सब दिन करी कृपन की संगति, कबहुँ न कीन्हों भोग।
> सूर विधाता रचि राख्यो है, कुबजा के मुख जोग ॥१११॥

शब्दार्थ—मधु—शहद। पानि—हाथ। निरोध—रोक। कृपन—कंजूस।

व्याख्या—दीन भाव से अपनी प्रेम-दशा का वर्णन करती हुई गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हे ऊधो, हम तो बिल्कुल अनाथ हैं। जिस प्रकार शहद का छत्ता टूट जाने पर मधु-मक्खियाँ अनाथ हो जाती हैं उसी प्रकार ब्रजनाथ श्री कृष्ण के चले जाने के कारण हम निराश्रित हो गई हैं। अधरामृत की इच्छा को बाल्यकाल से ही सहेज कर रखा था किन्तु उस संचित मनोरथ को वह बहेलिया सुफलकसुत अर्थात् अक्रूर तोड कर ले गया। जब हम अपने हाथों से पलकें मल रही थीं, उसी समय वह हमारे हरि को बहुत दूर ले गये। भाव यह कि कृष्ण को ले जाने के समय हम अचेतावस्था में थीं। हम चेत होने पर उनके पीछे भी चलीं पर रथ के नीचे की धूल ने उडकर हमारे कार्य में बाधा उपस्थित कर दी। हे उद्धव हमने संचयशील कृपण के समान भोगों की इच्छाओं का सदा संचय ही किया, भोग कभी नहीं किया। सूर कहते हैं कि गोपियों ने ऊधो से कहा कि हम भोग करती भी कैसे ? विधाता ने तो कुब्जा के मुख से योग का उपदेश लिखा था।

विशेष—उपमा अलकार है।

> ऊधो ! ब्रज की दसा बिचारौ।
> ता पाछे यह सिद्धि आपनी जोग कथा बिस्तारौ ॥
> जेहि कारन पठए नँदनंदन सो सो चहु मन माहीं।
> केतिक बीच बिरह परमारथ जानत हौ किधौं नाहीं ॥
> तुम निज दास जो सखा स्याम के संतत निकट रहत हौ।
> जल बूड़त अवलंब फेन को फिरि फिरि कहा गहत हौ ?

वे अति ललित मनोहर आनन कैसे मनहिं बिसारौं।
जोग जुक्ति औ मुक्ति विविध विधि वा मुरली पर वारौं॥
जेहि उर बसे स्याम सुंदर घन क्यों निर्गुन कहि आवै।
सूरस्याम सोइ भजन बहावै जाहि दूसरो भावै। ११२॥

शब्दार्थ—विस्तारो—विस्तार के साथ कहना। निज—खास। फेन—भाग।

व्याख्या—व्रज की दशा को योगोपदेश के विपरीत बताती हुई गोपियाँ कहती हैं कि हे ऊधो, पहले तुम व्रज की दशा पर विचार करो तब पीछे योग-सिद्धि की कथा खूब कहना। अपने मन में तनिक यह तो सोचो कि आखिर कृष्ण ने तुम्हें यहाँ किस लिए भेजा है? तुम्हें यह ज्ञात नहीं कि विरह और मोक्ष में कितना अन्तर है? तुम तो श्याम के निजी दास हो, सदा उनके निकट रहते हो। फिर भी तुम उस प्रकार की अज्ञानता क्यों कर रहे हो? पानी में डूबते हुए को भागों का सहारा लेने के लिए क्यों आग्रह कर रहे हो? तुम तो जानते हो कि वे अत्यन्त सुन्दर मुख वाले हैं, उन्हें हम कैसे विस्मृत कर सकती हैं? तुम्हारी योग साधना तथा मुक्ति को हम प्रत्येक प्रकार से उस मुरली पर बलिदान करने को प्रस्तुत हैं। जिसके हृदय में श्याम कृष्ण बसे हैं उसे निर्गुण ब्रह्म क्यों मानें? गोपियों की इस अनन्य भक्ति पर मुग्ध होकर सूर कहते हैं कि वस्तुतः जिसे अपने इष्ट देव के अतिरिक्त और कुछ भाता है उसका भजन व्यर्थ है अर्थात् उसे अनन्य भक्ति नहीं कहा जा सकता।

विशेष—रूपक अलंकार है।

ऊधो! यह हित लागै काहे?
निसिदिन नयन तपत दरसन को तुम जो कहत हिय-माहे॥
नींद न परति चहूँदिसि चितवति विरह अनल के दाहे।
उर तें निकसि करत क्यों न सीतल जो पै कान्ह यहाँ हैं॥
पा लागो ऐसेहि रहन दे अवधि-आस-जल-थाहै।
जनि बोरहि निर्गुन-समुद्र में, फिरि न पायहो चाहे॥
जाको मन जाही तें राच्यो तासों बनै निबाहे।
सूर कहा लै करै पपीहा एते सर सरिता हैं? ॥११३॥

शब्दार्थ—हित—रुचिकर। माहे—में। दाहे—जलन से। चाहे—चाहने पर।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हे उद्धव, तुम्हारी यह बात कि वे घटघटवासी हैं हमे भला कैसे रुचिकर प्रतीत हो सकती है? तुम कहते हो कि वे हृदय में हैं फिर हमारे नेत्र रात-दिन उनके दर्शन को क्यों तड़फते रहते हैं? हमारी नींद हराम हो गई है। विरहाग्नि से पीड़ित हम चारों दिशाओं में निहारती रहती हैं। यदि तुम्हारे कथनानुसार वे हमारे हृदय में हैं तो फिर हृदय से बाहर निकलकर हमारे तृप्त प्राणों को वे शीतल क्यों नहीं कर देते? अतः तुम्हारा यह कथन कि

वे हमारे हृदय मे हैं बिल्कुल असत्य है। हम तुम्हारे पैरों पडती हैं, तुम हमे इसी भाँति अवधि की आशा रूपी जल की थाह के सहारे बना रहने दो क्योंकि अवधि पूरी होने पर मिलन की आशा तो है। तुम हमे अपने निर्गुण रूपी समुद्र में मत डुबोओ, यहाँ तो फिर खोजने पर भी हमारा पता न लगेगा। सूरदास जी कहते हैं कि गोपियो ने अन्त मे ऊधो से निवेदन किया कि जो जिससे प्रेम करे उससे उसका निर्वाह होना ही अच्छा है। देखो! ससार मे अनेक तालाब और नदियाँ हैं और सबमे जल है किन्तु पपीहे के लिए तो ये सब व्यर्थ है, उसे तो स्वाति नक्षत्र का ही जल चाहिये।

विशेष—रूपक और उदाहरण अलकार है।

> ऊधो! ब्रज मे पैंठ करी।
> यह निर्गुन, निर्मूल गाठरी अब किन करहु खरी॥
> नफा जानि कैं ह्याँ लै आए सबै वस्तु अकरी।
> यह सौदा तुम ह्याँ लै बेचौ जहाँ बडी नगरी॥
> हम ग्वालिन, गोरस दधि बेंचौ, लेहि अबै सबरी।
> सूर यहाँ कोउ गाहक नाहीं, देखियत गरे परी॥११४॥

शब्दार्थ—पैंठ—दुकान। अकरी—महँगी। सबरी—सब।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव को चिढाती हुई कहती है कि तुमने भी ब्रज मे आकर अपनी दुकान खूब लगाई! किन्तु यह निर्गुण की गठरी यहाँ तो निरर्थक ही रही। अब तुम इसे उठाकर यहाँ से चले क्यो नही जाते? मनमाना लाभ लेने के लिए सब वस्तुएँ यहाँ तुम महँगी भर कर ले आये थे। अपने इस सौदे को तुम वहाँ जाकर बेचो जहाँ बडे-बडे नगर हों। यहाँ इनका ग्राहक कौन है? यहाँ तो हम ग्वालिनें है तुम्हारे इस महँगे सौदे का किस प्रकार खरीद सकती हैं? हाँ, यदि तुम दूध-दही बेचते तो अभी सब खरीद लेती। सूर कहते है कि गोपियो ने कहा कि यहाँ तुम्हारे इस महँग निर्गुण के सौदे का कोई ग्राहक नही है। कोई जबरदस्ती थोडे ही है जो हम लेना ही पडगा। अत अच्छा होगा कि आप और कही जाकर देखें।

विशेष—समासोक्ति अलकार है।

> गुप्त मते की बात कहो जनि कहुँ काहू के आगे।
> कै हम जानै कै तुम, ऊधो! इतनो पावै माँगे॥
> एक बेर खेलत बृदाबन कटक चुभि गयौ पाँय।
> कटक सो कटक लै काढ्यो अपने हाथ सुभाय॥
> एक दिवस बिहरत बन-भीतर मैं जो सुनाई भूख।
> पाके फल वै देखि मनोहर चढे कृपा करि रूख॥

ऐसी प्रीति हमारी जानो बसते गोकुल-बास।
सूरदास प्रभु सब बिसराई मधुबन कियो निवास ॥११५॥

शब्दार्थ—जनि—मत। बिहरत—विहार करना। रूख—वृक्ष। मधुबन—मथुरा।

व्याख्या—अपने प्रेम की गोपनीय बातें बताकर राधा उद्धव पर अपना विश्वास जमाने का प्रयास करती हुई कहती है कि हम तुम्हें अपनी गुप्त बातें बताती हैं, देखो, किसी और से मत कहना। हे ऊधो, ये बातें, देखो, बस तुम्हारे और हमारे बीच में ही रहनी चाहियें। एक बार वृन्दावन में खेलते समय हमारे पैर में काँटा चुभ गया था तो कृष्ण ने बड़े प्रेम से अपने हाथ से एक काँटे द्वारा हमारा काँटा निकाला था। एक दिन हम और कृष्ण वन में विहार कर रहे थे। मैंने उनसे कहा कि मुझे भूख लगी है। वे मुझ पर इतने कृपालु हुए कि पक्के फल देख कर एकदम वृक्ष पर चढ़ गये। जब वे गोकुल में रहते थे तो हमारी उनसे इतनी गाढ़ी मित्रता थी, किन्तु अब हम करें भी क्या, मथुरा रहकर सूर के प्रभु श्याम अब सब कुछ भूल गये हैं।

विशेष—अपनी गुप्त बातें बता कर दूसरे के हृदय पर कुछ प्रभाव डालने की युक्ति वस्तुतः एक प्रबल हथियार है।

मधुकर ! राखु जोग की बात।
कहि कहि कथा स्याममुंदर की सीतल करु सब गात ॥
तेहि निर्गुन गुनहीन गुनैबो सुनि सुंदरि अनखात।
दीरघ नदी नाव कागद की को देख्यो चढ़ि जात ?
हम तन हेरि, चितै अपनो पट देखि पसारहि लात।
सूरदास या सगुन छाँडि छन जैसे कल्प बिहात ॥११६॥

शब्दार्थ—गुनैबो—गुण सम्पन्न बनाने से। अनखात—बुरा मानती है। तन—ओर। बिहात—बीतता है।

व्याख्या—योग की अग्राह्यता पर प्रकाश डालती हुई गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हे मधुकर तू योग की बात रहने दे। श्यामसुन्दर की कथा कह-कहकर हमारे सन्तप्त शरीर को शीतल कर। गुणों से रहित निर्गुण की बातें सुनना सुन्दरियों को बुरा लगता है। भला लम्बी-चौड़ी नदी को कागज की नाव द्वारा पार होते किसी ने कभी किसी को देखा है ? हम अपनी ओर और अपने कपड़ों की ओर देखकर उसके अनुसार ही अपने पैर फैलाती हैं। ठीक भी है—तेते पाँव पसारिये जेती लाँबी सौर। निर्गुण का ग्रहण करने की हमारी सामर्थ्य ही नहीं है। सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि सगुण के वियोग में हमारा तो एक-एक क्षण कल्प के समान बीत रहा है।

विशेष—निदर्शना और लोकोक्ति अलंकार है।

ऊधो ! तुम अति चतुर सुजान ।
जे पहिले रंग रंगी स्याम रंग तिन्हैं न चढ़ै रंग आन ॥
द्वै लोचन जो बिरद किए स्रुति गावत एक समान ।
भेद चकोर कियो तिनहू मे बिधु प्रीतम, रिपु भान ॥
बिरहिनि बिरह भजै पा लागो तुम हो पूरन-ज्ञान ।
दादुर जल बिनु जियै पवन भखि, मीन तजै हठि प्रान ॥
बारिज बदन नयन मेरे षटपद कब करिहैं मधुपान ?
सूरदास गोपीन प्रतिज्ञा, छुवत न जोग बिरान ॥११७॥

शब्दार्थ—बिरद किए—यश गाया । स्रुति—वेद । बारिज—कमल । बिरान—पराया ।

व्याख्या—गोपियाँ कहती हैं कि हे ऊधो, तुम तो अत्यन्त बुद्धिमान हो । तुम्हें तो यह समझ लेना चाहिए कि जो पहले से ही श्याम रंग मे डूब चुकी हैं उनपर दूसरा रंग चढ़ना असभव है । हमारे वेदों मे ईश्वर के दो नेत्र बताए गए हैं—सूर्य और चद्रमा और जिनकी समान महत्ता का ही प्रतिपादन भी वहाँ मिलता है । किन्तु देखिए चकोर के लिए वे दोनो समान तो क्या एक दूसरे के विपरीत समझता है । वह चन्द्रमा को अपना प्रियतम और सूर्य को अपना शत्रु समझता है । भाव यह है कि चाहे निर्गुण और कृष्ण दोनो एक समान हो किन्तु गोपियाँ तो कृष्ण को ही भजेंगी । वे कहती हैं कि ऊधो, तुम तो पूर्ण ज्ञानी हो अत भली-भाँति समझ सकते हो जो विरहिणी हैं वे तो निरन्तर अपने प्रियतम का ही ध्यान करेंगी । यह तो अपने अपने मन की बात है । प्रेम निर्वाह की सीमाएं होती हैं । मछली तथा मढक दोनो को ही जल प्रिय है । किन्तु मछली तो उसके अभाव मे अपने प्राण तक दे देती है और मढक वायु खाकर जीवित रहता है हमे तुम मछली के समान समझो, मढक के समान नही । हमारा तो श्याम से इतना गाढा प्रेम है कि हम तो सदा यही सोचती रहती हैं कि हमारे ये नयन रूपी भौंरे श्याम के कमल बदन के मकरन्द का पान कब करेंगे ? सूर कहते हैं कि गोपियो ने कहा कि हे ऊधो, हमारी तो यह प्रतिज्ञा है कि हम किसी दूसरे की वस्तु अर्थात् योग को नहीं छू सकती ।

विशेष—सातवी पक्ति म परम्परित रूपक की छटा दर्शनीय है ।

ऊधो ! कोकिल कूजत कानन ।
तुम हमको उपदेस करत हो भस्म लगावन आनन ॥
औरौ सब तजि, सिंगी लै लै टेरन, चढ़न पखानन ।
पै नित आनि पपीहा के मिस मदन हनत निज बानन ॥
हम तौ निपट अहीरी बावरी जोग दीजिये ज्ञानिन ।
कहा कथत मामी के आगे जानत नानी नानन ॥

सुंदर स्याम मनोहर मूरति भावति नीके गानन।
सूर मुकुति कैसे पूजति है वा मुरली की तानन? ॥११८॥

शब्दार्थ—पूजत—बोलती है। सिंगी—सींग का बाजा। पखान—पत्थर। पूजति—बराबरी करना।

व्याख्या—वसन्त के आगमन पर भी उद्धव का योगोपदेश सुनकर गोपियाँ कहती हैं कि अरे उद्धव, तुम्हें कुछ पता भी है? वह देखो वन में कोयल कूक-कूककर वसन्त के आगमन की सूचना दे रही है। ऐसे सुहावने समय में भी तुम हमें मुख पर भस्म लगाने की शिक्षा देते हो। इस मौसम में तो मुख पर अबीर और गुलाल लगाया करते हैं। इतना होते हुए भी हम तो तुम्हारा कहना मान जाती और सब कुछ त्याग कर पाषाण शिलाओं पर बैठकर अवश्य ही सिंगी बजाती किन्तु करें क्या, हम तो नित्य कामदेव पपीहा के बहाने आकर अपने कुसुम बाणों से चोट करता है। हम तो नितांत पगली अहीरिन हैं। यह अपना योग तो आप ज्ञानियों को जाकर दीजिए। यदि तुम यह कह कर कुछ रौब देना चाहते हो कि कृष्ण स्वयं योगी हैं और उन्होंने ही योग का सन्देश भेजा है तो हम तुम्हें यह बता देना चाहती हैं कि हम उनकी नस-नस जानती हैं। भला मामी के सम्मुख नाना-नानी की झूठी बधारन अर्थात् उनके विषय में बनावटी बात कहने से क्या लाभ? वह तो उनके विषय में अपने आप सही बात खूब जानती है। अतः आप योग के गीत गाना बन्द करिये क्योंकि हमें तो श्यामसुन्दर की मनोहर मूर्ति के ही गीत अच्छे लगते हैं। सूर की गोपियाँ कहती हैं कि तुम्हारी मुक्ति का आनन्द भला उस मुरली की तानों के आनन्द के सामने कहाँ ठहर सकता है?

विशेष—चौथी पंक्ति में कैतवापह्नुति तथा छठी पंक्ति में लोकोक्ति अलंकार है।

ऊधो! हम अजान मति भोरी।
जानति हैं ते जोग की बातें नागरि नवल किसोरी॥
कंचन को मृग कौनैं देख्यो, कौनैं बाँध्यो डोरी?
कहु धौं, मधुप! बारि मथि माखन कौनै भरी कमोरी?
बिनही भीत चित्र किन काढ्यो किन नभ बाँध्यो झोरी।
कहौ कौन पै कढ़त कनूकी जिन हठि भुसी पछोरी॥
यह ब्यवहार तिहारो, बलि बलि! हम अबला मति थोरी।
निरखहिं सूर स्याम मुख चंदहि अँखियाँ लगनि चकोरी॥११९॥

शब्दार्थ—कमोरी—दूध-दही रखने की मटकी। कनूकी—कण। काढ्यो—खींचा।

व्याख्या—पात्रानुसार योगोपदेश का आग्रह करती हुई गोपियाँ ऊधो से कहती हैं कि हे उद्धव, हम तो ज्ञानरहित हैं और हमारी बुद्धि भी परिष्कृत नहीं है। योग की बातों को तो नगर की रहने वाली नवयुवतियाँ ही समझ सकती हैं। भला कहीं कभी

किसी ने सोने का मृग देखा है ? सीता के उदाहरण को सामने रखकर यदि कोई यह क दे कि हाँ देखा है तो निश्चय के लिए वे यह कहती हैं कि क्या कभी किसी ने उसे रस से बाँध कर पाला भी है ? अरे मधुकर तुम्हीं बताओ, कभी कहीं किसी ने पानी मथक मक्खन निकाला है, और अपनी मटकी भरी है ? क्या कभी किसी ने बिना दीवार व चित्र बनाया है ? क्या कभी किसी ने आकाश को झोली में बाँधा है ? यदि कभी किसी ने हठपूर्वक भूसी को फटका हो तो क्या कभी उसमें से दाने निकले हैं ? तुम्हारा भी यह व्यवहार इसी प्रकार का है। हम तुम्हारी बलिहारी जाती हैं। हम पर कृपा करो हम तो थोड़ी बुद्धि वाली अबलायें हैं। हमारी आँखों ने तो सूर के कृष्ण मुख-चन्द्र को चकोरी जैसी तन्मयता से देखना सीखा है। भाव यह है कि हम तुम्हारे योगमार्ग को ग्रहण नहीं कर सकतीं, कृष्ण के दर्शन करके चैन पायेंगी।

विशेष—निदर्शना रूपक और उपमालंकार है।

> ऊधो ! कमल नयन बिनु रहिए।
> इक हरि हमैं अनाथ करि छाँडी, दूजे बिरह किमि सहिए ?
> ज्यों ऊजर खेरे की मूरति को पूजै, को मानै ?
> ऐसी हम गोपाल बिनु ऊधो ! कठिन बिथा कौ जानै ?
> तन मलीन, मन कमलनयन सों मिलिबे की धरि आस।
> सूरदास स्वामी बिन देखे लोचन मरत पियास ॥१२०॥

शब्दार्थ—खेरे—गाँव। ऊजर—उजड़ हुए।

व्याख्या—कृष्ण वियोग की असह्य व्यथा प्रगट करती हुई गोपियाँ कहती हैं कि हे उद्धव, कमलनयन कृष्ण के बिना हमारा जीवित रहना बहुत कठिन है। एक तो वे हम अनाथ बनाकर छोड़ गए और दूसरे फिर योग की शिक्षा भेजकर विरह-व्यथा को और भी बढ़ा देना कितना असह्य है ? जिस प्रकार उजड़े गाँव की मूर्ति का न तो कोई पूजता है और न कोई सम्मान करता है उसी प्रकार हे ऊधो गोपाल द्वारा परित्यक्त होने पर हम भी अवहेलना और अपमान की पात्र बन गई हैं। हमारी इस घोर व्यथा को भला कौन जान सकता है ? हमारा तन यद्यपि मलीन है किन्तु तो भी हम उनसे मिलन की आशा धारण किए हुए हैं। सूर के स्वामी कृष्ण को बिना देखे हमारे ये प्यासे नेत्र उनके दर्शनों की आशा की प्यास में मरे जा रहे हैं।

विशेष—भक्तराज तुलसीदास की निम्न पंक्तियाँ दर्शनीय हैं—

> कृपासिंधु सुजान रघुवर, प्रनत आरति हरन।
> दरस आस पियास तुलसीदास चाहत मरन॥

> ऊधो ! कौन आहि अधिकारी ?
> लै न जाहु यह जोग आपनो कत तुम होत दुखारी ?
> यह तो वेद उपनिषद मत है महापुरुष व्रतधारी।
> हम अहीरि अबला ब्रजवासिनी न[illegible] परत सभारी ॥

को है सनत, कहत हो यासों, कौन कथा अनुसारी ?
सूर स्याम सग जात भयो मन अहि केंचुलि सो डारी ॥१२१॥

शब्दार्थ—आहि—है। अनुसारी—छेड़ी। अहि—साप।

व्याख्या—गोपियाँ योग को अपने लिए अग्राह्य बताती हुई उद्धव से कहती हैं कि हे उद्धव, तुमने इस बात पर विचार नहीं किया कि योग का अधिकारी कौन है? इस अपने योग को तुम वापिस ले जाओ। तुम व्यर्थ में दुःखी क्यों होते हो? वेद और उपनिषदों के कथनानुसार यह योग तो ज्ञानी महापुरुषों के लिए है। हम तो अहीरिन ब्रजवासिनी अबलायें हैं, हमसे आपका यह योग सम्भल ही नहीं सकता। यहाँ आपके इस योग को सुनने वाला ही कौन है? आप यह उपदेश दे किसे रहे हैं? आपकी इस कथा को यहाँ समझने वाला है ही कौन? सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि हमारा मन तो श्याम के साथ चला गया है और केंचुलि के सदृश निर्जीव पड़ी हुई है। जिस प्रकार साप केंचुलि को छोड़कर चला जाता है और केंचुलि निर्जीव होकर पड़ी रह जाती है उसी प्रकार हमारा मन श्याम के साथ चला गया है और हम यहाँ निर्जीव अवस्था में पड़ी हुई हैं, तो भला निर्जीव अवस्था में पड़ी हुई हम उद्धव जी के योग को क्या सुन सकती हैं और क्या समझ सकती हैं?

विशेष—अन्तिम पंक्ति में उपमा अलंकार है।

ऊधो! जो तुम हमहिं सुनायो।
सोहम निपट कठिनई करिकै या मन को समुझायो॥
जुगुति जतन करि हमहुँ ताहि गहि सुपथ पंथ लौं लायो।
भटकि फिरयो बोहित के खग ज्यों, पुनि फिरि हरि पै आयो॥
हमको सबै अहित लागति है तुम अति हितहि बतायो।
सर सरिता-जल होम किये तें कहा अगिनि सचु पायो?
अब वैसो उपाय उपदेसो जिहि जिय जाय जियायो।
एक बार जो मिलहिं सूर प्रभु कीजै अपनो भायो॥१२२॥

शब्दार्थ—सुपथ—सन्मार्ग। सचु—सुख। बोहित—जहाज।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव जी से कहती हैं कि हे उद्धव, जो योग की बातें तुमने हमसे कही हैं उनको ग्रहण करने के लिए हमने अपने इस मन को अनेक उपायों द्वारा समझाने की बहुत चेष्टा की है। हमने उसे सन्मार्ग पर लाने के लिए अनेक प्रकार की युक्तियाँ और प्रयत्न किये और उसे उस सन्मार्ग तक लाई किन्तु वह उस मार्ग को त्याग कर भटकता हुआ जहाज के पक्षी के सदृश फिर हरि के पास ही जा लगा। तुम जो हमारे लिए अत्यधिक हित की बातें बताते हो, वह हमको अहित की प्रतीत होती हैं। तालाब और नदी के जल से हवन करने से क्या अग्नि को सुख प्राप्त हो सकता है? वह कभी तृप्त नहीं हो सकती, वह तो हवि के हवन से ही सतुष्ट हो सकती है। अतः अब हमें ऐसा उपदेश दो जिससे हमारे प्राणों में जान पड़े। बस एक बार तुम हमें सूर के प्रभु

कृष्ण से मिला दो फिर जो चाहे सो करना।

विशेष—चौथी पक्ति मे उपमा और छठी पक्ति मे दृष्टान्त अलकार है।

ऊधो ! जोग बिसरि जनि जाहु।
बाधहु गाँठि कहूँ जनि छूटै फिरि पाछे पछिताहु॥
ऐसी बस्तु अनूपम मधुकर मरम न जानै और।
ब्रजबासिन के नाहिं काम की, तुम्हरे ही है ठौर॥
जो हरि हित करि हमको पठयो सो हम तुमको दीन्हीं।
सूरदास नरियर ज्यों विष को करै बदना कीन्हीं॥१२३॥

शब्दार्थ—ठौर—स्थान। पठयो—भेजा। नरियर—नारियल। करै—हाथ जोडकर।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव को बनाती हुई कहती है कि हे उद्धव देखो तुम कहीं अपने इस योग को भूल मत जाना। इसे भली भाँति गाँठ मे बाधकर रख लो कहीं यह गाँठ खुल न जाय कभी तुम्हारा यह योग कहीं गिर जाय और तुम हाथ मलते रह जाओ। तुम्हारा यह योग नामक पदार्थ अनुपम है। हे मधुकर इसका रहस्य तुम्हारे अतिरिक्त और जान ही कौन सकता है ? यह ब्रजबासियो के काम का नही है। इसके लिए तो बस तुम्हारे यहाँ ही स्थान है। श्याम ने हमारी भलाई के लिए जो यह योग भेजा है उसे हम तुम्हे ही वापिस कर रही हैं। सूर कहते हैं कि गोपियो ने कहा कि हमारे लिए तो यह विष से भरे हुए नारियल के समान है और हम इसे हाथ जोडकर दूर से ही नमस्कार करती हैं।

विशेष—यहाँ जिस गाठ को बाँधने की बात कही जा रही है उद्धवशतक मे यह गाँठ उद्धव के ब्रज मे प्रवेश करते ही खुल जाती है—

ज्ञान गठरी की गाँठि छरकि न जान्यो कब,
हरै हरै पूजी सब सरकि कछार मैं।
डार मे समातनि कौ कछु बिरमानी अरु
कछु अरुझानी है करीरनि की झार मैं॥

ऊधो ! प्रीति न मरन बिचारै।
प्रीति पतग जरै पावक परि जरत अग नहिं टारै॥
प्रीति परेवा उड़त गगन चढि गिरत न आप सम्हारै।
प्रीति मधुप केतकी कुसुम बसि कटक आपु प्रहारै॥
प्रीति जानु जैसे पय पानी जानि अपनपो जारै।
प्रीति कुरग नादरस लुब्धक तानि तानि सर मारै॥
प्रीति जान जननी सुत-कारन को न अपनपो हारै ?
सूर स्याम सों प्रीति गोपिन की कहु कैसे निरवारै॥१२४॥

शब्दार्थ—अपनपो—आत्मभाव, अपनापन। परेवा—कबूतर। निरुवारै—नेवारण करते हो।

व्याख्या—सच्चे प्रेम का महत्व प्रदर्शित करती हुई गोपियाँ उद्धव से कहती है कि हे उद्धव, सच्ची प्रीति मे मरण की भी चिंता नही होती। प्रीति के कारण ही पतगा अग्नि मे कूद कर अपने प्राण गवा देता है। जलते हुए अपने अगो को वह तनिक भी अग्नि से अलग नही हटाता। प्रीति के कारण ही कबूतर आकाश मे ऊचा चढ जाता है और गिरते हुए फिर अपने आपको सम्भालता तक नही। प्रीति के कारण ही भौंरा केतकी के पुष्पो मे निवास करता है और काटो की चोट की कोई चिंता नही करता। सच्चा प्रेम तो पानी और दूध के मिलन के समान है जहाँ मिलकर पूर्णत अभिन्नता हो जाती है। हिरण की भी सरस नाद से सच्ची प्रीति होती है। शिकारी उसे तीर मार देता है किंतु वह सरस नाद पर इतना मुग्ध रहता है कि वह उस तीर की भी चिंता नहीं करता। माता का प्रेम भी पुत्र से सच्चा होता है। वह अपने बच्चे के लिए अपना सर्वस्व त्याग देती है। सूर कहते हैं कि गोपियो ने कहा कि हे उद्धव, हमारी भी श्याम से ऐसी ही सच्ची प्रीति है। भला बताओ उसका निवारण कैसे किया जा सकता है?

विशेष—(i) प्रस्तुत पद की चौथी पक्ति से मिलाइये—

डरै न काहू दुष्ट सौं जाहि प्रेम की बान।
भौंर न छोडे केतकी तीखे कण्टक जान॥

(ii) अर्थावृति दीपक अलकार की छटा देखने योग्य है।

ऊधो! जाहु तुम्हें हम जाने।
स्याम तुम्हे ह्याँ नाहि पठाए, तुम हौ बीच भुलाने
ब्रजवासिन सौं जोग कहत हौ, बातहु कहत न जाने
बड लागै न बिबेक तुम्हारो ऐसे नए अयाने
हमसों कही लई सो सहिकै जिय गुन लेहु अयाने।
कहँ अबला कहँ दसा दिगबर समुख करो पहिचाने॥
साँच कहौ तुमको अपनि सौं बूझति बात निदाने।
सूर स्याम जब तुम्हें पठाए तब नेकहु मुसुकाने?॥१२५॥

शब्दार्थ—अपनि—अपने। निदाने—अन्त म। सौ—सौगध।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव पर घोर अविश्वास करती हुई कहती हैं कि हे ऊधो। तुम जाओ, हम तुम्ह खूब समझ चुकी हैं। श्याम ने तुमको यहाँ नही भेजा है, तुम तो बीच मे ही भूल कर रास्ते से यहाँ आ गये हो। भेजा होगा तुम्हे और कही और तुम आ गये हो यहाँ! ब्रजवासियो से तुम जो योग की बातें कहते हो, तुम्हे बात करने का भी ढग नही आता। हमे तुम्हारा विवेक कुछ बडा दिखाई नही देता। तुम तो एक नये ढग के अज्ञानी हो। महत्व बताते हो ज्ञान का, हा निरे अज्ञानी। जो कुछ तुमने हमसे कहा है उसे तनिक अपने मन मे विचार करके तो देखो। कहाँ तो अबलायें और कहाँ योगियो

की नग्न दशा, तनिक कुछ सोचकर दोनों की सगति मिलाकर तो देखो। तुम्हें अपने कसम है। बिल्कुल सच-सच बताना, हम अन्तिम बार तुमसे पूछती हैं कि जब सूर के श्याम ने तुम्हें यहाँ भेजा था तब क्या वे कुछ मुस्कराये तो नहीं थे? भाव यह है कि उन्होंने तुम्हारे साथ मजाक किया है अत तुम कम से कम उनके इस व्यग्य को समझ लो और तब अपने योग-सन्देश के विषय में विचार करो।

विशेष—गोपियों को श्याम पर कितना विश्वास है कि वे इस बात की भी सभावना कर लेती हैं कि शायद ऊधो मार्ग भूल गये हैं। श्याम तो ऐसा कर ही नहीं सकते। यदि उन्होंने ऐसा किया है तो अवश्य ही मजाक में किया है। मजाक भी गोपियों से नहीं, ऊधो से किया है।

> ऊधो! स्याम सखा तुम साँचे।
> कै करि लियो स्वाँग बीचहि तें, वैसेहि लागत काँचे॥
> जैसी कही हमहि आवत ही औरनि कहि पछिताते।
> अपनो पति तजि और बतावत महिमानी कछु खाते॥
> तुरत गौन कीजै मधुबन को यहाँ कहाँ यह ल्याए?
> सूर सुनत गोपिन की बानी उद्धव सीस नवाये॥१२६॥

शब्दार्थ—महिमानी—आतिथ्य। गौन—गमन। मधुबन—मथुरा।

व्याख्या—गोपियाँ कहती हैं कि हे ऊधो, तुम वास्तव में श्याम के सच्चे सखा हो। ऐसा प्रतीत होता है कि तुमने बीच म से ही मित्रता का यह स्वाग रच लिया है। कुछ भी हो तुम भी अपने विचारों में कच्चे प्रतीत होते हो। जैसी तुमने हमसे कही यदि ऐसी ही और कहीं किसी से कह देते तो तुम्हें इसका इतना दण्ड मिलता कि तुम हाथ मलते रह जाते। तुम जो अपने इष्टदेव को छोड़कर और को ग्रहण करने की प्रेरणा दे रहे हो, इसका दण्ड तुम्हें बड़ा कठोर मिलता। तुम्हारा वह आतिथ्य होता जो सदैव याद रखते। अब भलाई इसी में है कि तुम तुरन्त मथुरा चले जाओ। यह योग तुम यहाँ कहाँ लिए फिरते हो? सूर कहते हैं कि जब उद्धव ने गोपियों के ये वचन सुने तो उन्होंने अपना शीश नवा लिया। भाव यह है कि गोपियों के कथन से उनके नेत्र खुल गये और पश्चातापवश होकर उन ~ शरोधरा श्रद्धा से स्वत ही नत हो गई।

विशेष—वक्रोक्ति अलकार है।

> ऊधो जू! देखे हो ब्रज जात।
> जाय कहियो स्याम सों या बिरह को उत्पात॥
> नयनन कछु नहिं सूझई, कछु श्रवन सुनत न बात।
> स्याम बिन आँसुवन बूझत दुसह धुनि भइ बात॥
> आइए तो आइए, जिय बहुरि सरीर समात।
> सूर के प्रभु बहुरि मिलिहौ पाछे हू पछितात॥१२७॥

शब्दार्थ—उत्पात—उपद्रव । मूझई—दीखना । बूडत—डूबना । दुसह—असह्य ।

व्याख्या—गोपियां उद्धव से प्रार्थना करती हैं कि तुम तो ब्रज की दशा अब अपनी आंखों से देख रहे हो, वहाँ जाकर कृष्ण से विरह के उपद्रव को ठीक ढग से कह देना । तुम जाकर कहना कि आपके विरह मे ब्रजवासियो को न तो अपने नेत्रो से कुछ दीखता है और न कानो से कुछ सुनाई देता है । श्याम के बिना यहाँ सब आंसुओ की बाढ मे डूबे जा रहे हैं तथा साधारण-सी बात भी लोगों को दुःसह ध्वनि के सदृश असह्य हो रही है । यदि उन्हें आना है तो कह देना कि वे शीघ्र ही आ जावें जिससे कि ब्रजवासियों के शरीर मे प्राणो का पुन प्रवेश हो जाय । यदि समय निकल जाने के बाद वे मिले तो उन्हे पछताना पडेगा । हम उन्हें तब मिल ही नही सकते क्योंकि फिर उन्हे हम लोगों के प्राण जीवित नही मिल सकते ।

विशेष—प्रत्युक्ति अलकार है ।

> ऊधो ! बेगि मधुबन जाहु ।
> जोग लेहु सभारि अपनो बेचिए जहँ लाहु ॥
> हम विरहिनी नारि हरि बिनु कौन करे निबाहु ?
> तहाँ दीजै मूर पूजै, नफा कछु तुम खाहु ॥
> जो नहीं ब्रज मे बिकानो नगर नारि बिसाहु ।
> सूर वै सब सुनत लैहैं जिय कहा पछिताहु ॥१२८॥

शब्दार्थ—लाहु—लाभ । मूर पूजै—मूलधन निकल आवे । बिसाहु—मोल ले लें ।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कहती है कि तुम शीघ्र ही मथुरा चले जाओ । अपना यह योग सभाल कर रख लो । जहा आपको लाभ हो वहीं ले जाकर इसे बेचना । हम तो हरि की विरहिणी अबलायें हैं, उनके बिना भला हमारा निर्वाह हो ही कहाँ सकता है ? तुम्हे अपना व्यवसाय वही करना चाहिये जहाँ पर कम से कम तुम्हारी लगायी हुई पूँजी निकल आवे और कुछ विशेष लाभ भी हो । यदि आपका यह सौदा ब्रज मे नहीं बिका तो चिन्ता क्यों करते हो, इसे जाकर नागरी स्त्रियो को बेच दो । सूर कहते है कि गोपियो ने कहा कि तुम अपने मन मे पश्चाताप मत करो । आशा रखो, नागरी स्त्रियां इस सौदे को सुनते ही मोल ले लेंगी ।

विशेष—अप्रस्तुत प्रशसा अलकार है ।

> ऊधो ! कछु कछु समुझि परी ।
> तुम जो हमको जोग लाए भली करनि करी ॥
> एक बिरह जरि रहीं हरि के, सुनत प्रतिहि जरी ।
> जाहु जनि अब लोन लावहु देखि तुमहिं डरी ॥

जोग-पाती दई तुम कर बड़े जान हरी।
आनि आस निरास कीन्ही, सूर सुनि हहरी ॥१२६॥

शब्दार्थ—जान—सुजान, चतुर। समुझि परी—समझ मे आने लगा। लोन—नमक। हहरी—दहल जाना।

व्याख्या—गोपियां उद्धव से कहती हैं कि अब हमारी समझ मे कुछ-कुछ आया है। आप जो हमारे लिए यह योग लाये हो यह आपने अच्छा ही किया। एक तो हम पहले से ही हरि के विरह मे जल रही हैं अब आपके इस सन्देश को सुनकर हम और भी जली जा रही हैं। अब आप यहाँ से चलते बनो। जले पर नमक मत छिड़को। हमे तो तुमको देखकर डर लग रहा है। हरि ने तुमको अत्यन्त चतुर समझकर यह योग की पत्री तुम्हें दी थी किंतु तुमने उनकी आशा को निराशा मे परिवर्तित कर दिया। सूर कहते हैं कि गोपियो ने कहा कि हम तो तुम्हारी बातें सुनकर दहल गई हैं।

विशेष—श्याम ने ऊधो को महान् ज्ञानी समझ कर उन्हें योग का संदेशा देकर भेजा था पर यहाँ गोपियों ने उनके पैर उखाड़ दिये और इस प्रकार कृष्ण की आशा निराशा मे बदल गई।

ऊधो! सुनत तिहार बोल।
ल्याए हरि-कुसलात धन्य तुम घर घर पास्यो गोल ॥
कहन देहु कह करै हमारो बरि उड़ि जैहै झोल।
आवत ही याको पहिचान्यो निपटहि ओछो तोल ॥
जिनके सोचन रही कहिवे तें, ते बहु गुननि अमोल।
जानी जाति सूर हम इनकी बतचल चचल लोल ॥१३०॥

शब्दार्थ—पास्यो गोल—गोलमाल किया। झोल—भस्म। ओछो तोल—तोल मे कम। बतचल—बकवादी।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव को बुरा-भला कहती हुई कहती हैं कि हे उद्धव, हमने तुम्हारी बातें सुन ली। धन्य हो तुम! कृष्ण की कुशलता क्या लाए, तुमने तो यहा घर-घर मे गोलमाल अर्थात् गड़बड़ी कर दी। यह सुनकर एक गोपी दूसरी गोपी से कहने लगी कि अरे इसे बकने दो यह हमारा क्या बिगाड़ लेगा? थोड़ी देर मे ही इसका कथन भस्म के समान योंही उड़ जायगा अर्थात् प्रभावहीन हो जायगा। अरे, हमने तो इसे आते ही पहचान लिया था कि ये श्रीमान् जी खुद कम तोलने वाले हैं। जिन्हें हम कुछ भी कहने मे सकोच कर रही थी, ये महाराज तो बहुत अमूल्य गुणी निकले अर्थात् पूरे कपटी निकले। सूर कहते हैं कि अत मे गोपी ने कहा कि हम इनकी जात पहचान गई हैं। ये तो बड़े बकवादी और गर्वी हैं।

विशेष—यहाँ गोपियाँ बौखला जाती हैं और उद्धव को बुरा-भला सब कहने में कोई सकोच नहीं करती।

ऐसी बात कहौ जनि ऊधो !
ज्यों त्रिदोष उपजे जक लागति, निकसत बचन न सूधो ॥
आपन तौ उपचार करौ कछु तब औरन सिख देहु ।
मेरे कहे बनाय न राखौ थिर कै कतहूँ गेहु ॥
जो तुम पद्मपराग छाँडि कै करहु ग्राम-बस बास ।
तौ हम सूर यहौ करि देखैं निमिष छाँडही पास ॥१३१॥

शब्दार्थ—त्रिदोष—सन्निपात । जक—बकवाद । थिर कै—स्थायी रूप से । बस बास—निवास ।

व्याख्या—गोपियाँ फिर उद्धव से इसी प्रकार कहती हैं कि हे ऊधो, तुम ऐसी बात मत कहो । तुम तो कुछ इस प्रकार बके जा रहे हो जैसे सन्निपात में किसीको बकवास लग जाती है और वह अनर्गल प्रलाप करता रहता है । तुम्हारे मुख से सीधे वचन तो निकलते ही नहीं हैं । पहले जाकर अपनी चिकित्सा करो तब जाकर कहीं और को शिक्षा देना । यदि तुम हमारा कहना मानो तो कहीं स्थिर रूप से अपना घर बना लो और वहाँ रहो । इस प्रकार इधर-उधर भटकने से क्या लाभ ? सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि यदि तुम पद्मपराग को त्याग कर कहीं ग्राम में निवास कर लो तो हम भी क्षण भर के लिए उनका सामीप्य छोडकर तुम्हारे वचन का पालन कर लेंगी ।

विशेष—'त्रिदोष' का अर्थ यहाँ सन्निपात से इसलिए लिया गया है कि इस रोग में रोगी के तीनों दोष अर्थात् वात, पित्त और कफ प्रबल रहते हैं और वह बेहोश होकर अनर्गल प्रलाप किया करता है ।

ऊधो ! जानि परे सयान ।
नारियन को जोग लाए, भले जान सुजान ॥
निगम हू नहिं पार पायो कहत जासों ज्ञान ।
नयन त्रिकुटी जोरि संगम जेहि करत अनुमान ॥
पवन धरि रवि-तन निहारत, मनहिं राख्यो मारि ।
सूर सो मन हाथ नाहीं गयो सब बिसारि ॥१३२॥

शब्दार्थ—सयान—चतुर । पवन धरि—प्राणायाम करके । बिसारि—विस्मृत करके ।

व्याख्या—गोपियाँ योग का उपदेश सुनाने वाले ऊधो को बनाती हुई कहती हैं कि हे ऊधो, तुम बडे चतुर मालूम पडते हो । आपकी बुद्धिमानी इसी से प्रगट हो रही है कि आप स्त्रियों के लिए योग का सन्देश लाये हो । ज्ञान तो एक ऐसी वस्तु है कि जिसका पार शास्त्रों ने भी नहीं पाया । योगी लोग नेत्रों के मध्य त्रिकुटी की सिद्धि करके जिस ज्योति का अनुमान करते है, क्या वह कोई सरल कार्य है । इस साधना में तो मन को एकाग्र रखकर प्राणायाम साध कर सूर्य की ओर एकटक देखना पडता है और अपने मन को पूर्णतया मारकर रखना पडता है । हे ऊधो, हम आपके अनुरोध के कारण

उस आनन्द की प्राप्ति के लिए प्रयास करती भी, तो सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा, पर हम करें क्या, हमारा मन ही हमारे पास नहीं है। वह तो हमारा साथ छोड़कर हमें विस्मृत करके चला ही गया है।

विशेष—प्रथम पंक्ति में काकु-वक्रोक्ति तथा अन्तिम पंक्ति में काव्यलिंग अलंकार है।

ऊधो ! मन नहिं हाथ हमारे।
रथ चढ़ाय हरि संग गए लै मथुरा जबै सिधारे॥
नातरु कहा जोग हम छाँड़हि अति रुचि कै तुम ल्याए।
हम तो झकति स्याम की करनी, मन लै जोग पठाए॥
अजहूँ मन अपनो हम पावें तुमतें होय तो होय।
सूर, सपथ हमें कोटि तिहारी कहौं करैंगी सोय॥ १३३॥

शब्दार्थ—सिधारे—गये थे। झकति—झीकना। पठाए—भेजना। अजहूँ—आज।

व्याख्या—गोपियाँ अपनी असमर्थता प्रगट करती हुई ऊधो से कहती हैं कि हम आपके योग का निरादर नहीं करना चाहती। हम आपका आदेश अवश्य मानतीं। किन्तु हम करें क्या, हमारा मन तो हमारे अधिकार में है ही नहीं। जब कृष्ण रथ पर चढ़कर मथुरा गये थे तब हमारे मन को भी अपने साथ ले गये थे। यदि ऐसा न होता तो हम आपके इस योग को ठुकराने का साहस न करती जिसे आप इतने चाव से हमारे पास लाये हैं। हम तुम्हें कुछ भी कहना नहीं चाहतीं। हम तो कृष्ण की करतूत को झीक रही है कि वे हमारे मन को लेकर हमारे पास यह योग का सन्देशा भेज रहे हैं। यदि ऐसा उन्हें करवाना था तो योग के साथ-साथ हमारा मन भी हमें वापिस कर देते। सूर कहते है कि गोपियों ने कहा कि हे उद्धव, तुम्हारी एक नहीं करोड़ों सौगन्ध खाकर हम तुमसे कहती हैं कि यदि आज भी हमारा मन हमें वापिस मिल जाय तो हम आपका कहना पूर्णतया मान लेंगी।

विशेष—न मन वापिस मिल सकेगा और न गोपियाँ ऊधो का योग अपना सकेंगी। *न सौ मन तेल होगा और न राधा जी नाचेंगी।*

ऊधो ! जोग सुन्यो हम दुर्लभ।
आपु कहत हम सुनत अचंभित जानत हौ जिय सुल्लभ॥
रेख न रूप बरन जाके नहिं ताकों हमें बतावत।
अपनो कहौ दरस वैसे को तुम कबहूँ हौ पावत?
मुरली अधर धरत है सो, पुनि गोधन बनवन चारत?
नैन बिसाल भौंह बंकट करि देख्यो कबहूँ निहारत?
तन त्रिभंग करि नटवर वपु धरि पीतांबर तेहि सोहत।
सूर स्याम ज्यों देत हमें सुख, त्यों तुमको सोउ मोहत॥ १३४॥

शब्दार्थ—सुल्लभ—सुलभ। अपनी कहौ—अपनी दशा बताओ। बकट—टेढ़ी। बरन—वर्ण।

व्याख्या—ऊधो के कथन पर आश्चर्य प्रगट करती हुई गोपियाँ कहती हैं कि हे उद्धव, हमने सुना है कि योग तो बडा कठिन है। आपके कथन को सुनकर तो हमें बडा आश्चर्य हो रहा है। आप तो अपने मन मे इसे सुलभ मान बैठे हो। जिस ब्रह्म की न कोई रेखा है, न कोई रूप है और न कोई वर्ण है, उसका उपदेश तुम हमे दे रहे हो। अच्छा उद्धव, तुम्ही बताओ कि क्या तुम कभी उस निराकार ब्रह्म का दर्शन कर पाते हो? क्या तुम्हारा निराकार ब्रह्म हमारे कृष्ण की भाँति कभी अपने अधरो पर मुरली रखकर बजाता है? क्या वह कभी श्याम की भाँति वन मे गौओ को चराता है? क्या वह कभी विशाल नेत्रो और बाँकी भौंहो से देखता है? क्या वह कभी हमारे श्याम की भाँति नटवर वेश धारण करके त्रिभगी मुद्रा मे पीताम्बर पहनकर सुशोभित होता है? सूर कहते हैं कि गोपियो ने उद्धव से पूछा कि सच कहना कि *जिस प्रकार हमारे प्रियतम कृष्ण हमे सुख देते हैं क्या उसी प्रकार तुम्हारा निर्गुण* ब्रह्म तुम्हें भी सुख देता है? भाव यह कि नही, उसमे श्याम जैसे गुण हैं ही नही।

विशेष—कहै रत्नाकर बदन बिनु कैसे चाखि।
पाखन बजाइ बेनु गोधन गवाइहै॥
रावरो अनूप कोउ अलख अरूप ब्रह्म।
ऊधो कहो कौन धौं हमारे काम आइहै॥

ऊधो! हम लायक सिख दीजै।
यह उपदेस अगिनि तें तातो, कहो कौन बिधि कीजै?
तुमहीं कहो यहाँ इतननि मे सीखनहारी को है?
जोगी जती रहित माया तें तिनको यह मत सोहै॥
जो कपूर चदन तन लेपत तेहि ब्रिभूति क्यों छाजै?
सूर कहो सोभा क्यों पावै आँख आँधरी आँजे॥१५॥

शब्दार्थ—अगिनि—अग्नि। ताता—गर्म। आँधरी—अँधी। आँजे—अजन लगाना।

व्याख्या—योग को अपने प्रतिकूल समझती हुई गोपियाँ ऊधो से कहती हैं कि हे ऊधो, हमें हमारे योग्य ही शिक्षा दीजिये। आपका यह उपदेश तो हमें अग्नि से भी अधिक सतापकारी प्रतीत हो रहा है। फिर आप ही बताइये कि हम इसका पालन किस प्रकार कर सकती है? आप ही कहो कि यहाँ इन इतनी गोपियो मे इस योग को सीखने वाली कौन है? आपका यह योग उन्ही का शोभायमान हो सकता है जो विरक्त योगी और यती हैं, सासारिक माया मोह से जो रहित हैं। जो अपने शरीर पर कपूर और चदन का लेप करते रहे हैं भला भभूत लगाना उन्हे कैसे प्रिय लगेगा? सूर कहते हैं

कि गोपियों ने उद्धव से कहा कि तुम स्वयं विचार कर देखो कि अंधी आँखों में काजल कैसे अच्छा लग सकेगा ?

विशेष—गोपियों का योगोपदेश ग्रहण न करने का यह तर्क कि पात्रानुरूप ही उपदेश देना चाहिये सर्वथा उचित है।

ऊधो ! कहा कथत बिपरीति ?
जुवतिन जोग सिखावन आए यह तौ उलटी रीति॥
जोतत धेनु, दुहत पय वृष को, करन लगे जो अनीति।
चक्रवाक ससि को क्यों जानैं ? रवि चकोर कह प्रीति ?
पाहन तरैं, काठ जो बूड़ै, तौ हम मानैं नीति।
सूर स्याम-प्रति-अंग माधुरी रही गोपिका जीति॥१३६॥

शब्दार्थ—बिपरीति—उल्टी। वृष—बैल। पय—दूध। पाहन—पत्थर।

व्याख्या—योग के लिए अपने को प्रतिकूल बताती हुई गोपियाँ उद्धव से कहती कि हे ऊधो, तुम उल्टी बातें क्यों कर रहे हो ? तुम जो युवतियों को योग की शिक्षा दें आये हो, यह आपकी रीति बिल्कुल उल्टी है। आपकी ये बातें इतनी अनीतिपूर्ण हैं जैं कि गायों का हल में जोतना तथा बैलों से दूध निकालना। भाव यह कि जिस प्रका गायों को जोतना तथा बैलों को दुहना असम्भव है उसी प्रकार युवतियों से योग की आश करना व्यर्थ है। चक्रवाक का चन्द्र से क्या प्रेम, वह तो सूर्य से प्रेम करता है। चको का सूर्य से क्या मतलब, वह तो चन्द्र पर जान देता है। यदि पत्थर जल में तैरने लगें और लकड़ी तैरने के स्थान पर डूबने लगे तो हम आपकी योगोपदेश की इन बातें को नीतिसंगत मान सकती हैं। सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि हमें तो कृष्ण के प्रत्येक अंग के सौन्दर्य ने जीत लिया है। अतः हमारे लिए योग से प्रीति करना असम्भव है।

विशेष—इस पद में निदर्शनालंकार है।

ऊधो ! जुवतिन ओर निहारो।
तब यह जोग-मोट हम आगे हिये समुझि विस्तारो॥
जे कच स्याम आपने कर करि नितहि सुगंध रचाए।
तिनको तुम जो विभूति घोरि कै जटा लगावन आए॥
जेहि मुख मृगमद मलयज उबटति, छन छन धोवति माँजति।
तेहि मुख कहत खेह लपटावन सो कैसे हम छाजति ?
लोचन आँजि स्याम-ससि दरसति तबहीं ये तृप्तानि।
सूर तिन्हैं तुम रवि दरसावत यह सुनि सुनि करमाति॥१३७॥

शब्दार्थ—मोट—गठरी। कर करि—हाथ द्वारा। मृगमद—कस्तूरी। मलयज—चंदन। उबटति—मलना। तृप्तानि—तृप्त होंगी। करमाति—दुगती हैं।

व्याख्या—योग को युवतियों के लिए अग्राह्य समझती हुई गोपियाँ ऊधो से कहती हैं कि हे ऊधो, पहले सूब आँख खोलकर इन युवतियों की ओर देख लो और सोच-समझ लो, तब यह योग की पोटली हमारे सामने खोलना। तनिक सोचो तो सही जिन केशों को कृष्ण स्वयं अपने हाथों से अनेक प्रकार के सुगन्धित तैलादि से अलकृत करते थे उन्हीं में तुम भभूत मलने का उपदेश देते हो और उन्हें जटाओं में परिवर्तित करने की बात कहते हो। जिन मुखों पर कस्तूरी और चंदन मला जाता रहा है तथा जिन्हें क्षण-क्षण में माँजा और धोया जाता रहा है, उन पर तुम जो राख लपेटने की बात कहते हो, भला यह कैसे रुचिकर हो सकता है? सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि हमारी आँखें तृप्त तभी होती हैं जब वे काजल लगाकर श्याम-रूपी शशी के दर्शन करती हैं। तुम उन्हें सूर्य दिखाने की चेष्टा में हो, यह सुनकर उन्हें बड़ा दुःख हो रहा है।

विशेष—'जोग-मोट' और 'स्याम-ससि' में साम अभेद रूपक अलंकार है।

ऊधो! इन नयनन अंजन देहु।
आनहु क्यों न स्याम रँग काजर जासों जुरयो सनेहु॥
तपति रहति निसि-बासर, मधुकर, नहिं सुहात तन गेहु।
जैसे मीन मरत जल बिछुरत, कहा कहौं दुख एहु॥
सब विधि बाँधि ठानि कै राख्यो खरि कपूर को रेहु।
बारक मिलयहु स्यामसूर प्रभु, क्यों न सुजस जग लेहु? ॥१३८॥

शब्दार्थ—आनहु—लगाना। सनेहु—स्नेह। गेहु—घर। एहु—इस।

व्याख्या—गोपियाँ कहती हैं कि हे ऊधो, तुम हमारे इन नेत्रों को अंजन प्रदान करो अर्थात् इन्हें श्री कृष्ण के दर्शन करा दो। तुम इनमें उस श्याम रंग का काजल क्यों नहीं लगाते जिनसे हमारा प्रेम जुड़ा हुआ है। हे मधुकर हम तो दिन-रात उनके वियोग में तपती रहती हैं। न हम अपना घर अच्छा लगता है और न यह शरीर। जैसे जल से अलग होकर मछलियाँ मर जाती हैं उसी प्रकार हम भी उनसे विमुख रहकर मरी जा रही हैं। अपने इस दुःख का वर्णन करना हमारे लिए असंभव हो रहा है। इतना होते हुए भी हमने अपने प्रेम को सुरक्षित रखने के लिए उसे दृढ़ संकल्प के साथ इस प्रकार बाँध दिया है जैसे कपूर को सुरक्षित रखने के निमित्त उसे खड़िया के साथ मिलाकर बाँध देते हैं। अतः हे उद्धव तुम हमें एक बार श्याम से मिला दो और संसार में यश की प्राप्ति करो।

विशेष—पहली पंक्ति में रूपकातिशयोक्ति तथा चौथी पंक्ति में उपमा अलंकार है।

ऊधो! भली करी तुम आए।
ये बातें कहि कहि या दुख में ब्रज के लोग हँसाये॥
कौन काज बृंदाबन को सुख, दही-भात की छाक?
अब वै कान्ह कूबरी राचे बने एक ही ताक॥

मोर मुकुट मुरली पीतांबर, पठवौ सौंज हमारी।
अपनी जटाजूट अरु मुद्रा लीजै भस्म अधारी॥
वै तौ बड़े, सखा तुम उनके, तुमको सुगम अनीति।
सूर सबै मति भली स्याम की जमुना-जल सों प्रीति॥१३९॥

शब्दार्थ—छाक—कलेवा। ताक—तार, मेल। सौंज—वस्तु। पठवौ—भेजा।

व्याख्या—गोपियाँ कहती हैं कि हे ऊधो, आपने यहां आकर बड़ा अच्छा किया। अपनी बेतुकी बातों को बार-बार कह कर आपने इन ब्रज के लोगों को दुःख में हँसा दिया। अब हमारा वृंदावन में रहने का सुख निरर्थक है। इतना ही नहीं, वह दही और भात का कलेवा भी अब व्यर्थ है क्योंकि कृष्ण तो उस कुब्जा पर आसक्त हैं। दोनों का मेल भी खूब मिला है। खैर, जो कुछ हुआ सो हुआ अब आप कृपया मयूरपंख का मुकुट, मुरली और पीताम्बर आदि जो भी हमारे ब्रज की वस्तुएं हैं उन्हें वहां से वापिस भिजवा दीजिये और अपनी जटा समूह, मुद्रा भस्म और अधारी उन्हें ले जाकर सौंप दो। कृष्ण तो ठहरे बड़े आदमी और फिर आप हैं उनके सखा! तो फिर आप लोगों के लिए अनीति करना बड़ा सुगम है। वस्तुतः ठीक भी है 'समर्थ को नहिं दोष गुसाईं'। सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि कृष्ण के क्या कहने हैं, उनके तो सभी कार्य अच्छे ही हैं! सारा संसार तो पतितपावन गंगाजल से प्रेम करता है और वे हज़रत, यम की बहन कालिंदी के जल से प्रीति करते हैं! (व्यंग्य)

विशेष—प्रस्तुत पद में परिवृत्ति अलंकार है।

ऊधो! बूझति गुपुत तिहारी।
सब काहू के मन की जानत बाँधे मूरि फिरत ठगवारी॥
पीत ध्वजा उनके पीताम्बर, लाल ध्वजा कुबिजा व्यभिचारी।
पीत ध्वजा, श्वेत ब्रज ऊपर प्रजस हेतु ऊधो! सो प्यारी॥
उनके प्रेम-प्रीति मनरंजन पै ह्यां सकल सीलव्रतधारी।
सूर बचन मिथ्या, लगराई ये दोऊ ऊधो की न्यारी॥१४०॥

शब्दार्थ—मूरि—जड़ी जिसे खिलाकर बेहोश किया जाता है। गुपुत—गुप्त, रहस्य। लगराई—लवारपन।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हे ऊधो, हम तुमसे एक रहस्य पूछती हैं। तुम तो सब के मन की जानते हो और सबको ठगने की जड़ी साथ लिए ठगते फिर रहे हो। देखो, कृष्ण का पीताम्बर पीत ध्वजा है जिससे कृष्ण के हृदय का राग प्रगट होता है और कुब्जा की लाल ध्वजा है जिससे व्यभिचार प्रगट हो रहा है, किन्तु कृष्ण को वह तब भी प्यारी लगती है। उन्हें यह ज्ञात नहीं है कि उनका प्रेम केवल मनोरंजन का विषय है और यहां इधर सब शीलवान हैं और प्रेम का अटल व्रत धारण करने वाले हैं। इतना सब होते हुए भी हे ऊधो, तुम हमारे प्रेम को त्याज्य बताते हो। सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि उद्धव झूठी बातें बनाने में और लबारपन में

अपनी समता नही रखते। यदि ऐसा न होता तो वे इस प्रकार निर्दोष को त्याज्य और सदोष को ग्राह्य न बताते।

विशेष—प्रतिवस्तूपमा अलकार है।

ऊधो! मन माने की बात।
जरत पतग दीप मे जैसे, औ फिरि फिरि लपटात॥
रहत चकोर पुहुमि पर, मधुकर! ससि अकास भरमात।
ऐसो ध्यान धरो हरिजू पै छन इत उत नहि जात॥
दादुर रहत सदा जल-भीतर कमलहि नहि नियरात।
काठ फोरि घर कियो मधुप तें बँधे अंबुज के पात॥
बरखा बरसत निसिदिन, ऊधो! पुहुमि पूरि अघात।
स्वाति बूँद के काज पपीहा छन छन रटत रहात॥
सेहि न खात अमृतफल भोजन तोमरि को ललचात।
सूरज कृस्न कुबरी रीझे गोपिन देखि लजात॥१४१॥

शब्दार्थ—पुहुमि—पृथ्वी। भरमात—घूमता है। अघात—तृप्त होता है। अमृतफल—मीठे फल। सेहि—साही पशु। तोमरि—तोमडी, लौकी।

व्याख्या—कुब्जा-कृष्ण प्रेम पर व्यग्य करती हुई गोपिया उद्धव से कहती हैं कि यह तो अपने अपने मन की बात है किसी को कुछ अच्छा लगता है और किसी को कुछ। पतगा दीपक मे जल जाता है और वह यह जानकर भी उसी से लिपटता रहता है। हे मधुकर, चकोर पृथ्वी पर रहता है और उसका प्रियतम चन्द्र आकाश म विचरण करता है किन्तु तब भी वह अपलक नेत्रो से उसी के ध्यान म लगा रहता है। इसी प्रकार हमारा ध्यान कृष्ण की ओर रहता है, इधर उधर नही जाता। देखो, मेढक सदा पानी मे रहता है पर वह कमल के पास तक कभी नही जाता। उधर भौंरे को देखिए, वह कमल का कितना प्रेमी होता है। वह अपन पैने दाँतो से लकडी तक को काट डालता है किन्तु कमल की कामल पखुडियाँ उससे नही कटती और वह उनमे बँध जाता है। हे ऊधो, रात दिन वर्षा होती है और उससे सारी पृथ्वी तृप्त हो जाती है पर पपीहा केवल स्वाति-नक्षत्र म बरस हुए जल का हो प्रमी होता है वह उसी की रट लगाये रहता है। सेही नामक पशु मीठ फलो को छोडकर कड़ुवी लौकी को पसन्द करता है। इसी प्रकार कृष्ण का कुब्जा स प्रेम है, वे गोपियों को देखकर लजात हैं। अत यह तो अपनी अपनी रुचि की ही बात है।

विशेष—अर्थान्तरन्यास अलकार है।

ऊधो! खरिऐ जरी हरि के सूलन की।
कुज कलोल करे बन ही बन सुधि बिसरी वा भूलन की॥
ब्रज हम दौरि आँक भरि लीन्हो देखि छाँह नव मूलन की।
अब वह प्रीति कहाँ लौं बरनौं वा जमुना के कूलन की॥

वह छवि छाकि रहे दोउ लोचन बहियाँ गहिं बन झूलन की।
खटकति है वह सूर हिये मों माल दई मोहिं फूलन की॥१४२॥

शब्दार्थ—हरिऐ—अत्यन्त। अंक—अक, गोद। खटकति है—कसकती है।

व्याख्या—राधा उद्धव से कहती है कि जब गोपाल व्रज मे थे तो उनसे कितना प्रेम करते थे कि उसकी सुध आते ही वे आज भी अत्यन्त व्यथित हो उठती हैं। वे कहती हैं कि हे ऊधो, कृष्ण जी के प्रेम की व्यथा बहुत दाहक है। कहाँ तो वह प्रेम और कहाँ आज का यह रूखा सन्देशा! जब यमुना कूल के कुंजो मे वे हमारे साथ रगरेलियाँ किया करते थे क्या वह याद उन्हे अब न आती होगी। व्रज मे रहते हुए नये पेडो की छाँह में वे हम अक मे भर लेते थे। यमुना के किनारे कृष्ण द्वारा प्रकट की गई प्रीति का वर्णन हम भला कैसे कर सकती हैं? वे हमारी बाँहें पकडकर वन मे झूलते थे। वह अद्भुत शोभा आज भी हमारे नयनो को तृप्त कर रही है। सूर कहते हैं कि राधा ने व्यथित होकर कहा कि उन्होंने जो अपने हाथो मेरे वक्षस्थल पर माला भेंट की थी उसकी याद तो हृदय मे एक कसक उठा देती है।

विशेष—'सुधि बिसरी वा भूलन की' विचारणीय है। इसका अर्थ यह भी हो सकता है कि उन्हें भूलने की वृत्ति ही भूल गई अर्थात् वह भूलता ही नहीं।

मधुकर! हम न होंहि वे बेली।
जिनको तुम तजि भजत प्रीति बिनु करत कुसुमरस-केली॥
वारे तें बलवीर बढ़ाई पोसी प्याई पानी।
बिन पिय-परस प्रात उठि फूलत होत सदा हित-हानी॥
ये बल्ली बिहरत बृंदावन अरुझी स्याम-तमालहिं।
प्रेमपुष्प-रस-बास हमारे बिलसत मधुप गोपालहिं॥
जोग-समीर धीर नहिं डोलत, रूपडार-ढिग लागी।
सूर पराग न तजत हिये तें कमल-नयन-अनुरागी॥१४३॥

[श]ब्दार्थ—वारे तें—लडकपन मे। बलबीर—बलराम के भाई अर्थात् कृष्ण।

व्याख्या—अपने प्रेम की दृढता का वर्णन करती हुई गोपियाँ ऊधो से कहती हैं कि हे मधुकर, हम वे बेल नही हैं जिन्हे तुम बिना प्रेम के ही अपनाते और त्यागते रहते हो। उनके कुसुमो के मधु को लेकर खिलवाड करते हो। हम तो वे बेल हैं जिन्हें कृष्ण ने बाल्यकाल से ही अपना स्नेह-जल देकर पाला-पोसा है। प्रातःकाल उठकर यदि प्रियतम का स्पर्श न मिला तो विकसित होते हुए भी अपनी हित-हानि समझने वाली हैं। ऐसी ये लताएं वन मे विहार करती हुई कृष्ण से उलझ चुकी हैं। हमारे प्रेम-रूपी फूलों का रस तथा सुगध तो केवल मधुप रूपी गोपाल के ही उपयोग तथा प्रसन्नता के लिए है। हमारे पुष्प दूसरों के लिए नहीं हैं। कृष्ण के रूप-रूपी डाल के निकट लगी हुई अर्थात् उनका आधार पायी हुई ये बेलें इतनी दृढ़ हैं कि योग की हवा भी इन्हें हिला-डुला नही सकती। भाव यह है कि कृष्ण का प्रभाव गोपियों पर इतना अधिक है कि

योग का प्रभाव उन पर नहीं पड़ सकता। इसीलिए सूर कहते हैं कि गोपिकाओं ने कहा कि हमारे हृदय इतने दृढ हैं कि उनका पराग भड़ नहीं सकता और दूसरा कोई उसका उपभोग भी नहीं कर सकता। ये लतायें तो केवल पुण्डरीकाक्ष से ही प्रेम करेंगी, और किसी से नहीं।

विशेष—सागरूपक और अन्योक्ति अलंकार है।

> मधुकर ! स्याम हमारे ईस।
> जिनको ध्यान धरे उर-अंतर अनहिं नए न उन बिन सीस ॥
> जोगिन जाय जोग उपदेसो जिनके मन दस बीस।
> एकै मन, एकै वह मूरति, नित बितवत दिन तीस ॥
> काहे निर्गुन-ज्ञान आपुनो जित तित डारत खीस।
> सूरज प्रभु नदनंदन हैं उनतें को जगदीस ? ॥१४४॥

शब्दार्थ—डारत खीस—नष्ट कर डालना। नए—भुके। उनतें—उनसे बढकर।

व्याख्या—गोपियाँ ऊधो से कहती हैं कि श्री कृष्ण हमारे भगवान् हैं जिनका ध्यान हम अपने हृदय के अन्दर करती हैं। उनके अतिरिक्त और किसी के सामने हमने कभी सिर नहीं भुकाया। तुम अपना यह योग योगियों को जाकर सुनाओ, उनके शायद दस-बीस मन होंगे। किसी एक मन में योग भी पडा रहेगा। यहाँ तो एक ही मन है और वह भी तीसों दिन अर्थात् सदैव उसी एक ही मूर्ति में लगा रहता है। अतः तुम अपने निर्गुण उपदेश को इधर-उधर बिखेर कर क्यों नष्ट करते फिरते हो ? सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि प्रभुवर नन्दनन्दन से बढकर और कौन जगदीश्वर कहला सकता है ? उस जगदीश्वर को हम प्राप्त कर चुकी हैं तो फिर हमें प्राप्त करने को शेष ही क्या रहा ?

विशेष—योग को ग्रहण करने की गोपियों की असमर्थता तर्कसगत है।

> मधुकर ! तुम हौ स्याम-सखाई।
> पा लागों यह दोष बकसियो संमुख करत ढिठाई ॥
> कौने रंक संपदा बिलसी सोवत सपने पाई ?
> किन सोने की उडत चिरैया डोरी बाँधि खिलाई ?
> धाम धुआँ के कहौ कौन के, बैठी कहाँ अथाई ?
> किन अकास तें तोरि तरैयाँ आनि धरी घर, माई !
> बौरन की माला गुहि कौने अपने करन बनाई ?
> बिन जल नाव चलत किन देखी, उतरि पार को जाई ?
> कौने कमलनयन व्रत बीड़ो जोरि समाधि लगाई ?
> सूरदास तू फिरि फिरि आवत यामे कौन बड़ाई ? ॥१४५॥

शब्दार्थ—अथाई—बैठक, चौपारा। बीडो जोरि—बीडा उठाकर, प्रतिज्ञा

करके। दवसियों—क्षमा करना। बौर—मजरी।

व्याख्या—योग की निरर्थकता बताती हुई गोपियाँ ऊधो से कहती हैं कि हे मधुकर, आप तो कृष्ण के सखा हैं। हमें आपका आदर स्वामवत् ही करना चाहिए। अतः आपके उपदेशों पर हम जो कुछ टीका टिप्पणी कर रही हैं उसके लिए आप हमें क्षमा करें। यह हमारी ढिठाई है। कृपया आप हमें बतायें कि किस फकीर ने स्वप्न में प्राप्त हुई धन-सम्पत्ति को भोगा है? क्या कभी कोई मौन की चिड़िया को अपनी डोरी से बाँध कर उससे खेल सका है? आकाश में उड़ते हुए धुएँ के घर में क्या कभी कोई अपनी बैठक बना सका है? आकाश से तारे तोड़कर पृथ्वी पर ले आना क्या किसी के वश की बात है? क्या बौर की माला कभी किसी ने अपने हाथ से गूँथी है? क्या कभी किसी ने बिना पानी के नाव चलते देखी है और उस नाव पर बैठकर क्या कभी कोई पार गया है? इसी प्रकार कृष्ण से दृढ़ प्रेम की प्रतिज्ञा करके फिर किसकी मजाल है जो समाधि लगा सके। सूर कहते हैं कि गोपियों ने उद्धव से कहा कि जब आप जानते हैं कि यह असम्भव है तो फिर बार-बार उसी उपदेश को सुनाना कौनसी बुद्धिमत्ता है। अतः तुम जाओ और अपना काम देखो।

विशेष—निदर्शना अलकार है।

मधुकर! मन तो एकै आहि।
सो तो लै हरि सग सिधारे जोग सिखावत काहि?
रे सठ, कुटिल-बचन, रसलम्पट! अबलन तन धौं चाहि।
अब काहे को देत लोन हौ बिरह अनल तन दाहि॥
परमारथ उपचार करत हौ, बिरह व्यथा नहिं जाहि।
जाको राजदोष कफ ब्याप, दही खवावत ताहि॥
सुन्दरस्याम-सलोनी-मूरति पूरि रही हिय माहि।
सूर ताहि, तजि निगुन-सिधुहि कौन सकै अवगाहि?॥१४६॥

शब्दार्थ—चाहि—तू देख। तन—ओर। धौं—तो। परमारथ—परमार्थ-रूपी औषधि। राजदोष—प्रबल रोग यक्ष्मा।

व्याख्या—योग की अनुपयुक्तता बताती हुई गोपियाँ ऊधो से कहती हैं कि अरे भौंरे, तनिक विचार तो करो मन कोई दस-बीस थोड़े ही हैं, वह तो एक ही है और उसे भी कृष्ण अपने साथ ले गए हैं, फिर आप यह योग की शिक्षा किसे दे रहे हो? अरे सठ, बनुआ बातें करने वाले रस-लोभी, तनिक स्त्रियों की दशा देखकर बातें करो। विरह की अग्नि से शरीर को जलाकर बार-बार जले पर क्यों नमक छिड़कते हो? अध्यात्मवाद का उपदेश देकर परमार्थ-सिद्धि का मार्ग बताने से हमारी विरह-व्यथा नहीं मिट सकती। जिसे कफ अधिक बढ़ गया हो, जिसे सन्निपात हो गया हो उसे दही खिलाने से वह मरेगा या बचेगा। सूर कहते हैं कि गोपियों ने उद्धव से कहा कि जब हृदय में सुन्दर सलोनी श्याम की मूर्ति व्याप्त हो तो उसे छोड़कर निर्गुण के कठिन

पार का अवगाहन कौन कर सकता है ? भाव यह कि आपका यह निर्गुण का उपदेश हमारे लिए सर्वथा निरर्थक है।

विशेष—निदर्शना अलकार है।

मधुकर ! छांड़ु अटपटी बातें।
फिरि फिरि बार बार सोई सिखवत हम दुख पावति जातें ॥
अनुदिन देति असीस प्रात उठि, अरु सुख सोवत न्हातें।
तुम निसिदिन उर अंतर सोचत ब्रजजुवतिन को घातें ॥
पुनि पुनि तुम्हें कहत क्यों आवै, कछु जाने यहि नाते।
सूरदास जो रँगी स्यामरँग फिरि न चढ़त अब राते ॥१४७॥

शब्दार्थ—नाते—इसी सम्बन्ध से । राते—लाल । अनुदिन—प्रतिदिन ।

व्याख्या—अपनी बातें बन्द करने को कहती हुई गोपियाँ ऊधो से कहती हैं कि अरे मधुकर, अपनी इन बेढगी बातो को बन्द कर दो। तुम बार-बार हमे वही शिक्षा देते हो जिससे हमे दु ख मिलता है। हम तो प्रतिदिन प्रात काल उठकर तथा प्रतिदिन स्नान करते, शयन करते सभी समय तुम्हे शुभ आशीर्वाद दिया करती है परन्तु तुम रात-दिन अपने मन मे इन ब्रजललनाओ के लिए नये-नये दाव पेंच सोचते रहते हो। तुम न जाने बार-बार उसी बात को कैसे कह देते हो। तुम इसी सम्बन्ध से ही कुछ जान लेते तो अच्छा था। सूर कहते है कि गोपियो ने कहा कि हम कृष्ण के श्याम रग मे रगी हुई हैं, हम पर लाल रग चढना नितान्त असभव है।

विशेष—अन्तिम पक्ति मे रूपकातिशयोक्ति अलकार है।

मधुप ! रावरी पहिचानि।
बास रस लै अनत बैठे पुहुप को तजि कानि ॥
वाटिका बहु बिपिन जाके एक जौ कुम्हिलान।
फूल फूले सघन कानन कौन तिनकी हानि ?
कामपावक जरति छाती लोन लाए आनि।
जोग-पाती हाथ दीन्ही विष चढायो सानि ॥
सीस तें मनि हरि जिनके कौन तिनमे बानि।
सूर के प्रभु निरखि हिरदय ब्रज तज्यो यह जानि ॥१४८॥

शब्दार्थ—बानि—आभा। रावरी—आपकी । अनत—अन्यत्र। कानि—मर्यादा।

व्याख्या—गोपियाँ भौंरे पर अन्योक्ति करती हुई ऊधो से कहती हैं कि हे भौंरे, तुम्हारा प्रेम हमारे प्रेम से भिन्न है। तुम जो पुष्पो से प्रेम करते हो, उसमे पुष्पो की मर्यादा नही है। तुम एक पुष्प की गध और उसके मधु का स्वाद चख कर फिर दूसरे पर जा बैठते हो और दूसरे से फिर तीसरे पर। तुम्हारे लिए यह बधन नही है कि एक

के नीरस होने के पश्चात् तुम्हें वियोग सताये क्योंकि तुम्हारे लिए उस जैसे न जाने कितने हैं। वन में अनेक सघन पुष्प विकसित रहते हैं, तुम किसी पर भी जाकर बैठ सकते हो। परन्तु इधर हमारा आधार एक ही है और वह भी हमें प्राप्त नहीं है। अत हमारा हृदय कामानल से संतप्त कैसे न होगा ? तुमने यहाँ आकर सान्त्वना देने के स्थान पर और जले हुए हृदय पर नमक छिड़का है। इस योग का सन्देश हमारे हाथ मे देकर तुमने हमारे शरीर में और भी विष चढा दिया है। जिनके सिर से मणि छिन गई हो उनमें भला कान्ति कहा से आ सकती है ? सम्भवत इसी कान्ति-हीनता को अपने हृदय मे विचार कर सूर के प्रभु नंदनंदन ब्रज को त्याग कर चले गये हैं।

विशेष—भौंरे की कपट से युक्त प्रीति का वर्णन महादेवी वर्मा ने भी अपने निम्न पद मे बहुत सुन्दर ढग से किया है—

पथ मे नित स्वर्ण पराग बिछा,
तुझे देख जो फूली समाती नहीं।
पलकों से दलों मे घुला मकरंद,
पिलाती कभी अनखाती नहीं।
किरणों मे गुंथी मुक्तावलियाँ,
पहनाती रही सकुचाती नहीं।
अब भूल गुलाब में पंकज की,
अलि कैसे तुझे सुधि आती नहीं॥

मधुकर ! स्याम हमारे चोर।
मन हरि लियो माधुरी मूरति चितै नयन की कोर॥
पकरयो तेहि हिरदय उर-अंतर प्रेम-प्रीति के जोर।
गए छँड़ाय छोरि सब बंधन दै गए हँसनि अँकोर॥
सोवत तें हम उचकि परी हैं दूत मिल्यो मोहि भोर।
सूर स्याम मुसकानि मेरो सर्वस लै गए नंदकिसोर॥१४६॥

—अंकोर—भेंट। दै गए—दिये हुए गये। कोर—कटाक्ष।

—कृष्ण के रूप माधुर्य का वर्णन करती हुई गोपियां उद्धव से कहती हैं कि हे मधुकर, श्याम हमारे चोर हैं। उन्होंने हमें अपनी मधुर मूर्ति की झलक दिखा-कर और नयनो के कटाक्ष द्वारा हमारा मन हर लिया है। हमने उनको अपने हृदय में प्रेम और प्रीति के बंधनों से बांध कर रखा था परन्तु वे सब बन्धन छुड़ाकर चलते बने और प्रत्युपहार स्वरूप अपना मन्दहास दे गये। रात भर उसी मधुर मुस्कान के चक्कर में फंसी रही और प्रात काल य दूत महाशय मिल गये। सूर कहते हैं कि गोपियों ने कृष्ण के दूत ऊधो से कहा कि देखो, नंदकिशोर मुस्कान द्वारा हमारा सर्वस्व हर ले गये हैं।

विशेष—कृष्ण की मधुर मुस्कान ने गोपियों का सर्वस्व हर लिया। कितनी शक्ति थी उस मधुर मुस्कान मे !

मधुकर ! समुझि कहौ मुख बात।
हौ मद पिए मत्त, नहिं सूझत, काहे को इतरात ?
बीच जो परै सत्य सो भाखै, बोलै सत्य स्वरूप।
मुख देखत को न्याव न कीजै, कहा रंक कह भूप ॥
कछू कहत कछुए मुख निकसत, परनिंदक व्यभिचारी।
व्रजजुवतिन को जोग सिखावत कीरति आनि पसारी ॥
हम जान्यो सो भँवर रस भोगी जोगी जुगुति कहँ पाई ?
परम गुरु सिर मूँडि बापुरे करमुख छार लगाई ॥
यहै अनीति बिधाता कीन्हीं तौऊ समुझत नाहीं।
जो कोउ परहित कूप खनावै परै सो कूपहि माहीं ॥
सूर सो वे प्रभु अंतर्यामी कासों कहौं पुकारी ?
तब अक्रूर अबै इन ऊधो दुहुँ मिलि छाती जारी ॥१५०॥

शब्दार्थ—करमुख—काले मुख वाला। बापुरे—बचारे। छार—धूल।

व्याख्या—योग के उपदेश को अपने लिए अनुपयुक्त समझती हुई गोपियां उद्धव से कहती हैं कि हे मधुकर, तनिक सोच समझकर मुख से बात निकाला करो। तुमने तो नशा पी रखा है और मतवाले हो रहे हो। इसलिए तुम्हें कुछ नहीं सूझ रहा है। तुम व्यर्थ में क्या इतरात हो ? तुम्हें यह ज्ञात होना चाहिये कि जो मध्यस्थ होता है सत्य बोलना उसका कर्त्तव्य होता है। चाहे राजा हो अथवा रंक, मध्यस्थ को मुख देखकर न्याय नहीं करना चाहिये। परन्तु तुम्हारा हाल कुछ अजीब ही दिखाई पडता है। कहना चाहते हो कुछ और मुख से निकलता है कुछ। तुमने परनिन्दा की है अत तुम दोषी ही हो। ब्रज की युवतियों को योग की शिक्षा देकर तुमने अच्छी कीर्ति कमाई है। हम भौंरे को खूब जानती है। वह तो बडा रसिया है, उसे य योग की नीरस युक्तियां कहां से मिल गई। उसके रसिक होने के कारण ही परम गुरु विधाता ने उसका सिर मुंडवाकर राख पोतकर मुख काला कर दिया है। विधाता ने तो इतना कर दिया किन्तु तब भी उसकी आंखें न खुली। वस्तुत जो दूसरो के लिये कुआं खोदता है वह स्वयं ही उसी में गिर पडता है। दूसरे की बुराई करने वाले के हाथ स्वयं बुराई लगती है। सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि हमारे कृष्ण तो अंतर्यामी हैं, वे हमारी व्यथा को जानते है। फिर भी ऐसे दूतो को भेजकर हमे जो दुःख दिया है उसे हम ही जानती है। अक्रूर ने कृष्ण को मथुरा ले जाकर और अब इन ऊधो ने योग का सन्देश देकर हम जो पीडा दी है, इस प्रकार दोनो ने हमारे हृदय को बहुत जलाया है।

विशेष—वस्तुत जो दूसरा के लिए गढा खोदता है वह उसमें स्वयं ही गिर पडता है। कहा भी है—

खाड खनै जो और को ताको कूप तैयार।

मधुकर ! हम जो कहौ करें।
पठ्यो है गोपाल कृपा कै आयसु तें न टरें ।।
रसना वारि फेरि नव खंड कै, दें निर्गुन के साथ।
इतनो तनक बिलग जनि मानहुँ, अँखियाँ नाहीं हाथ ।।
सेवा कठिन, अपूरव दरसन कहत अबहुँ मैं फेरि।
कहियो जाय सूर के प्रभु सों केरा पास ज्यों बेरि ।।१५१।।

शब्दार्थ—केरा—केला। बेरि—बेर । आयसु—आदेश । वारि—बलिदान करके ।

व्याख्या—अपने नेत्रों की असमर्थता का प्रगटीकरण करती हुई कोई गोपी ऊधो से कहती है कि हे मधुकर, तुम जो कुछ कहो हम करने को तैयार हैं । गोपाल ने कृपा करके जब हमारे लिए यह निर्गुणोपासना भेजी है तो मैं भी उनकी आज्ञापालन करने को तैयार हूँ। मैं अपनी इस रसना के, जो दिन-रात श्याम-श्याम रटती रहती है, काट कर नौ टुकड़े करके निर्गुण के हाथ सौंप दूंगी। परन्तु देखो, तुम बुरा मत मानो, ये हमारे नेत्र हमारे काबू से बाहर हैं । तुम्हारी बताई हुई आराधना इनके लिए बहुत कठोर है। उसमें जिस ज्योति का तुम दर्शन बताते हो वह भी बड़ी अजीब है। अतः मैं तुमसे फिर कहती हूँ कि सूर के प्रभु श्याम से जाकर कह देना कि तुम्हारा योग हमारे लिए इतना दुःखदायी है जैसे केले को बेर की निकटता दुःखदायी होती है ।

विशेष—(i) लुप्तोपमा अलंकार है।

(ii) कबीर ने भी केले और बेर का बैर निम्न प्रकार से प्रगट किया है—

(अ) कहै कबीर कैसे निभै केर बेर को संग।
वे डोलत रस आपने उनके फाटत अंग।।

(ब) केरा तबहि न चेतिया जब ढिग लागी बेर।
अबके चेते क्या भया काटन लीन्हों घेर ।।

मधुकर ! तौ औरनि सिख देहु ।
जानौगे जब लागैगो, हो, खरो कठिन है नेहु।।
मन जो तिहारो हरिचरनन-तर, तन धरि गोकुल आयो।
कमलनयन के संग तें बिछुरे कहु कौने सचु पायो ?
छाँड़ें रह्यौ आहु अति मथुरा लूघो भायभाहूँ।
गोपी सूर कहत ऊधो सों हमहीं से तुम होहु ।।१५२।।

शब्दार्थ—सिख—शिक्षा। तर—नीचे। सचु—सुख। नेहु—स्नेह।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हे मधुकर, तुम दूसरों को योग की शिक्षा देने से पूर्व प्रेम की गम्भीरता पर विचार कर लो। जब तुम्हारे लगेगी तभी तुम इसके मर्म को समझ सकोगे। तभी ज्ञात होगा कि स्नेह का घाव बड़ा कठिन होता है।

ुम भी इस बात का समझते तो हो किन्तु समझते हुए भी नासमझी दिखा रहे हो। ुम्हारा मन अब भी श्री कृष्ण के चरणो मे विद्यमान है। केवल शरीर मात्र से ही गोकुल मे आये हो। सच-मच तुम्ही बताओ कि कमलनयन श्री कृष्ण से विछुड़कर किसने सुख पाया है ? यदि तुम भी उसी मार्ग पर आरूढ नही हो जिस पर हम हैं और तुम अपने कहने के अनुसार इस ससार के माया-मोह को वास्तव मे मिथ्या समझते हो तो देखें भला कि तुम अब यही रहो, मथुरा कभी मत जाना और हमारी भाति तुम भी कृष्ण-वियोगी बन जाओ। यदि तुम ऐसा नही कर सकते तो फिर तुम्हारे लिए तो यही बात सही होगी कि 'खुद मियाँ फजीहत, दीगरे मियाँ नसीहत'।

विशेष—तुलसी ने भी एक स्थान पर इसी बात की पुष्टि की है—

पर उपदेश कुशल बहुतेरे। जे आचरहिं ते नर न घनेरे॥

मधुकर ! जानत नाहिन बात।
फूंकि फूंकि हियरा सुलगावत उठि न यहां तें जात॥
जो उर बसत जसोदानंदन निर्गुन कहां समात ?
यह भटकत डोलत कुसुमन को तुम हो पातन पात ?
जदपि सकल बल्ली बन विहरत जाय बसत जलजात।
सूरदास ब्रज मिले बनि आवै ? दासी की कुसलात॥१५३॥

शब्दार्थ—हियरा—हृदय। समात—स्थान पाना। जलजात—कमल।

व्याख्या—गोपियाँ ऊधो से कहती हैं कि हे मधुकर तुम वास्तविक बात तो जानते नही। बार-बार उल्टी सीधी बातें करके हमारे हृदय को जला रहे हो। इससे तो अच्छा यह होगा कि तुम अपना मार्ग नापो। तुम समझ सकते हो जिस हृदय मे यशोदानन्दन कृष्ण का निवास है उसमे निर्गुण स्थान कहा पा सकता है ? तुम स्वय भी ऐसा नही कर सकते। यदि हमारा यह कथन गलत है तो फिर तुम ही बन-बन के फूल और पत्तियो मे भटककर उन्हे परित्याग करके सब वल्लियो से विहार करके अन्त मे कमल की पखुडियो मे आश्रय क्यो लेते हो ? सूर कहते हैं कि गोपियो ने उद्धव से कहा कि तुम सब जानते हुए भी यह जो निर्गुण को ग्रहण करने का आग्रह कर रहे हो, इसका कारण हम समझ गई हैं। यदि कृष्ण हमारी व्यथा से द्रवित होकर ब्रज आ गये तो कुबरी महारानी की कुशलता कैसे बनी रह सकेगी ? उसी की कुशलता बनाये रखने के हेतु यह सब प्रपच रचा जा रहा है।

विशेष— खुद मियाँ फजीहत, दीगरे मियाँ नसीहत' वाली उक्ति उद्धव पर पूर्णतः लागू है।

तिहारी प्रीति किधौं तरवारि ?
दृष्टि धार करि मारि साँवरे घायल सब ब्रज नारि॥

रही सुखेत ठौर बृंदावन, रनहुँ न मानति हारि।
बिलपति रही सँभारत छन-छन बदन-सुधाकर-वारि॥
सुंदरस्याम-मनोहर-मूरति रहिहौं छबिहि निहारि।
रंचक सेष रही सूरज प्रभु अब जनि डारौ मारि॥१५४॥

शब्दार्थ—सुखेत—रणक्षेत्र। ठौर—स्थान। तरवारि—तलवार। रचक—थोडी।

व्याख्या—विरह-व्यथा की असह्यता का वर्णन करती हुई गोपियाँ कहती हैं कि हे कृष्ण, तुम्हारा प्रेम प्रेम है या तलवार है! हे श्याम, तुम्हारी उस तलवार की कटाक्ष रूपी तीव्र धार से सभी व्रजांगनायें घायल हो रही हैं। यद्यपि वे वृन्दावन धर्मक्षेत्र मे हार गई है किन्तु वे तब भी हार नही मानती हैं। वे क्षत-विक्षत होकर पुण्य रणक्षेत्र मे रोती और चिल्लाती रही और तुम्हारे चन्द्रमुख के शोभा-जल को पी-पीकर अपने जीवन की रक्षा करती रही। सूर कहते है कि गोपियो ने अन्त मे कहा कि हम इस अवस्था मे भी उस सुन्दर श्याम की मनोहारी मूर्ति की शोभा को देखकर सदैव जीती रहेगी। अब तो बहुत गई थोडी रही। अब तुम हमे इसी प्रकार जीवित रहने दो, बिल्कुल मार न डालो।

विशेष— वही हैं राज़े हक़ीकत से आशना 'नश्तर'
जो राहे-इश्क मे हस्ती मिटाये जाते हैं।

मधुकर! कौन मनायो मानै?
अविनासी अति अगम अगोचर कहा प्रीति-रस जानै?
सिखवहु ताहि समाधि की बातें जैहै लोग सयाने।
हम अपने व्रज ऐसेहि बसिहैं बिरह-बाय-बौराने॥
सोवत जागत सपने सौंतुख रहिहैं सो पति माने।
बालकुमार किसोर को लीलासिंधु सो तामे साने॥
परयो जो पयनिधि बूंद अलप सो कोजो अब पहिचाने?
जाके तन धन प्रान सूर हरिमुख-मुसुकानि बिकाने॥१५५॥

शब्दार्थ—सौंतुख—सामने। अलप—थोडा। बाय—वात, विकार। पयनिधि—समुद्र।

व्याख्या—उद्धव द्वारा निर्गुण का उपदेश सुनकर गोपियाँ कहती हैं कि हे मधुकर, तुम्हारे कथन को मनाने पर भी कौन मानने को तैयार हो सकता है? वह तुम्हारा अविनाशी, अत्यन्त अगम्य तथा अप्रत्यक्ष निर्गुण प्रेम-रस को कैसे पहचान सकता है? हमे तुम्हारी बातें बिल्कुल नही जँचती। तुम अपनी समाधि की बातें उन्हे सिखाओ जो ज्ञानी है। हमे तो तुम अपने व्रज मे कृष्ण-विरह मे उन्मत्त जीवन ही व्यतीत करने दो। हम तो सोते-जागते स्वप्न मे या प्रत्यक्ष मे सभी दशाओ मे कृष्ण को ही पति मानकर रही हैं और रहेंगी। हम तो बालक श्री कृष्ण के लीला-सागर मे अभिन्न होकर

सी सन रही हैं कि हमारी कोई पृथक् सत्ता ही नही है। समुद्र मे पडी हुई छोटी-सी बूंद को भला कैसे अलग किया जा सकता है ? ठीक इसी प्रकार हम भी उस लीलाधर के अभिन्न अंग बन गई है, इससे पृथक् हमारी कोई सत्ता नही है। सूर कहते है कि गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हमारे तन-मन-धन सब हरि की मधुर-मुसकान के हाथ बिक गये है।

विशेष—(i) यो ही मन मेरो काम को न रह्यो माई,
स्याम रंग ह्वै करि समान्यो स्याम रंग मे। (देव)
(ii) हेरत हेरत हे सखी हेरत गया हेराय।
बुंद समानी समंद में सो कित हेरी जाय॥ (कबीर)

मधुकर ! ये मन बिगरि परे।
समुभत नाहिं ज्ञानगीता को हरि-मुसुकानि अरे॥
बालमुकुंद-रूप रसराचे तातें वक्र खरे।
होय न सूधी स्वान पूंछि ज्यो कोटिक जतन करे॥
हरि-पद-नलिन बिसारत नाहीं सीतल उर संचरे।
जोग गभीर है अधकूप तेहि देखत दूरि डरे॥
हरि-अनुराग सुहागभाग भरे अमिय तें गरल गरे।
सूरदास वरु ऐसेहि रहि हैं कान्ह बियोग-भरे॥१४६॥

शब्दार्थ—गभीर—गहरा। अरे—अड गये हैं। राचे—अनुरक्त। वक्र—टेढे।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हे मधुकर, हमारे मन बडे बिगडे हुए हैं। गीता का कर्मयोग अथवा ज्ञानयोग इनकी समझ से बाहर है। ये तो कृष्ण की मुस्कान के लिए सदा मचलते रहते हैं। इन्हे पहले से ही कृष्ण की रूप-माधुरी मिलती रही है, इसीलिए ये नीरस निर्गुण की बात सुनकर अब टेढे खडे हैं। अब इन्हे सुधारने का प्रयत्न व्यर्थ है। करोडो उपाय करने पर भी कुत्ते की पूंछ सीधी नही होती। इसी प्रकार अनेक प्रकार के हानि-लाभ दिखाने पर भी ये हरि के कमल-चरणो को नही भूलते। तुम्हारा योग तो इन्हें अन्धे कुएँ की भांति डरावना लगता है। इसे देखकर तो वे दूर से ही भाग खड़े होते हैं। आज दिन तक वे हरि के प्रेम-सौभाग्य मे भरे रहे। आज योग सुनकर उन्हे ऐसा प्रतीत हो रहा है कि जैसे कोई उन्हे अमृत से निकाल कर जहर मे गलाने जा रहा हो। सूर कहते है कि गोपियो ने उद्धव से कहा कि हमे तुम कृष्ण के वियोग से व्यथित ऐसे ही रहने दो, निर्गुण की आराधना हमें बिल्कुल नहीं भाती।

विशेष—(i) जिन्दगानी जिसको कहते हैं जहाने इश्क में।
सर से लेकर पांव तक वह दर्द बन जाने में है॥
(ii) निदर्शना, उत्प्रेक्षा और रूपक अलकार है।

मधुकर ! जो तुम हित हमारे ।
तौ या भजन सुधानिधि मे जनि डारौ जोग-जल खारे ॥
सुनु सठ रीति, सुरभि पयदायक क्यों न लेत हल फारे ?
जो भयभीत होत रजु देखत क्यों बदवत अहि कारे ॥
निजकृत बूझि, बिना दसनन हति तजत धाम नहिं हारे ।
सो बल अछत निसा पकज मे दल-कपाट नहिं टारे ॥
रे अलि, चपल मोदरस-लपट ! कतहि बक्त बिन काज ?
सूर स्याम-छबि क्यों बिसरत है नखसिख अग बिराज ?॥१५७॥

शब्दार्थ—पयदायक—दूध देने वाली । हल फारे—हल और फाल । रजु—रस्सी । अछत—अच्छे रहते ।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कहती है कि हे मधुकर, यदि तुम वास्तव मे हमारे हितैषी हो, तो तुम हमारी सगुण भक्ति के अमृत-सागर मे योग का खारा जल मत डालो । अरे धूर्त ! कभी दूध देने वाली गाय को हल मे जोतना कोई अच्छी रीति कही जा सकती है ? जो केवल रस्सी को देखकर डरती है उसके सामने काला सर्प फेंकना क्या अच्छा है ? हे भौरे, तू तनिक अपने कार्यों पर दृष्टि डाल । तू तो बिना काटे छत्ते को भी छोड कर नही जाता । किंतु जब तू रात्रि को कमल के सपुट मे बन्द हो जाता है तब तेरा बल कहा चला जाता है ? तू उस बल से कमल को क्यो नही छेदता ? इसलिए हे भ्रमर, तू तो मोह रस का लोभी है तू व्यर्थ बकवास करता है । सूर कहते हैं कि गोपियो ने कहा कि जिस स्याम-सुन्दर की कमनीय शोभा ने हमारे अग-अग मे घर कर लिया है, क्या हम उसे भूल सकती है ?

विशेष—दारूभेद निपुणोऽपिपडध्रिर्भवति पकज कोशनिबद्ध ।

मधुकर ! कौन गाँव की रीति ?
ब्रज जुवतिन को जोग कथा तुम कहत सबै विपरीति ॥
जा सिर फूल फुलेल मेलिकै हरि-कर ग्रथै छोरी ।
ता सिर भसम, मसान पै सेवन, जटा करत माघोरी ॥
रतन जटित ताटक बिराजत अरु कमलन की जोति ।
तिन स्रवनन पहिरावत मुद्रा तोहि दया नहिं होति ॥
बेसरि नार, कठमनिमाला, मुरलिन सार मसवास ।
तिन मुख सिगी कहौ बजावन, भोजन आक, पलास ॥
जा तन को मृगमद घसि चदन सूछम पट पहिराए ।
ता तन को रॉव घोर पुरातन क ब्रजनाथ पठाए ॥
य अविनासी आप पठयो यहि बिधि जोग सिखाए ।
करं भोग भरपूर सूर तह, जोग करै ब्रज आए ॥१५८॥

शब्दार्थ—फुलेल—सुगन्धित तेल । ग्रथै—गाँठ । माघोरी—माँगी । ता

कान का गहना। सार—घनसार, कपूर। असबास—सुगन्धित सास। आक—अर्क, मदार।

व्याख्या—निर्गुणोपासना और योगसाधना को अपने लिए प्रतिकूल समझती हुई गोपिया ऊधो से प्रश्न करती है कि हे मधुकर, यह कौन गाव की रीति है कि तुम यह बिल्कुल उल्टा ढग कर रहे हो कि जो व्रजयुवतियो के लिए योग का उपदेश दे रहे हो। तुम तनिक सोचो तो, जिस शरीर मे तेल और फुलेल लगाकर श्री कृष्ण ने अपने हाथो से पटिया गूंथी हैं और छोरी है उसी सिर मे श्मशान मे रहकर भस्म लगाकर भारी-भारी जटायें बाधने के लिए तुम कहते हो। जिन कानो मे हमने रत्नजटित कमल जैसे चमकने वाले कर्णफूल पहने हैं उन्ही कानो मे कनफटे योगियो की मुद्रायें पहनाने मे तुम्हे दया नही आती। जिनकी नाक मे नथ, गले मे मणि की मालायें तथा मुखो मे कपूर का सौरभ सुशोभित होता था उन्ही के मुखो मे तुम सिंगी बजाने तथा मदार और ढाक के पत्तो का भोजन करने की बात कह रहे हो। जिस शरीर पर हमने कस्तूरी और चन्दन का लेप करके बारीक कपडे पहने है उसी शरीर के लिए श्री कृष्ण ने पुराने चिथडे भेजे है। हमारे श्री कृष्ण अविनाशी है। यदि इस प्रकार वे हमें योग की शिक्षा दिलायेंगे तो उनके ज्ञान की महत्ता मिट जायेगी। सूर कहते है कि गोपियो ने कहा कि इतने पर भी यदि आप नही मानते हैं तो जाओ श्री कृष्ण से कह देना कि मथुरा मे वे जब तक रहें तब तक भोग कर लें फिर ब्रज मे आकर योग-साधना कर लेंगे। साराश यह कि हम भी उसी समय उनके साथ ही योगसाधना कर लेंगी।

विशेष—ज्ञान की महत्ता वस्तुत इसी मे है कि ज्ञानोपदेशक पात्रापात्र को देखकर ही ज्ञान की शिक्षा दे।

मधुकर ! ये नयना पै हारे।
निरखि निरखि मग कमलनयन को प्रेममगन भए भारे॥
ता दिन तें नींदो पुनि नासी, चौंकि परत अधिकारे।
सपन तुरी जागत पुनि सोई जो हैं हृदय हमारे॥
यह निर्गुन लै ताहि बतावो जो जानें याके सारे।
सूरदास गोपाल छाँडि कै चूसें टेंटी खारे॥१५६॥

शब्दार्थ—तुरी—तुरीयावस्था। टेंटी—करील का फल। अधिकारे—अधिक। सारे—तत्त्व। खारे—कडवे।

व्याख्या—गोपिया उद्धव से कहती हैं कि हे मधुकर, हमारे ये नेत्र कमलनयन श्री कृष्ण की राह देखने-देखते हार गए हैं फिर भी ये प्रेम मे सदा मग्न रहते हैं। जिस दिन से श्री कृष्ण यहा से गए हैं उसी दिन से हमारी नीद भी नष्ट हो गई है। भय और शका से ये नेत्र अधिकाधिक चौंकते रहते हैं। स्वप्न, तुरीय तथा जागृत इन तीनो ही अवस्थाओ मे वे हमारे हृदय मे विद्यमान रहते हैं। तुम अपना यह उपदेश उन्हीं को दो जो तत्त्व के जानने वाले हो। हम तो सुस्वादु गोपाल को छोडकर खारे करील के फल

को खाना अच्छा नहीं लगता।

विशेष—जीव की चार अवस्थाओं—जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति तथा तुरीय—में से यहां कवि ने तृतीय अवस्था सुषुप्ति का कथन नहीं किया। जान पडता है कि इससे उसने पहले आये हुए जागरण की पुष्टि की है। तुरीय का प्रयोग उसने यहां इसलिए किया है कि यहां सब सुध-बुध खोकर विदेहावस्था का भाव प्रगट किया गया है।

मधुकर ! यह कारे की जाति ?
ज्यों जलमीन, कमल पै अलि की, त्यों नहिं इनकी प्रीति ॥
कोकिल कुटिल कपट वायस छलि फिरि नहिं वहि बन जाति।
तैसेहि कान्ह केलि-रस अँचयो बैठि एक ही पाँति ॥
सुत-हित जोग जज्ञ व्रत कीजत बहु विधि नीकी भाँति।
देखहु अहि मन मोहमया तजि ज्यों जननी जनि खाति ॥
तिनको क्यों मन विसमौ कीजै औगुन लौं सुख-साँति।
तैसेइ सूर सुनौ जदुनंदन, बजी एकस्वर ताँति ॥१६०॥

शब्दार्थ—जनि—जनकर, उत्पन्न करके। वायस—कौआ। अँचयो—पिया। ताँति—बाजा।

व्याख्या—गोपियाँ कृष्ण की निष्ठुरता पर व्यंग्य करती हुई कहती हैं कि हे मधुकर, यह कालों की जाति ही ऐसी होती है। ये कभी किसी के सगे नहीं होते। जिस प्रकार का प्रेम मछली जल में और भौंरा कमल में करता है उस प्रकार का प्रेम ये नहीं करते। क्रूर कोयल छलपूर्ण व्यवहार द्वारा कौए को छलती है और अपना बना-कर चलती बनती है तथा फिर उस वन में भूलकर भी नहीं आती उसी प्रकार कृष्ण ने भी हमारे साथ पहले तो रगरेलियां करके खूब आनन्द उड़ाया और फिर अब चलते बने तथा अब आने का नाम तक नहीं लेते। इन कालों की बात कहां तक कहें, ये तो होते ही बड़े क्रूर हैं। देखो, जिस पुत्र के लिए लोग अनेकों यज्ञ, योग और तप करते हैं उसी दुर्लभ पुत्र को नागिन उत्पन्न करते ही खा जाती है। सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि इन सब बातों पर विचार करके कृष्ण के कार्यों पर विस्मय करना व्यर्थ है। उन्हें तो सुख का साथ ही तब आता है जब वे औगुन कर लेते हैं। वे भी काले हैं अत वे भी इन सबके स्वर में स्वर मिलाकर ही बोलते हैं। कालों की जाति से ये अलग कैसे निकल जाते!

विशेष—(i) उपमा और वृत्यानुप्रास अलंकार है।

(ii) कारे रंग पर व्यंग्य सूर ने और भी कई पदों में किया है जैसे 'ऊधो कारे बहुत बुरे' तथा 'मधुकर यह कारे की रीति' आदि।

मधुकर ! ल्याए जोग-सँदेसो।
भली स्याम कुसलात सुनाई सुनतहिं भयो अँदेसो॥
आस रही जिय कबहुँ मिलन की, तुम आवत ही नासी।
जुवतिन कहत जटा सिर बाँधहु तौ मिलिहैं अविनासी॥
तुमको जिन गोकुलहिं पठायो ते वसुदेव-कुमार।
सूर स्याम मनमोहन विहरत ब्रज में नंददुलार॥१६१॥

शब्दार्थ—नासी—नष्ट कर दी। भयो—उत्पन्न हो गया। पठायो—भेजा।

व्याख्या—गोपियाँ भ्रमर को सम्बोधन करती हुई ऊधो से कहती हैं कि हे मधुकर, अच्छा तो आप योग का सन्देश लाये हैं ! आपने अच्छी श्याम की कुशलता सुनाई। इसे सुनकर तो हमें आशंका होने लगी। पहले हमें कभी न कभी मिलने की आशा तो थी अब तो आपने आने ही उस आशा को भी नष्ट कर दिया। आप तो अब युवतियों से जटा बाँधकर योग-साधना द्वारा उस अविनाशी की प्राप्ति की बात कह रहे हैं। ठीक है, परन्तु आप एक बात न भूलो। आपको जिसने यहाँ गोकुल में भेजा है वे तो वसुदेव के पुत्र हैं। हम उनकी बातें नहीं मान सकती, वे राजा हैं तो होंगे अपने घर के। हमारे यहाँ तो मनोहारी श्याम शरीर नन्दकुमार विहार करते हैं और उन्हीं की बात हमारे यहाँ चलती है। भाव यह है कि यह योग नामक उनकी वस्तु जाकर आप उन्हीं को सौंप दो, हमें नहीं चाहिये।

विशेष—ऊधो मथुरा के हरि और।
एक नहीं तुम लाख बुझाओ समुझाओ सिर फोर।
उनके नन्द जसुमत पितुमाता वे वसुदेव देवकी किशोर।
ये अहीर वे यादव क्षत्री भूपति भवन निनोर।
(प्रतापनारायण मिश्र)

स्याम बिनोदी रे मधुबनियाँ।
अब हरि गोकुल काहे को आवहिं चाहत नवयौवनियाँ॥
वे दिन माधव भूलि बिसरि गए गोद खिलाए कनियाँ।
गुहि गुहि देते नंद जसोदा तनक काँच के मनियाँ॥
दिना चारि तें पहिरन सीखे पट पीतांबर तनियाँ।
सूरदास प्रभु तजी कामरी अब हरि भए चिकनियाँ॥१६२॥

शब्दार्थ—मनियाँ—गुरिया। तनियाँ—कुरती। चिकनियाँ—छैला। कनियाँ—गोद।

व्याख्या—कृष्ण की निष्ठुरता पर व्यंग्य करती हुई गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि आपके मथुरा-निवासी कृष्ण बड़े विनोदी रसिया हैं। भला अब वे गोकुल क्यों आवेंगे? उन्हें तो नवयुवतियाँ चाहियें। भला उन्हें अब उन दिनों की याद कहाँ आती है जब हम उन्हें अपनी गोदी में खिलाया करती थी, जब बाबा नन्द और माता यशोदा उनके केशों में

काँच की गुरियाँ गूँथ दिया करती थी। अब चार दिन में वे पीताम्बर और कुरता पहनना सीख गये तो पिछली बातें सब विस्मृत कर बैठे। सूर के प्रभु श्याम ने अब तो उस कमरिया को तो भुला दिया, और अब तो वे छैला हो गये छैला!

विशेष—महात्मा सूरदास जी श्री कृष्ण से सखाभाव की भक्ति करते थे, तभी तो वे गोपियों द्वारा उनके लिए ऐसी बातें कहलवा सके।

> ऊधो! हम हो हैं अति बोरी।
> सुभग कलेवर कुंकुम खौरी। गुंजमाल अरु पीत पिछौरी॥
> रूप निरखि दृग लागे ढोरी। चित चुराय लयो मूरति सो री!
> गहियत सो जा समय अकोरी! याही तें बुधि कहियत बौरी॥
> सूर स्याम सों कहिय कठोरी! यह उपदेस सुने तें बौरी॥१६३॥

शब्दार्थ—ढोरी—पीछे-पीछे लगना। अकोरी—गोद। कलेवर—शरीर। खौरी—लेप। पिछौरी—दुपट्टा।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से अपनी भूल प्रगट करती हुई कहती हैं कि हे ऊधो, हमही पगली रहीं। उनके सुन्दर शरीर को केसर के तिलक, गुंजाओं की माला तथा पीताम्बर की शोभा से युक्त देखकर हमारे ये नेत्र उनके पीछे-पीछे लग गये। परन्तु हाय! उस मूर्ति ने तो हमारा मन चुरा लिया। पहली भूल का ही फल हम अब तक भुगत रही हैं। इसीलिए चतुर लोग हम पगली की संज्ञा देते हैं। यह वस्तुत श्याम की बहुत कठोरता है कि उन्होने हमारे लिए इस प्रकार के उपदेश भेजे हैं। इन्हें सुनकर तो हम और भी पगली हो गई हैं।

विशेष—गोपियाँ अपनी भूल पर पश्चात्ताप करती हैं किन्तु इससे भी उनका सच्चा प्रेम ही प्रतिबिंबित होता है।

> कहाँ लगि मानिए अपनी चूक?
> बिन गोपाल, ऊधो, मेरी छाती ह्वै न गई द्वै टूक॥
> तन, मन, जोबन वृथा जात है ज्यों भुवग की फूँक।
> हृदय अग्नि को दवा बरत हैं, कठिन बिरह की हूक॥
> जाकी मनि हरि लई सीस तें कहा करै अहि मूक?
> सूरदास ब्रजवास बसी हम मनहुँ दाहिने सूक॥१६४॥

शब्दार्थ—हूक—ज्वाला व्यथा शूल। दाहिने सूक—दक्षिण शुक्र ग्रह होने पर। दवा—भीषण ज्वाला। भुवग—सर्प।

व्याख्या—कृष्ण-वियोग में जीवित रहने का भी एक अपराध समझती हुई राधा उद्धव से कहती है कि हे ऊधो, मैं अपनी भूल कहा तक मानूँ। उनके वियोग में मेरा हृदय दो टुकड़े क्यों न हो गया? अब सर्प की फूँक के सदृश यह मेरा तन और यौवन सब व्यर्थ व्यतीत हो रहा है। हृदय में विरह की भीषण ज्वाला जल रही है और कठोर

हूक उठती है। जिस सर्प की मणि हर ली गई हो वह भला मूक वेदना को मन मार-कर सहन करने के अतिरिक्त और कर ही क्या सकता है। इसी प्रकार उनके विरह की इस मूक वेदना को सहन करने के अतिरिक्त और मार्ग ही क्या है ? सूर कहते हैं कि राधा ने कहा कि जिस समय हमने गोकुल मे वास किया उस समय शुक्र दक्षिण की ओर था।

विशेष—(1) ज्योतिष शास्त्र के अनुसार शुक्र दक्षिण मे होने पर अनिष्ट होता है।

(ii) इस पद मे रूपक और अन्योक्ति अलकार है।

ऊधो ! जोग जानै कौन ?
हम अबला कह जोग जानै जियत जाको रौन ॥
जोग हम पै होय न आवै, धरि न आवै मौन !
बाँधिहैं क्यो मन-पखेरू साधिहैं क्यो पौन ?
कहौ अबर पहिरि कै मृगछाल ओढै कौन ?
गुरु हमारे कूबरी-कर-मत्र माला जौन ॥
मदनमोहन बिन हमारे परै बात न कौन ?
सूर प्रभु कब आय हैं वे स्याम दुख के दौन ? ॥१६५॥

शब्दार्थ—रौन—पति। दौन—दमन करने वाले। अबर—अच्छे वस्त्र।

व्याख्या—योग को अपने लिए सर्वथा अनुपयुक्त बताती हुई गोपिया ऊधो से कहती हैं कि हे उद्धव, यहाँ भला योग को कौन जानता है ? हम अबला हैं, जब हमारे पति जीवित हैं तो फिर हम योग को क्या जानें ? हम योग-साधन नही कर सकती, न हम मौन धारण कर सकती हैं। प्राणायाम करके हम अपने मन रूपी पक्षी को नही बाध सकती। तुम्ही बताओ जो सदैव से महीन वस्त्र पहनती रही हैं वे मृगछाला किस प्रकार ओढ सकेंगी ? हमारे गुरू वे ही है जो आजकल कुबरी के हाथ की माला बने हुए हैं। उसी के घुमाये दिन-रात घूमते है। किन्तु हम भी करें क्या ? उस मदनमोहन के बिना तो हमारे मन मे कोई बात जमती ही नही है। अत उद्धव, तुम हमे तो बस यही बताओ कि सूर के प्रभु कृष्ण जो सब दुखो का दूर करने वाले है, वे कब आवेंगे ?

विशेष—इस पद मे रूपक अलकार है।

फिर ब्रज बसहु गोकुलनाथ।
बहुरि न तुमहिं जगाय पठवौं गोधनन के साथ॥
बरजौं न माखन खात कबहूँ, देहौं देन लुटाय।
कबहूँ न दैहौं उराहनो जसुमति के आगे जाय॥
दौरि दाम न देहुँगी, लकुटी न जसुमति-पानि।
चोरी न देहुँ उघारि, किए औगुन न कहिहौं आनि॥

करिहौं न तुमसो मान हठ, हठिहौं न मांगत दान।
कहिहौं न मृदु मुरली बजावन, करन तुमसो गान॥
कहिहौं न चरनन देन जावक, गुहन बेनी फूल।
कहिहौं न करन सिंगार बट-तर, बसन यमुना-कूल॥
भुज भूषननयुत कंध धरिकै रास नृत्य न कराउँ।
हौं संकेत-निकुंज बास कै दूति मुख न बुलाउँ॥
एक बार जु दरस दिखवहु प्रीति-पथ बसाय।
चंवर करौं, चढाय आसन, नयन अंग-अंग लाय॥
देहु दरसन नंदनंदन मिलन ही की आस।
सूर प्रभु की कुंवर-छवि को भरत लोचन प्यास॥१६६॥

शब्दार्थ—दाम—रस्सी। पानि—हाथ। आनि—आकर। हठिहौं—न देने का हठ न करना। जावक—महावर। बट तर—बरगद के नीचे। संकेत—संकेत-स्थल। चढाय—बैठाकर।

व्याख्या—विलाप करती हुई राधा कहती है कि हे गोकुलनाथ कृष्ण, तुम फिर से आकर व्रज मे रहो। पहले जैसे मैं तुम्हे तग किया करती थी अब नहीं करूँगी। अब मैं तुम्हे जगाकर गायो के साथ नही भेजूँगी। मैं अब तुम्हे कभी भी माखन खाने से नही रोकूँगी। अब चाहे तुम खूब माखन लुटाना मैं कभी न रोकूंगी। मैं तुम्हारी शरारतो की शिकायत यशोदा के सम्मुख जाकर भी अब कभी नही करूँगी और तुम्हे पीटने के लिये उनके हाथ मे कभी रस्सी और छडी भी नही दूँगी। तुम्हारी चोरी का भेद भी मैं अब कभी नही खोलूँगी और तुम्हारे दूसरे अवगुणो के बारे मे भी मैं अब कभी कुछ न कहूँगी। मैं अब तुमसे कभी भी रूँठा भी नही करूँगी और कामकेलियो के लिये भी कभी कोई आनाकानी नही करूँगी। अपनी प्रसन्नता के लिए मुरली बजाने और गाने के लिये भी मैं अब तुमसे कभी न कहूँगी। अपने पैरो म महावर लगाने, वेणी गूंथने तथा वशीवट के नीचे बैठकर अथवा यमुना तट पर रहकर अपना शृगार करने के लिये भी मैं तुमसे कभी न कहूँगी। आभूपणो के भार से बोझिल भुजाओ को तुम्हारे कन्धो पर रखकर कभी भी रास मे नृत्य मैं तुमसे कभी नहीं कराऊँगी। पहले की भाति सकेत स्थल पर बैठकर दूती द्वारा तुम्हे बुलाने की उद्दण्डता भी मैं फिर कभी नही करूँगी। यदि एक बार भी तुम अब प्रेम-पथ म मुझे बसाकर दर्शन द दाग तो बस मैं फिर तुम्हे सिंहासन पर बैठाकर स्वय तुम्हारे ऊपर चवर ढलूँगी और इन नयनो स तुम्हारे अग-प्रत्यग का आलिंगन करूँगी। अत अब हे नद के पुत्र, तुम मुझे अब दर्शन द ही दो। तुम्हारे मिलने की मुझे अब भी पूरी आशा है। सूर के प्रभु कृष्ण की कुअर छवि के लिये आज भी ये नेत्र तृषित हैं।

विशेष—(१) राधा कृष्ण का कुअर रूप मे ही चाहती है, कही वे व्रज मे अपनी पत्नी कुब्जरानी सहित न आ जावें। सपत्नी के प्रति ईर्ष्यालु स्वभाव की कितनी सुन्दर व्यजना है।

(ii) राधा के कथन म प्रकारान्तर से कृष्ण की बाल-लीला का वर्णन

होने के कारण मुद्रा अलकार कहा जा सकता है तथा अतिम पक्ति मे साभिप्राय विशेषण होने से परिकर अलकार है।

कबहुँ सुधि करत गोपाल हमारी ?
पूछत नंद पिता ऊधो सों अरु जसुमति महतारी ॥
कबहुँ तौ चूक परी अनजानत, कह अबके पछितान ?
बासुदेव घर-भीतर आए हम अहीर नहि जाने ॥
पहिले गरग कह्यो हो हमसों, 'या देखे जनि भूलै'।
सूरदास स्वामी के बिछुरे राति-दिवस उर सूलै ॥१६७॥

शब्दार्थ—जनि—मत। गरग—मुनि का नाम। महतारी—माता।

व्याख्या—नन्द और यशोदा उद्धव से पूछते है कि क्या गोपाल कभी हमें भी स्मरण करते हैं? कभी न कभी अनजाने हमसे अवश्य भूल हो गई होगी अत वे यदि हमे याद भी न करते हो तो हमे पश्चात्ताप ही क्या है। जब वसुदेव कृष्ण को लेकर हमारे घर हमे सौपने आये थे तो गर्ग मुनि ने इनके ग्रह देखकर पहले ही कह दिया था कि इस पुत्र को देखकर नन्द! तुम किसी भुलावे मे मत पडो। यह तुम्हारा नही है और न तुम्हारे पास रहेगा। अत तुम इससे मोह मत करना। परन्तु हम ठहरे गवार अहीर! हम उनके कथन की यथार्थता मे विश्वास न कर सके और परिणामत आज सूर के स्वामी कृष्ण के बिछुड़ने से दिन-रात हृदय व्यथित है।

विशेष—श्री कृष्ण के जन्म के पश्चात् कस के हाथो से उनकी रक्षा करने के हेतु उनके पिता वसुदेव उन्हे नद के यहा दे आये थे और उनकी तुरन्त उत्पन्न हुई *कन्या* को ले आये थे।

भली बात सुनियत है आज।
कोऊ कमलनयन पठ्यो है तन बनाय अपनो सो साज ॥
बूझो सखा कहो कैसे कै, अब नाहीं कीवे कछु काज।
कस मारि बसुदेव गृह आने, उग्रसेन को दीनो राज ॥
राजा भए कहाँ है यह सुख, सुरभि-संग बन गोप-समाज ?
अब जो सूर करौ कोउ कोटिक नाहिन कान्ह कहत ब्रज आज ॥१६८॥

शब्दार्थ—पठ्यो—भेजा है। आने—लाये है। सुरभि—गाय। कोटिक—करोडो।

व्याख्या—गोपियाँ आपस मे कह रही हैं कि आज तो बडी सुखद सूचना सुनी जा रही है कि किसी को कमलनयन श्री कृष्ण ने अपना-सा रूप बनाकर भेजा है। चलो अब वहाँ चलें और उनसे पूछें कि हमारे प्रियवर कैसे हैं? अब हमें आज और कुछ काम तो करना ही नही है। उद्धव के पास जाकर पूछने पर पता चला कि कृष्ण ने कस को मार दिया है और अपने पिता को कारागार से मुक्त कराके घर ले आये हैं तथा उग्रसेन

को राज्य सौंप दिया है, पर वास्तविक राजा वे स्वय हो गये हैं। सूर कहते हैं कि गोपियों ने यह जानकर परस्पर कहा कि अब तो वे राजा हो गये। उन्हें अब वह सुख गौओं के साथ ग्वालों मे रहकर कैसे मिल सकता है। अब चाहे करोडों उपाय क्यों न कर लो, कृष्ण ब्रज मे नही आवेंगे।

विशेष—कस-वध कथा का प्रकारान्तर से इस पद में सकेतात्मक वर्णन है।

> ऊधो! हम आजु भई बडभागी।
> जैसे सुमन-गध लै आवतु पवन मधुप अनुरागी॥
> अति आनद बढ्यो अंग-अंग मैं, परै न यह सुख त्यागी।
> बिसरे सब दुख देखत तुमको स्यामसुंदर हम लागीं॥
> ज्यों दर्पन मधि दृग निरखत जहँ हाथ तहाँ नहि जाई।
> त्यों ही सूर हम मिली साँवरे बिरह-बिथा बिसराई॥१६६॥

शब्दार्थ—लागी—मिली। बडभागी—भाग्यशालिनी। मधि—मध्य।

व्याख्या—उद्धव के आगमन पर उनमे श्याम की प्रतिकृति देखकर गोपियाँ ऊधो से अपना हर्ष प्रकट करती हुई कहती हैं कि हे ऊधो, आज हम अत्यन्त भाग्यशालिनी हैं। जिस प्रकार पवन फूलों की सुगन्ध लाकर भौरों को अनुरक्त बना देता है, उसी प्रकार आपने हमारे प्रियतम की सूचना लाकर हमे इतना अनुरक्त बना दिया है कि हमारा अग-प्रत्यग आनन्द से फूला नही समा रहा है। आज इस प्रकार जो हमे सुख प्राप्त हो रहा है उसे हमसे त्यागा नही जाता। आज तुमको देखकर हम अपना सब दुख भूल गई है। ऐसा लग रहा है जैसे मानो हम अपने प्रियतम से ही मिल रही है। जिस प्रकार शीशे मे आँखों से दिखाई देने वाला प्रतिबिंब हाथों द्वारा नही पकडा जा सकता किन्तु तब भी आनन्ददायक होता है उसी प्रकार सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा है कि हे उद्धव, तुम्हारे रूप मे कृष्ण की प्रतिकृति देखकर हमे ऐसा लग रहा है कि जैसे हम श्याम से ही मिलकर अपनी विरह-व्यथा मिटा रही हैं।

विशेष—इस पद मे दृष्टान्त और गम्योत्प्रेक्षा अलकार है।

> पाति सखि! मधुबन तें आई।
> ऊधो-हाथ स्याम लिखि पठई, आय सुनो, री माई!
> अपने-अपने गृह तें दौरीं लै पाती उर लाई।
> नयनन नीर निरखि नहिं खडित, प्रेम न बिथा बुझाई॥
> कहा करौं सूनो यह गोकुल हरि बिनु कछु न सुहाई।
> सूरदास प्रभु कौन चूक तें स्याम सुरति बिसराई?॥१७०॥

शब्दार्थ—निरखि—देखकर। पाती—पत्र। मधुबन—मथुरा।

व्याख्या—उद्धव के आगमन पर गोपिया आपस मे कह रही हैं कि हे सखी, मथुरा से पत्र आया है। हमारे प्रियतम श्याम ने उद्धव के हाथों पत्र लिख कर भेजा है।

यह सुनकर सब अपने-अपने घर से दौडी और चिट्ठी लेकर हृदय से लगा ली। उसे देखकर उनके नेत्रो से अविराम अश्रुधारा बहने लगी। उसकी प्राप्ति से उनके हृदय में जो प्रेम की व्याकुलता या जागरण हुआ वह उन अविराम आसुओ से भी न शान्त हो सकी। सूर कहते हैं कि गोपियो ने आसु बहाकर और प्रेम से विह्वल होकर कहा कि क्या करें, कृष्ण के बिना यह गोकुल सूना है। उनके बिना हमे यहा कुछ भी अच्छा नही लगता। हाय ! पता नही हमसे ऐसा क्या अपराध हो गया जो श्याम ने हमे भुला दिया।

विशेष—(i) भेजे मनभावन के ऊधव के आवन की,
सुधि ब्रज-गाँवनि मैं पावन जबै लगीं।
कहै रत्नाकर गुवालिनि की झौरि-झौरि,
दौरि दौरि नन्द पौरि आवन तबै लगी।
उझकि उझकि पद कजनि के पंजनि पै,
पेखि-पेखि पाती छाती छोहनि छबै लगीं।
हमकौं लिख्यो है कहा, हमकौं लिख्यो है कहा,
हमकौं लिख्यो है कहा, कहन सबै लगीं।
(रत्नाकर)

(ii) आसुओ के बहते रहने पर भी व्यथा का शान्त न होना अर्थात् कारण सामग्री के होते हुए भी कार्य की अनुत्पत्ति होने के कारण इस पद मे विशेषोक्ति अलकार माना जायगा।

मधुकर ! भली सुमति मति खोई।
हाँसी होन लगी या ब्रज मे जोगै राखो गोई ॥
आतमराम लखावत डोलत घटघट व्यापक जोई।
चापे फाँस फिरत निर्गुन को, ह्याँ गाहक नाँहि कोई ॥
प्रेम-बिथा सोई पै जानै जापै बीती होई।
तू नीरस रातो कह जानै ? बूझि देखिबे ओई ॥
बडो दूत तू, बडे ठौर को, कहिये बुद्धि बडोई।
सूरदास पूरोपहि घटपद ! कहत फिरत है सोई ॥१७१॥

शब्दार्थ—गोई—छिपाना। पुरीष—मल। सुमति मति—अच्छी बुद्धि। पै—निश्चय।

व्याख्या—गोपियाँ भ्रमर को सम्बोधित करती हुई ऊधो से कहती है कि हे मधुकर, क्यो आप अपनी सुमति को नष्ट कर रहे हो ? आपकी बेढगी बातें सुनकर इस ब्रज मे आपकी हँसी उडने लगी है। अत उत्तम यही होगा कि आप अपने योग को छिपाये रखें। तुम योग के द्वारा अन्तर्यामी आत्मा के दर्शन करते फिरते हो और अपनी निर्गुण की पोटली काँख मे दबाये फिर रहे हो। किन्तु हम आपको बता दें कि यहाँ इनका कोई ग्राहक नही है। भुक्त-भोगी ही प्रेम की पीर के मर्म को जान सकता है।

तू तो नीरस है, तू प्रेम को क्या जाने ? तुम अपने आका श्री कृष्ण से ही पूछ देखना। तुम महान् दूत हो और बड़े ही स्थान से आए हो अत तुम्हारा ज्ञान बडा ही कहा जायगा। सूर कहते है कि गोपियो ने कहा कि चाहे कुछ हो पर जाति का प्रभाव कैसे जा सकता है ? तुम तो पट्पद हो अत मल के स्वाद की प्रशसा चारो ओर करते फिरते हो।

विशेष—इस पद मे अन्योक्ति अलकार है।

सुनियत ज्ञान कथा अलिगात।
जिहि मुख सुधा वेनुरवपूरित हरि प्रति छनहिं सुनात ॥
जहँ लीलारस सखी समाजहिं कहत कहत दिन जात।
बिधिना फेरि दियो सब देखत, तहँ पटपद समुझात ॥
विद्यमान रस रास लडैते कत मन इत अरुझात ?
रूपरहित कछु बस्त बदन तें मनि कोउ ठग भुरवात ॥
साधुवाद स्रुतिसार जानि कै उचित न मत बिसरात।
नंदनदन कर-कमलन की छवि मुख उर पर परसात ॥
एक एक तें सबै सयानी ब्रज सुदरि न सकात।
सूर स्याम रससिधु गामिनी नहिं वह दसा हिरात ॥१७४॥

शब्दार्थ—समुझात—समझाता है। भुरवात—भुलाता है। सकात—डरती है। गात—गाते हुए। सुनात—सुनाते थे। परसात—छाई है।

व्याख्या—अपने सुखदायक अतीत की दु खदायक वर्तमान से तुलना करती हुई गोपियाँ कहती है कि जिन्हे स्वय गोपाल अपने मुख के पीयूष प्रवाह से प्लावित वेणु का कलनाद प्रतिक्षण सुनाया करते थे उन्ही को आज इन भ्रमर महाशय से ज्ञान-कथा श्रवण करनी पड रही है। जहाँ पहल सखी समाज म गोपाल की सरस लीलाओ की चर्चा करते हुए दिन बीतता था वहा अब भाग्य का कुछ ऐसा चक्कर पडा कि ये भ्रमर महाशय हमे शिक्षा दे रहे हैं। अत हे ऊधो आपको यह ज्ञात होना चाहिये कि जब तक रास-रसिक कृष्ण विद्यमान हैं तब तक हमारा मन इधर निर्गुण की ओर कैसे फँस सकता है ? पता नहीं आप न जाने किसी रूपरहित के विषय मे क्या बकवास कर रहे हैं ? ऐसा लगता है कि जैसे कोई ठग किसी का माल ठगन के लिए भुलावा दे रहा हो। आपने निर्गुण को श्रेष्ठ और श्रुतिसम्मत समझते हुए भी हमे अपने मन से प्रियतम को भुलाना उचित नही है। हमारे प्रियतम कृष्ण के हस्त-कमलो की शोभा आज भी हमारे मुख और हृदय पर छाई पडी है। सूर कहते हैं कि उद्धव ने देखा कि ब्रज-सुन्दरियाँ एक से एक बढकर चतुर हैं। वे उनकी उक्तियो का तुरन्त उत्तर देती है, तनिक भी भय नही मानती। वे सब कृष्ण के प्रेम-समुद्र की ओर देख रही है और किसी भी प्रकार उनकी वह दशा वे विस्मृत नहीं कर पाती।

विशेष—इस पद मे रूपक अलकार है।

ऊधो ! इतनी कहियो जाय।
अति कृसगात भई हैं तुम बिनु बहुत दुखारी गाय॥
जल समूह बरसत अँखियन तें, हूँकत लीने नाँय।
जहाँ जहाँ गोदोहन करते ढूढत सोइ सोइ ठाँव॥
परति पछार खाय तेहि तेहि थल अति व्याकुल ह्वै दीन।
मानहुँ सूर काढ़ि डारे हैं बारि-मध्य ते मीन॥१७३॥

शब्दार्थ—हूँकत—हुँकार मारती हैं। कृसगात—दुर्बल। ठाँव—स्थान।

व्याख्या—गौओं की व्यथा का वर्णन करती हुई गोपियाँ कहती हैं कि हे ऊधो, तुम कृष्ण से जाकर कह देना कि तुम्हारे वियोग मे गायें बहुत दुःखी हैं और दुर्बल हो गई हैं। उनके नेत्रो से आँसुओ का समूह बहता रहता है और जहाँ कोई तुम्हारा नाम लेता है तो वे हुँकार मारती हैं। जहाँ-जहाँ तुमने इन गायो को दुहा था वही-वही जाकर वे तुम्हे खोजती हैं। जब तुम उन स्थानों पर इन्हे नहीं मिलते तो वे अत्यन्त व्याकुल और दीन होकर पछाड खाकर गिर पडती हैं। सूर कहते हैं कि गोपियो ने कहा कि कृष्ण के वियोग मे गायें इतनी व्याकुल हैं जैसे मानो वे जल से बाहर निकाल कर फेंकी हुई मीन हो।

विशेष—इस पद मे स्वभावोक्ति तथा वस्तुत्प्रेक्षालकार है।

ऊधो जोग सिखावन आए।
सिंघी, भस्म, अधारी, मुद्रा लै ब्रजनाथ पठाए॥
जौ पै जोग लिख्यो गोपिन को, कत रसरास खिलाए ?
तबहिं ज्ञान काहे न उपदेस्यो, अधर-सुधारस प्याए॥
मुरली-सब्द सुनत बन गवनति सुत पति गृह बिसराए।
सूरदास सँग छांडि स्याम को मनहिं रहे पछिताए॥१७४॥

शब्दार्थ—सिंघी—सींग का बाजा। कत—कैसे। गवनति—जाना। ब्रजनाथ—श्री कृष्ण।

व्याख्या—उलाहना देती हुई गोपियाँ कहती हैं कि ऊधो, आज आप यहाँ योग की शिक्षा देने आये हैं। आपका कहना है कि सिंघी, भस्म, अधारी और मुद्रा आदि योग के उपकरण लेकर आपको ब्रजनाथ ने यहाँ भेजा है। किन्तु तनिक यह तो सोचो कि यदि उन्होंने हमारे लिए योग लिखा था तो पहले हम सरस रास क्यो खिलवाया था ? हम उन्होंने उसी समय ज्ञान का उपदेश क्यो नही दिया ? यदि ऐसा ही करना था तो पहले अधरामृत पिलाकर उन्मत्त क्यो बना दिया था। उस समय हमे क्या मालूम था कि इस प्रकार हमारा पल्ला योग से पड़ेगा। उस समय तो हम मुरली का शब्द सुनते ही अपने पति, पुत्र और घर-द्वार सब त्याग कर चल देती थी। इतना होते हुए भी हम स्याम के साथ क्यो न चली गई, यह पछतावा हमारे मन मे रह गया।

विशेष—गोपियो का उलाहना बडा मधुर एव सरस है।

ऊधो ! लहनौ अपनो पैए ।
जो कुछ विधना रची सो भइए आन दोष न लगैए ॥
कहिए कहा जु कहत बनाई सोच हृदय पछितैए ।
कुब्जा वर पावैं मोहन सो, हमहीं जोग बतैए ॥
आज्ञा होय सोई तुम कहियो, विनती यहै सुनैए ।
सूरदास प्रभु-कृपा जानि जो दरसन सुधा पिवैए ॥१७५॥

शब्दार्थ—लहनौ—प्राप्य । वर—पति । पैए—प्राप्त करना।

व्याख्या—अपनी दीनता का निवेदन करती हुई गोपियाँ ऊधो से कहती हैं कि हे उद्धव, हम किसे दोष दें, हमें तो जो प्राप्त होना था वही प्राप्त हो रहा है। जो कुछ हमारे भाग्य में लिखा था सो हम भोग रही हैं। इसमें किसी दूसरे को दोष देने से क्या लाभ ? भाग्य की बात देखो कि कुब्जा को तो मोहन-सा सुन्दर पति मिला और हमें बताया जा रहा है यह योग का उपदेश । आप जो कुछ कह वही हमारा सन्देश समझ लेना किन्तु उन्हें हमारी यह प्रार्थना अवश्य सुना देना कि हे महाराज आपकी उन पर बड़ी कृपा होगी यदि आप उन्हें दर्शनामृत का पान करा दें ।

विशेष—कसम ले लो जो शिकवा हो तुम्हारी बेवफाई का ।
किये को अपने रोता हूँ, मुझे जी भर के रोने दो ॥

ऊधो ! कहा करैं लै पाती ?
जो लगि नाहिं गोपालहिं देखति बिरह दहति मेरी छाती ॥
निमिष एक मोहिं बिसरत नाहिन सरद-समय की राती ।
मन तो तबही तें हरि लीन्हो जब भयो मदन बराती ॥
पीर पराई कह तुम जानौ तुम तो स्याम-सघाती ।
सूरदास स्वामी सो तुम पुनि कहियो ठकुरसुहाती ॥१७६॥

शब्दार्थ—पाती—पत्र । दहति—जलना । निमिष—क्षण । सघाती—साथी । ठकुरसुहाती—खुशामद ।

व्याख्या—गोपियां ऊधो से कहती हैं कि हे ऊधो हम इस पत्र को लेकर क्या करेंगी ? जब तक हमें गोपाल का दर्शन नहीं होता तब तक हमारी छाती विरह से जलती ही रहेगी । हम तो एक क्षण के लिए भी जाड़े की उन रातों को नहीं भूल पाती जबकि हम उनके साथ रास रचाया करती थी । जब से युवावस्था के साथ मदन का आगमन हुआ है तभी से हमारा मन कृष्ण ने छीन लिया है । किन्तु तुम हमारी पीर को क्या समझ सकते हो, तुम ठहरे श्याम के सखा । खैर कुछ भी हो अब कृपा करके तुम उन सूर के स्वामी कृष्ण से हमारी ओर से खुशामद ही कर देना जिससे वे हमें दर्शन दे दें ।

विशेष—गोपियाँ कृष्ण की निष्ठुरता पर क्षुब्ध होती हुई भी ऊधो से उनकी खुशामद करने को ही कहती हैं । क्योंकि वे उन्हें अप्रसन्न करना नहीं चाहतीं । यदि वे

अप्रसन्न हो गए तो फिर वे दर्शन ही नहीं देंगे।

> ऊधो ! विरहौ प्रेम करै।
> ज्यो बिनु पुट पट गहै न रंगहि पुट गहे रसहि परै॥
> जौ आंवें घट दहत अनल तनु तौ पुनि अमिय भरै।
> जौ धरि बीज देह अंकुर चिरि तौ सत फरनि फरै॥
> जौ सर सहत सुभट सम्मुख रन तौ रबिरथहि सरै।
> सूर गोपाल प्रेम पथ-जल तें कोउ न दुखहि डरै॥१७७॥

शब्दार्थ—करै—उत्पन्न होता है। आंवें—आँवाँ जिसमे मिट्टी के बर्तन पकते है। सत—सैकडो। सरै—प्राप्त करता है।

व्याख्या—विरह की महत्ता बताती हुई गोपियाँ उद्धव से कहती है कि हे ऊधो, विरह से तो प्रेम और उत्पन्न होता है। जैसे बिना गर्म किये कपडे पर अच्छा रग नहीं चढ सकता उसी प्रकार विरह राग को सरस बनाता है। जिस प्रकार आँवाँ की अग्नि मे दग्ध होकर घडा शीतल जल का कारण बनता है, जिस प्रकार बडा आकार ग्रहण करने तथा सहस्रो फलो को देने के लिए पहले वृक्ष के अकुर को फट कर दो हो जाना आवश्यक है और जिस प्रकार सूर्य से भी ऊपर स्वर्ग मे रथ द्वारा जाने के लिए योद्धा को रणभूमि मे सामने से बाणो के प्रहार सहकर मरना होता है उसी प्रकार विरह के दारुण दु ख से सन्तप्त हो जाने पर ही प्रेम को सफलता प्राप्त होती है। सूर कहते है कि गोपियो ने कहा कि गोपाल के प्रेम-जल की अगाधता ही हमारा इष्ट है और वह अगाधता विरह द्वारा ही सम्भव है। अत हम जल की अगाधता और विरह किसी से भी नही डरती।

विशेष—(i) उदाहरण माला एव रूपक अलकार है।

> (ii) गल जाता लघु बीज असख्यक नश्वर बीज बनाने को।
> तजता पल्लव वृन्त पतन के हेतु नये विकसाने को॥
> (महादेवी वर्मा)

> ऊधो ! इतनी जाय कहो।
> सब बल्लभी कहति हरि सो ये दिन मधुपुरी रहो॥
> आज काल तुमहूँ देखत हौ तपत तरनि सम चद।
> सुदरस्याम परम कोमल तनु क्यों सहिहैं नँद नद॥
> मधुर मोर पिक परुष प्रबल अति बन उपबन चढि बोलत।
> सिंह वृपन सम गाय बच्छ ब्रज बीथिन बीथिन डोलत॥
> आसन असन, बसन विष अहि सम भूषन भवन भँडार।
> जित तित फिरत दुसह द्रुम द्रुम प्रति धनुष लए सत मार॥
> तुम तौ परम साधु कोमलमन जानत हौ सब रीति।
> सूर स्याम को क्यो बोलें ब्रज बिन टारे यह ईति॥१७८॥

शब्दार्थ—तरनि—सूर्य। परुष—कठोर। मार—कामदेव। बोलै—बुलावें। ईति—बाधा। वल्लभी—प्रेमिका। वृक—भेड़िया। बच्छ—बछड़े। असन—भोजन। बसन—वस्त्र। सत—सैंकड़ों।

व्याख्या—व्यंग्य द्वारा विरहानल के असह्य सन्ताप का वर्णन करती हुई गोपियाँ ऊधो से कहती हैं कि हे ऊधो, तुम उनसे जाकर इतना निवेदन कर देना कि तुम्हारी सब प्रियतमायें कहती हैं कि हमारे हरि का इन दिनों मथुरा में ही रहना ठीक है क्योंकि यहाँ आजकल चन्द्रमा भी सूर्य के समान सन्तापदायक बन रहा है और श्यामसुन्दर अत्यन्त कोमल कलेवर वाले हैं, वे इस सन्ताप को कैसे सहन कर सकेंगे। जो पिक और मयूर पहले बहुत मधुर बोलते थे, अब वे वन और उपवनों में वृक्षों पर चढ़कर बड़े कठोर रूप में बोल रहे हैं। ब्रज की गलियों में गाय और बछड़े शेर और भेड़ियों के सदृश उग्र वनचर घूम रहे हैं। निवास-स्थान, आसन, भोजनादि उपकरण विष सदृश प्रतीत हो रहे हैं तथा आभूषण, भण्डार और भवन सभी सर्प के समान दुःखदायक बन गये हैं। जिधर भी दृष्टि डालो उधर ही सैंकड़ों कामदेव पेड़ों पर बैठे धनुष-प्रहार कर रहे हैं। उद्धव, तुम तो बहुत सज्जन हो और तुम्हारा मन बहुत कोमल है तथा तुम सब रीतियों को जानते-पहचानते हो। तुम्हीं बताओ, व्रज से बिना इन उपद्रवों को दूर किये सूर के प्रभु श्याम को किस प्रकार बुलाया जाय?

विशेष—(i) ईति के छः प्रकार हैं—काल, अवर्षण, शलभा, ओला, मूषक, अतिवृष्टि।

(ii) गोपियाँ मना करती हुई भी एक प्रकार से कृष्ण को बुलाने का उपक्रम कर रही हैं। यहाँ अत्यन्त तिरस्कृत वाच्यध्वनि के चमत्कार द्वारा विपरीत अर्थ निकल रहा है।

जौ पै ऊधो! हिरदय माझ हरी।
तौ पै इती अवज्ञा उनपै कैसे सही परी?
तबहिं दवा द्रुम दहन न पाये, अब क्यों देह जरी?
सुन्दर स्याम निकसि उर तें हम सीतल क्यों न करी?
इन्द्र रिसाय बरस नयनन मग, घटत न एक घरी।
भीजत सीत भीत तन काँपत रहे, गिरि क्यों न धरी?
कर कंकन दर्पन लै दोऊ अब यहि अनख मरी।
एतो मान सूर सुनि योग जु बिरहिनि बिरह धरी॥१७१॥

शब्दार्थ—बरस—वर्षा करता है। कर—हाथ। एतो मान—इतना अधिक करने पर भी। दवा—दावानल। अनख—कुढ़न, क्रोध।

व्याख्या—उद्धव को उपालम्भ देती हुई गोपियाँ कहती हैं कि हे उद्धव, यदि तुम्हारे कथनानुसार कृष्ण सचमुच ही हमारे हृदय में हैं तो फिर वे हमारी इतनी अवहेलना कैसे कर रहे हैं? जब वे व्रज में थे तब तो यह दावानल यहाँ के वृक्षों को

भी न जला सका था और अब तो यह शरीर को भी जलाये डालता है। सुन्दर श्याम हमारे हृदय से बाहर निकल कर हम शीतलता प्रदान क्यो नही करते ? आज उनके विरह मे इन्द्र हम पर क्रोधित होकर हमारे नेत्रो के मार्ग से वर्षा करता हुआ एक क्षण के लिए भी नही रुकता और हम शीत मे भीगी जा रही हैं और भय से शरीर काँप रहा है, तब भी वे हृदय से बाहर आकर पहले की भाँति गिरि को धारण क्यो नही करते ? विरह के दारुण दु ख स जो हमारी दशा बन गई है वह जब हमे हाथ मे ककण और दर्पण लेने पर दिखाई देती है तब हम कुढन से और भी दु खी बन जाती हैं। सूर कहते है कि गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि यह सब होते हुए भी विरहिनियाँ याग के सम्मुख विरह को ही रखना पसन्द करेंगी।

विशेष—इस पद मे सूक्ष्म अलकार है।

ऊधो ! इतँ हितूकर रहियो।
या ब्रज के ब्योहार जिते हैं सब हरि सों कहियो॥
देखि जात अपनी इन आँखिन दावानल दहियो।
कहँ लौं कहौं बिथा अति लाजति यह मन को सहियो॥
कितो प्रहार करत मकरध्वज हृदय फारि चहियो।
यह तन नहिं जरि जात सूर प्रभु नयनन को बहियो॥१८०॥

शब्दार्थ—हितूकर—कृपालु। सहियो—सहना। मकरध्वज—कामदेव। बहियो—आँसुओ का प्रवाह।

व्याख्या—उद्धव से प्रार्थना करती हुई गोपियाँ कहती हैं कि हे ऊधो, हम लोगो पर कृपाभाव रखना और जितने भी ब्रज के व्यवहार आपने देखे हैं, इन सबको हरि से जाकर कह देना। इस विषय मे हम तुम्हें कुछ बतावें तो व्यर्थ होगा क्योकि विरह-दावानल के भीषण दाह और उसके प्रभाव को तुम स्वय अपने नेत्रों से देख रहे हो। इस विरह के दु ख को हम किस प्रकार सहन कर रही है बस हमी जानती हैं, उसके कहने मे हमे लज्जा आती है। कामदेव कितनी चोट करता है, हमारा तो हृदय फटा जाता है। सूर कहते हैं कि गोपियाँ कहती हैं कि इस भीषण दाह से हमारा शरीर जल कर भस्म अवश्य हो गया होता पर निरन्तर नेत्रो से आँसू प्रवाहित होने के कारण बचा हुआ है।

विशेष—यहाँ शरीर के बचे रहने का युक्तिपूर्वक उत्तर प्रस्तुत है अत काव्यलिंग अलकार है।

ऊधो ! यह ब्रज विरह बढ्यो।
घर बाहर सरिता, बन, उपवन बल्ली, द्रुमन चढ्यो॥
बासर-रैन सधूम भयानक दिसि दिसि तिमिर मढ्यो।
बूंद करत अति प्रबल होत पुर, पय सो अनल डढ्यो॥

जरि बिन होत भस्म छन महियाँ हा हरि, मंत्र पढ्यो।
सूरदास प्रभु नँद नदन बिनु नाहिन जात कढ्यो॥१८१॥

शब्दार्थ—पय—जल। अनल—अग्नि। रैन—रात। तिमिर—अँधेरा।

व्याख्या—विरह के व्यापक प्रभाव का वर्णन करती हुई गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हे उद्धव, इस ब्रज मे विरहानल अधिक मात्रा में बढ रहा है। इससे केवल हमारा शरीर ही दग्ध नही हो रहा है अपितु बढते-बढते यह घर-बाहर, नदी-वन तथा उपवनो की लता और वृक्षों तक पहुँच गया है। दिन-रात चारों ओर धुआँ भरा रहता है जिससे सब तरफ अन्धेरा रहता है जो बडा भयानक मालूम होता है। इस दाह ने सारे नगर मे बडी प्रचण्डता धारण कर रखी है। जिधर भी दृष्टि डालो उधर ही उसका द्वन्द्व मच रहा है। इतने भीषण दाह से, जो कि जल से भी उत्तरोत्तर बढता जाता है, क्षण-भर मे ही सब जल कर भस्म हो जाते किन्तु हुआ इसलिए नहीं है क्योंकि हम 'हरि-हरि' मन्त्र का जाप करती रहती हैं। इस मन्त्र के प्रभाव से यह सब जल कर भस्म होने से बच गया है। पर आखिर बकरे की माँ कब तक खैर मनायेगी ? वास्तविकता तो यह है कि सूर के स्वामी नन्दनदन के बिना इस भीषण दाह से उद्धार नही हो सकता।

विशेष—अतिशयोक्ति और काव्यलिंग अलकार है।

ऊधो ! तुम कहियो ऐसे गोकुल आवैं।
दिन दस रहे सो भली कीनी अब जनि गहरु लगावैं॥
तुम बिनु कछू न सुहाय प्रानपति कानन भवन न भावैं।
बाल बिलख, मुख गौ न चरत तृन, बछरनि छीर न प्यावैं॥
देखत अपनी आँखिन ऊधो, हम कहि कहा जनावैं।
सूर स्याम बिनु तपति रैन-दिनु हरिहिं मिले सचु पावैं॥१८२॥

शब्दार्थ—गहरु—देर। जनि—मत। बिलख—रोना। छीर—दूध।

व्याख्या—विरह की भीषणता का वर्णन करती हुई गोपिया उधो से कहती हैं कि हे ऊधो, तुम हमारी विरहावस्था का वर्णन इस प्रकार से करना कि श्री कृष्ण गोकुल चले आवें। थोडे दिन वहाँ भी रह लिये, अच्छा किया, पर देखो अब वे यहाँ आने मे देर न लगावें। हे प्राणपति ! तुम्हारे बिना हमें तो कुछ भी अच्छा नहीं लगता। न घर भाता है और न वन। हम तो हम, ये बच्चे भी बिलख रहे हैं। गौएं घास नही चरतीं और न अपने बछडो को दूध ही पिलाती हैं। ऊधो, यह सब तुम अपनी आँखो से देख रहे हो फिर हम तुमसे क्या कहें। सूर के श्याम के बिना तो दिन-रात दुःख ही दुःख है। इस दुःख को दूर करने का उपाय केवल हरि-मिलन ही है, और कुछ नहीं।

विशेष—इस पद में अतिशयोक्ति अलकार है।

ऊधो ! अब जो कान्ह न ऐहैं।
जिय जानौ अरु हृदय बिचारौ हम न इतो दुख सैहैं ॥
बूझो जाय कौन के ढोटा, का उत्तर तब दैहैं ?
खायो खेल्यो सग हमारे, ताको कहा बनैहैं ॥
गोकुलमनि मथुरा के बासी को लौं झूठो कैहैं।
अब हम लिखि पठवन चाहति हैं वहाँ पाँति नहिं पैहैं।
इन गैयन चरिबो छाँड्यो है जो नहिं लाल चरैहैं।
एते पै नहिं मिलत सूर प्रभु फिरि पाछे पछितैहैं ॥१८३॥

शब्दार्थ—ऐहैं—आये। कहा बनैहैं—कौनसी बात गढ लेंगे। पाँति—पक्ति।

व्याख्या—कृष्ण के लिए धमकी देती हुई गोपियाँ ऊधो से कहती है कि हे ऊधो, यदि इतने पर भी श्री कृष्ण न आये तो तुम्ही विचार करो और समझो कि हम इतना दुःख कैसे सहन कर सकेंगी ? कह देना कि हम उनकी सारी पोल खोलकर रख देंगी। उनसे जाकर तनिक पूछना तो सही कि वे किसके पुत्र हैं ? फिर देखना वे क्या उत्तर देते हैं ? उन्होने हमारे साथ खेला है और खाया है, इस बात से भला वे कैसे इन्कार कर सकेंगे ? वे गोकुल के मणि कहलाकर अब अपने को मथुरावासी कैसे कहेगे ? अब हम यह सब हाल लिखकर भेजना चाहती हैं। वहाँ क्या उन्हे हमारा पत्र नही मिलेगा ? देखो, इन गायो ने भी उनके चराने के अभाव मे घास चरना ही छोड दिया है। यदि इतने पर भी सूर के प्रभु न मिलें तो फिर समझ लो उन्हे बाद मे हाथ मलना ही पडेगा।

विशेष—इस पद मे अतिशयोक्ति अलकार है।

ऊधो ! हमैं दोउ कठिन परी।
जो जीवैं तो, सुन सठ ! ज्ञानी, तन तजैं रूपहरी ॥
गुन गावैं तो सुक सनकादिक, सग धावैं तौ लीला करी।
आसा अवधि सतोष धरैं तौ धार्मिक व्रज सुंदरी ॥
स्यामा हैं सब सुखी सुजाती पै सब बिरह-भरी ॥
सोक-सिंधु तरिबे को नौका जिहि मुख मुरलि धरी ॥
निसिदिन फिरत निरकुस अति वड मातो मदन-करी।
डाहैगो सब धाम सूर जो चितौ न वह केहरी ॥१८४॥

शब्दार्थ—रूपहरी—हरि का रूप। सुक—शुकदेव। स्यामा—युवती स्त्री। करी—हाथी।

व्याख्या—अपनी कठिनता का वर्णन करती हुई गोपियाँ कहती हैं कि हे ऊधो, हमारे लिए तो दोनो ओर कठिनता है। यदि हम जीना चाह तो आपके उपदेशानुसार ज्ञानी बन कर जीना पडेगा और यदि मौत का आलिगन करें तो सदा के लिए कृष्ण से वियोग हो जायगा। यदि हम उनके गुणो का गान करती रह तो शुकदेव तथा सनक-सनन्दन आदि महात्माओ के समान हो जायेंगी। यदि हम उनके सग दौडें तो यह एक

प्रकार की लीला बन जायगी। यदि हम सब आशा लगाये बैठी रहेंगी तो धार्मिक कहलायेंगी। हम सब सखियाँ कुलीन जाति की युवतियाँ हैं किन्तु सब विरह में जल रही हैं। जिन कृष्ण ने अपने मुख पर मुरली रखी थी, वही हमारे शोकसिन्धु के तरने के लिए नौका सदृश है। इस गोकुल में दिन-रात कामदेव रूपी हाथी मस्त होकर घूम रहा है। इस हाथी का दमन करने के लिए हरि रूपी सिंह ही समर्थ हो सकता है। यदि वह सिंह इधर नही आवेगा तो यह हाथी यहाँ सब कुछ नष्ट कर देगा।

विशेष—(i) शुकदेव व्यास जी के पुत्र थे। सत्व सिद्ध ज्ञानियो मे सर्वप्रथम मुनि थे।

(ii) अन्तिम पक्तियो मे परम्परित रूपक अलकार है।

> ऊधो! बहुत दिन गए चरनकमल-विमुखहो।
> दरसहीन, दुखित दीन, छन-छन बिपदा सही॥
> रजनी अति प्रमपीर, गृह बन मन धरं न धीर।
> बासर मग जोवत, उर सरिता बही नयन नीर॥
> आवन की अवधि-आस सोई गनि घटत स्वास।
> इतो बिरह बिरहिनि क्यों सहि सकं कह सूरदास?॥१८५॥

शब्दार्थ—रजनी—रात। बासर—दिन। जोवत—देखना।

व्याख्या—विरह की पीर का वर्णन करती हुई गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हे उद्धव, उन चरण-कमलो से विमुख हुए अब बहुत दिन हो गये। उनके दर्शनो से रहित हम लोग बहुत दुखी एव दीन है और क्षण-प्रतिक्षण विपत्तियाँ सहन कर रही हैं। रात्रि मे यह प्रेम-व्यथा बहुत बढ जाती है। न घर मे और न बन मे हमारे मन को कही भी धैर्य नही मिलता। दिन भर उनकी बाट देखा करती हैं। हृदय का प्रवाह उमड कर आँसुओ के रूप मे नयनो से प्रवाहित होता रहता है। दिन गिन-गिन कर आशा लगा-लगा कर अपने श्वास पूरे कर रही हैं। सूर कहते हैं कि गोपियो ने कहा कि भला इतनी कठिन विरह की वेदना हम विरहिणियो से कैसे सहन की जायगी?

विशेष—इस पद मे रूपक अलकार है।

> ऊधो! कहत क' कछ बनं।
> अधरामृत आस्वादिनी रसना कैसे जोग भनं?
> जेहि लोचन अवलोके नखसिख-सुदर नद तनं।
> ते लोचन क्यों जायँ और पथ लं पठए अपनं?
> रागनि राग तरग तान घन जे स्रुति मुरलि सुनं।
> ते स्रुति जोग-सँदेस कठिन कह काँकर मेलि हुनं॥
> सूरदास स्यामा मोहन के यह गुन बिबिध गुनं।
> कनकलता तें उपज न मुक्ता, षटपद! रग चुनं॥१८६॥

शब्दार्थ—भनै—कहा। रग धुनै—प्रयत्न करने पर भी। स्त्रुति—कान।

व्याख्या—अपनी विरह-दशा का वर्णन करती हुई गोपियाँ कहती हैं कि हे ऊधो, इस असाध्य दशा से छुटकारा पाने के लिए आप हमें योग की शिक्षा दे रहे हैं? आप तनिक सोचो तो सही कि प्रियतम के अधरामृत का स्वाद लेने वाली रसना योग की महिमा का गायन कैसे करेगी? जिन नेत्रो ने नखशिख-सुन्दर नन्दनन्दन श्री कृष्ण को देखा है वे अब और किसी मार्ग पर कैसे चल सकेंगे? आखिर उन्होंने ही इन्हे इस मार्ग पर चलने के लिए विवश किया था। जिन कानो ने मुरली की धुन मे अनेक राग-रागिनियों का श्रवण किया है उन कानो को कठोर योग के सन्देश की ककडियो से क्यो चोट पहुचा रहे हो? सूर कहते हैं कि युवतियाँ कृष्ण के अनेक प्रकार के गुणो पर मुग्ध होकर तथा खूब विचार करके ऊधो से कहने लगी कि अरे भौरे! खूब प्रयत्न करने पर भी स्वर्ण-लता से कभी मोती नही उपजता।

विशेष—जाथल कीन्हें बिहार अनेकन तायल कांकरी बैठ चुन्यो करैं।
जा रसना सो करी बहुबातन ता रसना सों चरित्र गुन्यो करैं।
आलम जौन से कुंजन मे करि केलि तहाँ अब सीस धुन्यो करैं।
नैननि मे जे सदा रहते तिनकी अब कान कहानी सुन्यो करैं।

ऊधो! इन नयनन नेम लियो।
नँदनंदन सो पतिब्रत बांध्यो, दरसत नाहिं बियो॥
इंदु चकोर, मेघ प्रति चातक जैसे धरन दियो।
तैसे ये लोचन गोपालै इकटक प्रेम पियो॥
ज्ञानकुसुम लै आए ऊधो! चपल न उचित कियो।
हरिमुख-कमल अमियरस सूरज चाहत वहै लियो॥१८७॥

शब्दार्थ—नेम—प्रतिज्ञा। बियो—दूसरा। इदु—चन्द्रमा। अमिय—अमृत।

व्याख्या—अपने प्रेम की दृढता का वर्णन करती हुई गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हे उद्धव, इन नेत्रो ने प्रतिज्ञा कर ली है। हमारे इन नेत्रो ने नन्दनन्दन से पतिव्रत धर्म बाँध लिया है अत इन्हें अब कोई दूसरा नहीं दिखाई देता। जिस प्रकार चन्द्रमा के प्रति चकोर और बादल के प्रति चातक दृढ प्रेम का निर्वाह करता है ठीक उसी प्रकार हमारे इन नेत्रो ने भी गोपाल से दृढ और ऐकान्तिक प्रेम कर लिया है। हे उद्धव, तुम अब इनके लिए ले आए हो ज्ञान का पुष्प। हे चपल, तुमने यह अच्छा नही किया। सूर कहते हैं कि गोपियो ने ऊधो से आग्रह सहित कहा कि हमारे नेत्र जो हरिमुख रूपी कमल के अमृत रस को लेना चाहते हैं तो उन्हे और कोई वस्तु अच्छी नहीं लगती।

विशेष—गहो प्रीति प्रतीत दृढ ज्यों रटत चातक मेहु।
बनो चारु चकोर पिय मुखचन्द्र छवि रस लेहु॥

(युगलप्रिया)

ऊधो ! ब्रजरिपु बहुरि जिए ।
जे हमरे कारन नँदनंदन हति हति दूरि किए ।।
निसि के बेष बकी है आवति अति डर करति सकंप हिए ।
तिन पय तें तन प्रान हमारे रवि ही छिनक छिनाय लिए ।।
बन वृकरूप, अघासुर समगृह, कितहू तौ न थिर्‍ै सकिए ।
कोटिक, कालीसम कालिंदी, दोवन सलिल न जात पिए ।।
अरु ऊँचे उच्छ्वास तृनाव्रत तिहि सुख सकल उड़ाय दिए ।
केसी सकल कर्म केसव बिन, सूर सरन काको तकिए ? ।।१८९।।

शब्दार्थ—बकी—पूतना । केसी—केशी नामक दैत्य । तृनाव्रत—तृणावर्त ।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हे ऊधो, ब्रज के शत्रु अब फिर से जीवित हो उठे हैं । जिन शत्रुओं को नन्दनन्दन ने हमारी रक्षा के लिए मार कर दूर कर दिया था वे ही ब्रज के शत्रु मानो आज फिर से जीवित होकर ब्रज को नष्ट किये दे रहे हैं । रात्रि के वेष में पूतना राक्षसी आती है जिसके भारी भय से हमारे हृदय काँप उठते हैं । उनके स्तन्य से नष्ट होते हुए हमारे प्राणों को मानो सूर्य ही क्षण भर के लिए छुडा लेता है । वन हमारे लिए बकासुर के और घर अघासुर के समान है अत कही भी हमारे लिए ठिकाना नही है । स्वय कालिन्दी करोडो कालिनाग के समान है । इन नागो के विष के कारण उसका जल भी अपेय हो गया है । हमारे ऊर्ध्वंस्वास तृणावर्त राक्षस के सदृश हो गये है जिससे हमारे सारे सुख समाप्त हो गये हैं । केशव के बिना सारे कार्य केशी राक्षस बन रहे हैं । सूर कहते हैं कि गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि तुम्ही बताओ, किसकी शरण खोजें ?

विशेष—(I) (क) बकासुर—पूतना राक्षसी का भाई था । बगुले का रूप धारण करके कृष्ण को मारने गया था । कृष्ण ने इसकी चोच फाड डाली थी ।

(ख) अघासुर—बकासुर का भाई था । यह अजगर का रूप धारण करके ब्रज मे गया था । कृष्ण ने इसे इसकी श्वाँस रोक कर मार डाला ।

(ग) तृनावर्त—यह भी एक राक्षस था जो एक बडे बवडर मे कृष्ण को ऊपर आकाश मे उठा ले गया था । कृष्ण ने ऊपर ही इसका गला घोटकर मार दिया था ।

(घ) केशी—यह घोडे के रूप का राक्षस था । कृष्ण ने अपनी भुजा इसके मुख मे डालकर इसे मार डाला था ।

(II) वैसे इस पद मे मुख्य रूप से उपमा और रूपक अलकार है किन्तु प्रकारान्तर से कृष्ण की बाल-लीला का वर्णन होने के कारण मुद्रालकार भी हो सकता है ।

ऊधो ! कहिए काहि सुनाए ?
हरि बिछुरत जेती सहियत है इते बिरह के घाए ।।
बरु माधव मधुवन ही रहते, कत जसुदा के आए ?
कत प्रभु गोप वेष ब्रज धारघो, कत ये सुख उपजाए ?

कत गिरिधारि-इंद्र-मद मेट्यौ, कत बन रास बनाए ?
अब कह निठुर भए हम ऊपर लिखि लिखि जोग पठाए ?
परम प्रबीन सबै जानत हौ, तातें यह कहि आए।
अपनी कौन कहै सुनु सूरज माता-पिता बिसराए ॥१८६॥

शब्दार्थ—घाए—घात। कत—क्यों। मेट्यौ—नष्ट किया।

व्याख्या—कृष्ण की निष्ठुरता की तीव्र आलोचना करती हुई गोपियाँ ऊधो से कहती हैं कि हे ऊधो, हम किसको कहे कि हम हरि से अलग होकर कितने विरह के घाव सहन कर रही हैं। अच्छा होता यदि माधव आरम्भ से ही मथुरा रहे होते। वे यशोदा के यहा व्यर्थ आये थे। उन्होने गोपवेष क्यो धारण किया और क्यो हमे नाना प्रकार के सुख दिये? इससे तो अच्छा यह था कि जब इन्द्र ने क्रुद्ध होकर व्रज को नष्ट करने के हेतु मूसलाधार वर्षा की थी तब वे इसे नष्ट हो जाने देते। उस समय गिरिवर को धारण कर उन्होंने इसे क्यो बचाया था तथा फिर वनो मे रास क्यो रचाये थे? पहले तो इतनी दयालुता दिखलाई और अब एकदम इतने निष्ठुर कैसे बन गये कि जो योग का पाठ लिख-लिखकर भेज रहे हैं? सूर कहते है कि गोपियो ने उद्धव से कहा कि बुद्धिमान के लिए इशारा ही काफी है। तुम अत्यन्त निपुण हो सब जानते हो अत हमारे लिए इतना ही कहना काफी है। अरे! हम अपनी क्या कहे, उन महाराज ने तो अपने माता-पिता तक को भुला दिया।

विशेष—जो रहीम करिबो हुतो ब्रज को यही हवाल।
तो कत मातहिं दुख दियो गिरिवर धर गोपाल ॥
(रहीम)

ऊधो! भली करी गोपाल।
आवुन तो आवत नाहीं ह्याँ, वहाँ रहें यहि काल ॥
चदन चद हुतो तब सीतल, कोकिल सब्द रसाल।
अब समीर पावक सम लागत, सब ब्रज उलटी चाल ॥
हार, चीर कचुकि, कटक भए, तरनि तिलक भए भाल।
सेज सिंह, गृह तिमिर-कदरा, सर्प सुमन मनि-माल ॥
हम तौ न्याय सहैं एतो दुख बनवासी जो ग्वाल।
सूरदास स्वामी सुखसागर भोगी भ्रमर भुवाल ॥१६०॥

शब्दार्थ—सरल—रसमय। तरनि—सूर्य। भुवाल—भूप।

व्याख्या—व्यग्य द्वारा कृष्ण-विरह की तीव्रता दिखाती हुई गोपियाँ ऊधो से कहती हैं कि हे उद्धव, गोपाल ने अच्छा ही किया जो आजकल वहाँ रह रहे हैं और यहाँ नहीं आ रहे हैं। अब वे यहाँ रहते थे तो चन्द्रमा और चन्दन ठडे थे और कोकिलो का शब्द मधुर था। परन्तु अब इनकी क्या कहे पवन भी हमे तो आग के समान लगता है। अब तो ब्रज मे सभी कार्य उल्ट हो रहे हैं। सुन्दर हार, वस्त्र और

चोलियाँ काँटों के समान दुःखदायी हैं तथा माथे पर लगा हुआ तिलक सूर्य के समान दाहक हो रहा है। शय्या सिंह भी भयावह, गृह अन्धी गुफा के समान तथा पुष्पों की माला और रत्नहार सर्पों के समान दुःखदायक बन गये हैं। इन सब कष्टों का सहन करना हमारे लिए तो न्यायसंगत है क्योंकि हम हैं वन में रहने वाले ग्वाले। परन्तु सूर के स्वामी श्री कृष्ण जो सुख के सागर हैं वे इतने कष्टों को क्यों सहन करेंगे ? वे तो विलासी भ्रमर के समान सुख और समृद्धि पर मँडराने वाले राजा ठहरे !

विशेष—प्रस्तुत पद में अतिशयोक्ति अलंकार है।

अपने मन सुरति करत रहिबी।
ऊधो ! इतनी बात स्याम सों समय पाय कहिबी॥
घोष बसत की चूक हमारी कछू न जिय गहिबी।
परम दीन जदुनाथ जानि कै गुन विचारि सहिबी॥
एकहि बार दयाल दरस दै बिरह-रासि दहिबी।
सूरदास प्रभु बहुत कहा कहौं बचन-लाज वहिबी॥१६१॥

शब्दार्थ—वहिबी—निर्वाह करना। रहिबी—रहें। कहिबी—कह देना।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि आप कृपा करके अवसर पाकर कृष्ण से कह देना कि वे मन से हमारी याद कर लिया करें और उनके ब्रज-निवास के समय जो कुछ हमारी भूलें हुई हैं, उन्हें अपने हृदय में न रखें। श्री कृष्ण जी हमें दीन जानकर हमारी यदि कोई भलाइयाँ हो तो उनके साथ उन भूलों को भी सहन कर लें। अब विरह की राशि में जलते हुए हमें वे दयालु एक बार दर्शन अवश्य दे दें। सूर के प्रभु श्याम के लिए और तो हम खैर क्या कहें कम से कम इतना तो कह ही देना कि कम से कम अपने वचनों का निर्वाह तो करें।

विशेष— नंद के फरजंद से अब जा कहो यों 'हरिविलास'।
अब तो वे बातें निबाहो कौल औ इकरार की॥

ऊधो ! नंदनदन सों इतनो कहियो।
जद्यपि ब्रज अनाथ करि छाँड्यो तदपि बार इक चित करि रहियो॥
तिनका तोर करौ जनि हमसों एक बास को लज्जा गहियो।
गुन-औगुनन रोष नहिं कीजत दासीनदासि कौ इतनो सहियो॥
तुम बिन स्याम कहा हम करिहैं यह अवलंब न सपने लहियो।
सूरदास प्रभु यह कहि पठई कहाँ जोग कहँ जोबन दहियो॥१६२॥

शब्दार्थ—तिनका-तोर—सम्बन्ध त्याग। दासनिदासि—दासो की दासी।

व्याख्या—प्रेम-निर्वाह की भिक्षा माँगती हुई गोपियाँ ऊधो से कहती हैं कि उद्धव, नन्दनन्दन से जाकर इतना कह देना कि यद्यपि आपने ब्रज को त्याग क

अनाथ कर दिया किन्तु तब भी अपने चित्त में हमारे लिए दया अवश्य रखना। हमसे अपना सम्बन्ध उन्हें बिल्कुल समाप्त न कर देना चाहिये, कम से कम एक स्थान पर एक साथ रहने की तो कुछ शर्म करें। हमारे गुण अथवा अवगुणों पर उन्हें इतना क्रोध नहीं करना चाहिये, अपने दासों की भी दासियों के दोषों को कम से कम इतना तो सहन कर ही लेना चाहिये। हे श्याम, तनिक सोचो तो! तुम्हारे बिना हम क्या करेंगी? कैसे रहेंगी? हम तो स्वप्न में भी कोई आश्रय नहीं मिल सकता। हमारा आश्रय तो आपका प्रेम ही है। किन्तु हे सूर के प्रभु श्याम, आपने यह क्या किया? आपने हमारे लिए योग भेजा है। तनिक सोचत तो सही, कहाँ तो योग और कहाँ विरह-व्यथा की यह दाह! दोनों में पृथ्वी और आकाश का अन्तर है।

विशेष— वह देखते हैं बेरुखी से देखते तो हैं।
मैं शाद हूँ कि हूँ तो किसी की निगाह में॥

ऊधो! हरि करि पठयत जेती।
जो मन हाथ हमारे होतो तौ कत सहत एती?
हृदय कठोर कुलिस हु तें अति तामे चेत अचेती।
तब उर बिच अचल नहिं सहती, अब जमुना की रेती॥
सूरदास प्रभु तुम्हरे मिलन को, सरन देहु अब सेंती।
बिन देखे मोहिं कल न परति है जाको स्तुति गावत है नेति॥१६३॥

शब्दार्थ—अब सेंती—अब से। अचेत—बेसुध अवस्था। रेती—बालू का मैदान।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि जितना कष्ट उठाकर हरि हमारे लिए यह सब कर रहे हैं, यदि मन हमारे वश में होता तो उनको इतना कष्ट क्यों होने देती? हमारे वज्र से भी अधिक कठोर हृदय की कुछ ऐसी बेसुध अवस्था रहती है कि न हम कुछ जान सकती हैं और न कुछ सोच सकती हैं। एक दिन तो वह था कि जब वे यहाँ थे तो उनके साथ आलिगन करते समय अचल का व्यवधान भी हम सहन नहीं था और एक दिन आज है कि हमारे और उनके बीच मीलों तक फैली हुई यमुना की रेती है। सूर के प्रभु श्याम से मिलन के लिए अब हम उन्हीं की शरण में जाती हैं। उन्हें छोड़कर और कोई यह मिलाप करा नहीं सकता। गोपी कहती है कि उन भगवान् कृष्ण को, जिनकी महिमा का गान वेद भी नहीं कर सके, बिना देखे अब मुझे चैन नहीं पड़ रहा है।

विशेष— हारो नारोपित कण्ठे मया विश्लेष भीरुणा।
इदानीमन्तरे जाता पर्वताः सरितो द्रुमा॥

ऊधो! यह हरि कहा करयो?
राजकाज चित दियो साँवरे, गोकुल क्यों बिसरयो?

जौ लौं घोष रहे तौ लौं हम सतत सेवा कीनी।
बारक कबहूँ उलूखल परसे, सोई मानि जिय लीनी॥
जौ तुम कोटि करौ ब्रजनायक बहुतै राजकुमारि।
तौ ये नंद पिता कहँ मिलिहैं अरु जसुमति महतारि?
कहँ गोधन, कहँ गोप-वृंद सब, कहँ गोरस को खैबो?
सूरदास अब सोई करौ जिहि होय कान्ह को ऐबो॥१६४॥

शब्दार्थ—चित दियो—मन लगाया। सतत—निरन्तर। ऐबो—आगमन।

व्याख्या—कृष्ण की निष्ठुरता पर प्रकाश डालती हुई गोपियाँ ऊधो से कहती हैं कि हे ऊधो, हरि ने यह क्या किया? मथुरा जाकर राज्य कार्य सभाल लिया यह तो खैर चलो ठीक किया किन्तु गोकुल को क्यों भुला दिया? वहाँ राज्य भी करते रहते और यहाँ की भी सुध रखते तो इसमें हानि क्या थी? जब तक वे यहाँ रहे, हमने तो सदैव उनकी सेवा ही की थी। हाँ एक बार उन्हें उखली से अवश्य बाँध दिया था, कहीं उन्होंने यही गाँठ अपने मन में न बना ली हो। खैर वे जो कुछ कर रहे हैं ठीक है किन्तु इतना हम अवश्य कहे देती हैं तुम जाकर उनसे कह देना कि उन्हें राजदुलारियाँ तो बहुत मिल जायेंगी किन्तु नंद जैसा पिता और यशोदा जैसी माता भला कहाँ मिल सकेगी? इतना ही नहीं ये गायें, यह ग्वालों की टोली और यह दूध-दही की छाक और कहाँ रखी है? कुछ भी सही, गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि अब आप कृपा करके वही कार्य करो जिससे कृष्ण ब्रज में आ जावें।

विशेष—नंद जैसा पिता और यशोदा जैसी माता, ब्रज जैसी गायें, ग्वालों की टोली तथा दूध दही कृष्ण को मथुरा में नहीं मिल सकते—यह कहकर गोपियों ने बड़ा मीठा उलाहना दिया है।

ऊधो! ऐसो काम न कीजै।
एक रंग कारे तुम दोऊ घोष सेत क्यों कीजै?
फेरि फेरि कै दुख अवगाहैं हम सब करी अचेत।
कत पटपर गोता मारत हौ निरे भूँड के खेत॥
तरपट कोट कोटकुल जनमे, कहा भलाई जानै?
फौरत बाँस-गाँठि दाँतन सों बार बार ललचानै॥
छाँडि कमल सों हेतु आपनो तू कत मनउहि जाय?
लपट, ढीठ, बहुत अपराधी कैसे मन पतिआय?
यहै जु बात कहति हौं तुमसों फिरि मति कबहुँ आवहु।
एक बार समुझावहु सूरज अपनो ज्ञान सिखावहु॥१६५॥

शब्दार्थ—अवगाहैं—दुख में डूबना। पटपर—मैदान। भूँड—भूर। तरपट—अतर। कोट—बाँस की कोठी।

व्याख्या—प्रकारान्तर से कृष्ण के लिए ब्रजागमन के लिए कहती हुई गोपियाँ

ऊधो से कहती हैं कि हे उद्धव, तुम्हे ऐसा कार्य नही करना चाहिये। तुम तो दोनो ही काले हो, धोकर श्वेत कैसे किये जा सकते हो? तुम्हारी अटपटी बातो को बार-बार सुनकर हम सब दुःख मे इतनी निमग्न हो गई हैं कि अब तो अचेत भी हो गई हैं। हम नही जानती कि आप इस भूर के खेत मे क्यो गोता लगा रहे हैं? वास्तव मे बाँसों के कोठे के अन्दर कीडो के कुल मे जन्म लेने वाले भौंरे लोग भलाई को क्या जाने? हे भौंरे, तू ही देख कि तू स्वय ललचाकर अपने दाँतो से बार-बार बाँसो की गाँठ फोडता है, पर कमल मे बन्द होकर उसके प्रेम के कारण उसे काट कर बन्धन से मुक्त होकर तू ही भला और वही क्यो नही चला जाता? तू इतना लपट, उदण्ड और दोपी है कि हमारा मन तुझ पर विश्वास कर ही नही सकता। इसीलिए हम आपसे कई बार कह चुकी कि आप इस कार्य के लिए कभी न आवें। सूर के श्याम से जाकर कह दो कि यदि उन्हे योग सिखाना ही है तो वे स्वय अपने ज्ञान के पाठ को यहा आकर पढा जावें।

विशेष—अन्योक्ति अलकार की छटा दृष्टव्य है।

ऊधो! औरे क्या कहौ।
तजि जत, ज्ञान सुने तावत तनु, बरु गहि मौन रहौं॥
जाके बिच राजत मन-परबत स्याम सूल-अनुरागी।
तापै रतिद्रुम रीति नयनजल सींचत निसदिन जागी॥
ग्रीषम अलि आए प्रगट्यो ब्रज, कठिन जोग-रवि हेरे।
सो मुरझात सूर को राखै मेह-नेह बिन तेरे? ॥१९६॥

शब्दार्थ—तावत—तपाता है। रीति—खाली। औरे—और।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हे उद्धव, तुम अब हमसे कुछ और बातें करो। कीर्ति को खाने वाले ज्ञान के उपदेश को बार-बार देकर तो तुम हमारे शरीर को जलाये दे रहे हो। इससे तो अच्छा यही होगा कि तुम किसी भी प्रकार की बातें ही हमसे न करो, मौन धारण कर लो। जिन व्रजवासियों का मन श्याम के प्रति प्रेम की पीर का अनुराग लेकर पहाड के समान अचल है तथा उस पर स्थित रति के वृक्ष के लिए जिसे अपने नयनाश्रुओं से सींचकर दिन-रात जाग कर हरा-भरा रखते हैं आज भौंरे का रूप लिए ग्रीष्म के रूप मे यह व्रज मे प्रकट हुआ है और इस ग्रीष्म मे इस योग रूपी सूर्य को देखकर तो यह वृक्ष और भी अधिक सूख गया है। सूर कहते हैं कि गोपियाँ व्यथित होकर कहती हैं कि उस मुरझाते हुए रति-वृक्ष को श्री कृष्ण के स्नेह के मेह के बिना और कौन बचा सकता है?

विशेष—सागरूपक अलकार दर्शनीय है।

ऊधो! साँच कहौ हम आगे।
घर मे कहा बचै कछु ताके प्रकट आगि के लागे॥

जा दिन तें गोपाल सिधारे स्वास अनल तन जारयो।
ऋषि-हिरदय मुखचंद मुग्ध भयो काढ़ि चाहि दै डारयो।।
एते पै तोहिं सूझत नाहिन, जोग सिखावन आयो।
फिरि लै जाहु सूर के प्रभु पै जिहि है यहाँ पठायो।।१६७।।

शब्दार्थ—आगे—सामने। जारयो—जला दिया। ऋषि—सीधा-सादा।

व्याख्या—योग का अनौचित्य बताती हुई गोपियाँ उद्धव से प्रश्न करती कि देखो तुम हमारे सम्मुख सच सच बताना कि यदि घर में आग लग जावे तो क्य बचा जा सकता है? जिस दिन से कृष्ण ब्रज से सिधारे हैं हमारे सासों का अनल हमा शरीरों को भस्म किये डालता है। हमारा सीधा-सादा हृदय जिस समय उनके मुख चन्द्र पर मुग्ध हुआ था तो उसी दिन हमने अपने हृदय को निकाल कर उन्हें दे दिय था। अब उसकी अनुपस्थिति में तम विवेक से काम न लेकर हमें योग सिखाने के लिए आ गये। जिसके पास हृदय ही नहीं वह आपके योग को कहाँ रखेगा? अत हमारी आपसे यही प्रार्थना है कि इस योग को आप कृपा करके उन्हीं सूर के प्रभु गोपाल के पास ले जावें जिन्होंने इसे हमारे लिए भेजा है।

विशेष—स्वास-अनल और मुखचंद में निरग रूपक अलंकार है।

ऊधो! सब स्वारथ के लोग।
आपुन केलि करत कुब्जा-सग, हमहिं सिखावन जोग।।
भ्रमि वन जात सांवरी मूरति नित देखहिं वह रूप।
अब रस-रास पुलिन जमुना के करत लाज, भए भूप।।
अनुदिन नयन निमेष न लागत, भयो विरह अति रोग।
मिलवहु कान्ह कुमार अस्विनी मिटै सूर सब रोग।।१६८।।

शब्दार्थ—पुलिन—तट। कुमार अस्विनी—देवताओं के वैद्य। निमेष—पलक।

व्याख्या—योगोपदेश पर व्यंग्य करती हुई गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हे ऊधो, सभी लोग अपनी-अपनी स्वार्थसिद्धि मे लगे हुए हैं। देखो तो सही! वे महाराज स्वय तो कुब्जा के साथ रगरेलियों में लगे हुए हैं और हमें योग की शिक्षा दे रहे हैं। पर हमारी दशा भी बड़ी विचित्र है। कभी-कभी भ्रमण करते हुए जब हम वन मे निकल जाती हैं तो उसी श्यामल मूर्ति का रूप दिखाई देता है। किन्तु उन्हें तो अब इस यमुना की रेती में रास रचाने मे शर्म लगती है। हो भी क्यों न, अब तो वे राजा बन गये हैं न! हम तो प्रतिदिन उनकी राह देखती रहती हैं, नयनों के पलक कभी बन्द ही नहीं होते। विरह का रोग असाध्य बन चुका है। अतः सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा, इस असाध्य रोग के इलाज के लिए तुम कृष्णकुमार रूपी अश्विनीकुमार (वैद्य) को यहाँ भेज दो जिससे हमारे सारे रोग समाप्त हो जाएँ।

विशेष—गोपियों की पीर मीराबाई जैसी पीर ही है—
'मीरा के प्रभु पीर मिटै जब वैद सांवलिया होय।'

ऊधो ! दीनी प्रीति-दिनाई।
बातनि सुहृद, करम कपटी के, चले चोर की हाई ।।
बिरह-बीज बघवार सलिल मानों अधर-माधुरी प्याई।
सो है जाय-लगी अंतर्गत, औषधि बल न बसाई ।।
गरल-दान दीनो है नीको, याको नहीं उपाय।
कै मारै, कै काज सरै, यह दुख देख्यो नहिं जाय ।।
कहि मारै सो सूर कहावै, मित्रद्रोह न भलाई।
सूरदास ऐसे, अलि, जग मे तिनकी गति नहिं काई ।।१६६।।

शब्दार्थ—दिनाई—विष-प्रयोग की वस्तु। हाई—घात। बघवार—बाघ की मूंछ के बाल जो विष माने जाते हैं। लगी—चुभी। काई—कभी। बिरह-बीज—विरह-मय। सरै—हो।

व्याख्या—कृष्ण की निष्ठुरता पर व्यंग्य करती हुई गोपियाँ उद्धव के सम्मुख अपनी विरह-वेदना प्रगट करती हुई कहती हैं कि हे ऊधो, श्री कृष्ण जी ने हमारे साथ बहुत बुरा व्यवहार किया है। उन्होंने हमें प्रेम-प्याले के स्थान पर विष का प्याला पिलाया है। हमें तो पहले से ज्ञात नहीं था कि ये मधुर वचन बोलने वाले श्याम कर्म के कपटी हैं। हमें विष देकर हमारा सर्वस्व चुरा कर चोर के समान यहाँ से निकल गये। अधरामृत की मधुरता मे विरह-व्यथा के बीज रूप बाघ की मूंछों के बाल शायद हमे घोलकर पिला दिये हैं। उसका प्रभाव भीतर तक पहुँच गया है और किसी दवा मे वह शक्ति नही है जो उसे कुछ सभाल सके। इस विष का प्रभाव भी कुछ अनोखा ही है, इससे न मरते हैं और न जीने योग्य रहते हैं। अब या तो हम मर जावें या हमारा मन चाहा हो जावे तब काम बने। यह दुख अब हमसे देखा नहीं जाता। सूर कहते हैं कि गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि देखो, जो चेतावनी देकर मारते हैं वे शूरवीर कहलाते हैं किन्तु जो मित्र बन द्रोह करते हैं उनका कभी भला नही हो सकता। श्री कृष्ण ने मित्रता करके हमे धोखा दिया है। यह शूरवीरता नही, यह तो एक भयङ्कर पाप है।

विशेष—(i) मित्रद्रोही कृतघ्नश्च यश्च विश्वासघातक·।
ते नए नरक यान्ति यावच्चन्द्र दिवाकरौ ।। (नीतिशास्त्र)
(ii) इस पद मे रूपक अलकार है।

ऊधो ! जो हरि आवैं तो प्रान रहैं।
आवत, जात, उलटि फिरि बैठत जीवन अवधि गहै ।।

जब है दाम उखल सों बांधे बदन नवाय रहे।
चुभि जु रही नवनीत-चोर-छबि, क्यों भूलति सो ज्ञान गहे ?
तिनसों ऐसी क्यों कहि आवं जे कुल-पति की त्रास महे ?
सूर स्याम गुन-रसनिधि तजि कै को घटनीर बहे ? ॥२००॥

शब्दार्थ—महे—मथ डाला। है—ये। दाम—रस्सी। पति— प्रतिष्ठा। रस निधि—आनन्द के सागर।

व्याख्या—विरह-व्यथा को दूर करने का एकमात्र उपाय श्री कृष्ण-मिलन को बताती हुई गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि अब तो श्री कृष्ण के आने से ही हमारे प्राण बच सकते हैं अन्यथा नहीं बच सकते। उनकी विरह-व्यथा से व्याकुल ये प्राण बार-बार उछलते-डूबते रहते हैं। कभी निकलते हैं और कभी फिर घट में आ जाते हैं और जीवन-अवधि का आश्रय लेकर टिक जाते हैं। हा ! जब हमने उन्हें ऊखल से बाँधा था तो बेचारे कैसा मुँह लटकाये हुए खड़े थे। वह तथा उनकी माखन चुराने के समय की जो मुद्रा थी उसकी शोभा आज भी मन में चुभी हुई है। ये अद्भुत शोभाएं ज्ञान को अपनाकर कैसे विस्मृत की जा सकती हैं ? परन्तु हाय ! उन्होंने इस पर विचार न करके यह ज्ञान हमारे लिए भेज दिया। जिन श्री कृष्ण के लिए हमने अपने कुल की प्रतिष्ठा को त्याग दिया उन्होंने हमारे लिए ऐसी बातें क्यों कह दी ? सूर कहते हैं कि गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि उद्धव, तनिक सोचो तो सही गुणों के रस-सागर श्याम को छोड़कर घड़े के जल को भला कौन पीना चाहेगा ?

विशेष—(i) इस पद में रूपक अलंकार है।

(ii) सूर के अनुसार श्री कृष्ण की भक्ति वह है जिसे उपनिषदों में भूमा कहा है—

यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखंभूमात्वेव विजिज्ञासितव्य इति
(छान्दोग्य उपनिषद्)

ऊधो ! यह निस्चय हम जानों।
खोयो गयो नेह-नग उनपै, प्रीति-कोठरी भई पुरानी॥
पहिले अधर-सुधा करि सींची, दियो पोष बहु लाड़-लड़ानी।
बहुरं खेल कियो केसव-सिसु-गृहरचना ज्यों चलत बुझानी॥
ऐसे ही परतीति दिखाई पन्नग केंचुरि ज्यों लपटानी।
बहुरो सुरति लई नहि जैसे भवर लता त्यागत कुम्हिलानी॥
बहुरगी जहँ जाय तहाँ सुख, एक रंग दुख देह दहानी।
सूरदास पसु धनी चोर के खायो चाहत दाना पानी॥२०१॥

शब्दार्थ—नेह-नग—प्रेम रूपी रत्न। बुझानी—समझ में आ गई। दहानी—जल गई। पन्नग—सर्प।

व्याख्या—अपने प्रेम की दृढ़ता तथा श्री कृष्ण के प्रेम की कृत्रिमता का वर्णन करती हुई गोपियाँ ऊधो से कहती हैं कि अब हमें यह निश्चय हो चुका है कि कृष्ण से

स्नेह का हीरा खो गया है और यह प्रीति की कोठरी जिसमें वे आज तक रहे थे, पुरानी हो गई थी। अतः वे नई प्रीति-कोठरी की खोज में थे जो उन्हें अब प्राप्त हो गई। यदि ऐसा न होता तो वे भला उस प्रेम को कैसे विस्मृत कर देते जिसे उन्होने अधरामृत से सींचकर बड़े लाड-प्यार के साथ पाला था। वस्तुतः श्री कृष्ण ने उस प्रेम-सृष्टि को बच्चों के खेल के घरौंदे के समान समझकर उसे मिटा दिया और एक नये मार्ग पर चल दिये। उनकी प्रीति तो साँप की केंचुली के समान रही। जिस प्रकार सर्प पहले तो केंचुली को अपने शरीर से लगाये रहता है किन्तु पुरानी होने पर उसे छोड़ देता है उसी प्रकार कृष्ण पहले तो प्रेम करते रहे किन्तु जब वह प्रेम पुराना हो चला तो छोड़ भागे! जिस प्रकार कुम्हलायी हुई लताओं को छोड़कर भौंरा भाग जाता है उसी प्रकार इस पुरातन प्रीति को कृष्ण छोड़कर चलते बने! वस्तुतः बात यह है कि बहुरंगी लोग तो जहाँ भी जाते हैं वहीं सुखी रहते हैं, दुःख तो एकरंगी अर्थात् ऐकान्तिक प्रेम करने वालों को होता है जिनका शरीर प्रेमी के विरह मे जलता ही रहता है। सूर कहते हैं कि गोपियो ने उद्धव से कहा कि कृष्ण का यह व्यवहार पशुओं जैसा है क्योंकि पशु धनी चोर के यहाँ जाकर दाना-पानी खाकर सन्तोष का अनुभव करता रहता है।

विशेष—इस पद में रूपक, उपमा और अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

ऊधो! हम हैं तुम्हारी दासी।
काहे को कटु वचन कहत हो, करत आपनी हाँसी॥
हमारे गुनहि गाँठ किन बाँध्यो, हम पै कहा विचार?
जैसी तुम कीनी सो सब ही जानतु है संसार॥
जो कछु भली बुरी तुम कहिहौ सो सब हम सहि लैहैं।
अपनो कियो आप भुगतैंगी दोष न काहू दैहैं॥
तुम तौ बड़े, बड़े के पठए, अरु सबके सरदार।
यह दुख भयो सूर के प्रभु सुनि कहत लगावन छार॥२०२॥

शब्दार्थ—हाँसी—हँसी। गाँठि बाँधना—ग्रहण कर लेना। छार—राख।

व्याख्या—योगोपदेश पर खेद प्रकट करती हुई गोपियाँ ऊधो से कहती हैं कि हे उद्धव, हम तो आपकी दासी हैं। हम को कटु वचन सुनाकर व्यर्थ मे अपनी हँसी कराते हो। आपने हमारे गुणो को गाँठ मे क्यों नहीं बाँधा अर्थात् हमारे गुणो पर विचार क्यो नहीं किया? आपने हमारे कथन को न मानकर जो कुछ किया है उसे आज यह समस्त संसार जान रहा है। किन्तु जो कुछ भी हो हम तो, आप जो कुछ भी भला-बुरा कहेंगे, सब सहन ही कर लेंगी। अपने कर्म का फल हम अपने-आप भुगतेंगी किसीको उसका दोष नहीं देंगी। आप स्वयं बड़े हैं और फिर उन बड़ों के भेजे हुए हैं जो सबके सरदार हैं तो फिर आप पर दोष लगाया भी कैसे जा सकता है? हाँ, इतनी बात अवश्य है कि सूर के प्रभु श्याम ने जो हमे राख पोतने को कहा है तो क्या हम

उनकी आँखों में अब इतनी गिर गई हैं। इससे हमें बहुत दुःख हुआ है।

विशेष—चोप करि चन्दन चढ़ायो जिन अंगनि पै।
तिन पै बजाइ तूरि धूरि धरिबो कहौ॥ (रत्नाकर)

ऊधो! तुम जो कहत हरि हृदय रहत हैं।
कैसे होय प्रतीति क्रूर सुनि ये बातें जु सहत हैं॥
बासर-रैनि कठिन बिरहानल अंतर प्रान दहत है।
प्रजरि प्रजरि पचि निकसि धूम अब नयनन नीर बहत है॥
अधिक अवज्ञा होत, देह दुख मर्यादा न गहत है।
कहि! क्यों मन मानै सूरज प्रभु इन बातनि जु कहत है॥२०३॥

शब्दार्थ—प्रजरि—सुलगकर। अवज्ञा—अनादर। धूम—धुआँ।

व्याख्या—कृष्ण के अन्तर्यामी होने पर व्यंग्य करती हुई गोपियाँ उद्धव से कहर हैं कि हे उद्धव, तुम जो कहते हो कि हरि हृदय मे निवास करते है, हम उस प कैसे विश्वास कर लें? क्या वे इतने क्रूर हैं कि हृदय मे बैठे बैठे इन बातो को सुन र हैं और तनिक भी नहीं पिघलते। दिन-रात कठोर विरहानल भीतर ही भीतर प्राण को जलाये डाल रहा है और जब प्राण भीतर सुलगते हैं तो कष्टदायक धुआँ उठता है जिससे नेत्रों से आँसू निकल आते हैं। यदि वे हमारी ऐसी दशा को देखकर भी चुपचाप भीतर बैठे हैं तो फिर यह तो बड़ी भारी अवज्ञा है। इन बातो को देखकर हे ऊधो हमारा मन यह विश्वास कैसे कर सकता है कि सूर के प्रभु कृष्ण अन्तर्यामी हैं।

विशेष—ठीक ऐसी ही बात सूर ने एक पद मे और भी कही है—
जो पै ऊधो! हिरदय माँझ हरी
तो पै इती अवज्ञा उन पै कैसे सही परी?

ऊधो! तुमहीं हौ सब जान।
हमको सोई सिखावन दीजै नंदसुवन की आन॥
आमिष भोजन हित है जाके सो क्यों साग प्रमान।
ता मुख सेमि पात क्यों भावत जा मुख खाए पान?
किंगिरी-सुर कैसे सचु मानत सुनि मुरली को गान?
ता भीतर क्यों निर्गुण आवत जा उर स्याम सुजान?
हम बिन स्याम वियोगिनि रहि हैं जब लग यहि घट प्रान।
सुख ता दिन तें होय सूर प्रभु ब्रज आवें ब्रजभान॥२०४॥

शब्दार्थ—जान—सुजान, चतुर। आन—शपथ। आमिष—माँस। हित—प्रिय। किंगिरी—छोटी सारंगी। सुर—ध्वनि। लग—तक। ब्रजभान—कृष्ण।

व्याख्या—ऊधो जी को मनाती हुई गोपियाँ कहती हैं कि हे ऊधो, तुम तो सब जानते हो! तुम्हें नन्दनन्दन की शपथ है। तुम हमें वही शिक्षा दो जो हमारे लिए

चित एव हितकारी हो। तुम्ही सोचो जिसे मांस-भोजन प्रिय लगता है वह शाक
ो खाना कहाँ तक पसन्द करेगा ? जिस मुख ने पान चबाये हो, भला उसे सेम के पत्ते
से अच्छे लग सकते हैं ? मुरली के मधुर गीतों को सुनने वालो को सारंगी सुनकर
न्तोष कैसे हो सकता है ? जिस हृदय मे चतुर स्याम निवास करते हैं उसमे भला
नेर्गुण कैसे आ सकता है ? अतः हे ऊधो, जब तक हमारे शरीर मे प्राण हैं हम
बेना श्याम के इस प्रकार ही वियोगिनी बनी रहेंगी। हमे तो सुख उसी दिन प्राप्त होगा
जब ब्रज मे सूर के प्रभु व्रजभानु श्री कृष्ण आवेंगे।

विशेष—इस पद मे प्रतिवस्तुपमा अलंकार है।

ऊधो ! यहै विचार गहौ।
कै तन गए भलो मानें, कै हरि ब्रज आय रहौ।।
कानन-देह बिरह-दव लागी इन्द्रिय-जीव जरौ।
बुझै स्याम-घन कमल-प्रेम मुख मुरली-बूंद परौ।।
चरन-सरोवर-मनस मीन-मन रहै एक रस रीति।
तुम निर्गुन बारु मेंह डारौ, सूर कौन यह नीति ?।।२०५।।

शब्दार्थ—सरोवर-मनस—मानसरोवर। गहौ—ग्रहण कर लो। दव—दावानल।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से निवेदन करती हुई कहती हैं कि ऊधो, तुम हमारे इस विचार को ग्रहण कर लो। हमारा हित तो बस इसी मे है कि या तो उनके वियोग मे यह शरीर मिट जावे या फिर हरि ब्रज मे आकर रहने लगें। हमारे शरीर रूपी वन मे विरह के दावानल के लगने से ये इन्द्रिय रूपी जीव जलने लगें तो फिर ये उस श्यामघन के आने पर ही शान्त हो सकेंगे, जब वे अपने मुख-कमल से प्रेमपूर्वक मुरली बजाकर माधुरी की बूंदें बरसावेंगे। हमारे मन रूपी मछलियाँ सदैव उन्हींके चरण रूपी मानसरोवर में प्रेमसहित निवास करती हैं। परन्तु हे उद्धव, तुम इन्हें वहाँ से निकालकर निर्गुण की बालू में पटक रहे हो। सूर कहते हैं कि गोपियो ने उद्धव से कहा कि यह तुम्हारी कौनसी रीति है अर्थात् यह तो बिल्कुल अनीति है।

विशेष—इस पद मे सागरूपक एव परम्परित रूपक अलंकार है।

ऊधो ! कत वे बातें चालीं ?
अति मीठी मधुरी हरि-मुख की है उर-अंतर साली।।
स्याम सघन तन सांची बेली, हस्तकमल धरि पाली।
अब ये बेलि सूखन लागीं, छाँड़ि दई हरि-माली।।
तब तो कृपा करत ब्रज ऊपर संग लता ब्रजबाली।
सूर स्याम बिन मरि न गई क्यों विरह विथा की घाली।।२०६।।

शब्दार्थ—चाली—छेड़ी। साली—धँसी। ब्रजबाली—ब्रज की बालाएँ।

घाली—मारी हुई।

व्याख्या—प्रकारान्तर से निर्गुण के औचित्य का प्रतिपादन करती हुई गोपि उद्धव से कहती हैं कि हे उद्धव, आखिर ये बातें चली ही क्यो? यद्यपि ये बातें श्री कृष्ण मुख से निकलने के कारण बड़ी मधुर हैं परन्तु इनसे हमारे हृदय को बहुत दुःख मिलत है। इस शरीर रूपी लताओ को कृष्ण ने स्नेह से खूब सींचकर अपने हस्त-कमलों हो पाला-पोसा था, पर आज उस माली श्याम की अनुपस्थिति मे ये उत्तरोत्तर सूखं जा रही हैं। जब वे यहाँ रहते थे तब व्रज पर वे बड़ी कृपा करते थे और इन व्रज बाला-लताओं को सदैव अपने साथ रखते थे। पर आज सूर के स्वामी श्याम वियोग मे इस निर्गुण का उपदेश सुन विरह-व्यथा से आहत होकर हम मर क्यो नहं जातीं?

विशेष—इस पद मे रूपक अलकार है।

ऊधो! जो हरि हितू तिहारे।
तौ तुम कहिओ जाय कृपा कै जे दुख सबै हमारे॥
तन तरुवर ज्यों जरति बिरहिनी, तुमदव ज्यों हम जारे।
नहिं सिरात, नहिं जरत छार ह्वै सुलगि सुलगि भए कारे॥
जद्यपि उमगि प्रेमजल भिजवत बरषि बरषि घन तारे।
जो सींचे यहि भाँति जतन करि तौ इतने प्रतिपारे॥
कीर, कपोत, कोकिला, खजन बधिक-बियोग बिडारे।
इन दु खन क्यों जियहिं सूर प्रभु ब्रज के लोग बिचारे? ॥२०७॥

शब्दार्थ—सिरात—ठडी होती है। तारे—आँख की पुतली रूपी बादल। इतने—इतने वृक्ष। प्रतिपारे—पाला-पोसा। बिडारे—नष्ट कर दिये। कीर—नासिका। कपोत—गर्दन। कोकिला—वाणी। खजन—आँखें।

व्याख्या—अपनी विरह-व्यथा का सन्देश देती हुई गोपियाँ कहती हैं कि हे उद्धव, यदि कृष्ण वास्तव मे हमारा हित चाहते हैं तो आप कृपया हमारे सब दु खो का वर्णन उनमे कर देना। तुम उनसे कह देना कि आपके इस योग-सन्देश के दावानल ने हमारे शरीर रूपी वृक्ष मे आग लगा दी है। इस आग को बुझाने का प्रयत्न यद्यपि नयनों की पुतलियो के बादलो द्वारा प्रेमाश्रुओं की वर्षा द्वारा किया गया है किन्तु वह आग तब भी ठण्डी नहीं होती। न वह जलाकर भस्म ही करती है जिससे यह सारा किस्सा ही समाप्त हो जाय। वह तो निरन्तर यूँ ही सुलगती रहती है जिससे शरीर रूपी तरुवर काले पड़ गये हैं। ये वे ही वृक्ष है जिन्हें आपने बड़ी सावधानी से पाल पोस कर इतना बड़ा किया था। इस भयकर सन्ताप से वृक्षों की समृद्धि और सौन्दर्य लुप्त हो गया है। इस शरीर रूपी वन से कीर (नासिका), कपोत (ग्रीवा), कोकिला (वाणी की मधुरता) और खजन (नेत्रों का सौन्दर्य) सभी को वियोग रूपी बहेलिये ने मारकर भगा दिया है। ऐसी दशा मे हे उद्धव, तुम सूर के प्रभु श्याम से पूछना कि दु खो

से पीड़ित ये बेचारे व्रज के लोग कैसे और कितने दिनों तक जीवित रह सकेंगे ?

विशेष—(i) तन तरुवर, तुमदव, प्रेमजल, धनतारे और वधिक-वियोग में रूपक अलंकार और 'कीर कपोत कोकिला खंजन' में रूपकातिशयोक्ति अलंकार है।

(ii) चश्मे पुर आब हैं तिस पर भी जिगर जलता है।
क्या कयामत है कि बरसात में घर जलता है ॥

ऊधो ! तुम आये किहि काज ?
हित की कहत अहित की लागत, बकत न आवै लाज ॥
आपुन को उपचार करौ कछु तब औरनि सिख देहु ।
मेरे कहे जाहु सत्वर ही, गहौ सीयरे गेहु ॥
ह्याँ भेषज नानाविधि के अरु मधुरिपु से हैं बैदु ।
हम कातर डराति अपने सिर कहूँ कलंक ह्वै कैदु ॥
साँचो बात छाँडि अब झूठी कहौ कौन विधि सुनि हैं ?
सूरदास मुक्ताफलभोगी हंस बह्नि क्यों चुनि हैं ? ॥२०८॥

शब्दार्थ—गेहु—पकडो। सियरे—शीतल। कैदु—कदाचित्। बह्नि—आग। सत्वर—शीघ्र। मधुरिपु—कृष्ण।

व्याख्या—उद्धव को फटकारती हुई गोपियाँ कहती हैं कि उद्धव, आखिर तुम यहाँ किसलिए आये हो ? हम तो तुमसे हित की बात कहती हैं किन्तु तुम्हें लगती हैं हमारी बातें बहुत बुरी। तुम तो व्यर्थ ही बकवास किये जा रहे हो और तुम्हें लज्जा का अनुभव भी नही होता। हमारे ख्याल से तो तुम शीघ्र ही पहले अपना इलाज कराओ और तब दूसरो को उपदेश देना। मेरा कहा मानो, तुम यहाँ से शीघ्र ही चले जाओ और ठण्डे-ठण्डे घर जा पहुँचो। वहाँ नगर मे नाना प्रकार की औषधियाँ हैं, वहाँ तो कृष्ण जैसे वैद्य भी हैं। तुमने यहाँ देर लगा दी है, हमे भय है कि तुम यही मर न जाओ और कही हमारे मस्तक पर कलक न लग जाय। यदि आप स्वस्थ होते तो इतना अवश्य सोच लेते कि सत्य बात को छोड कर असत्य को किसी भी प्रकार कोई नहीं सुनेगा ! भला मोती चुगनेवाला हस आग कैसे चुग सकता है ? उसी प्रकार हम सत्य बात को छोडकर असत्य बात को कैसे अपना सकती हैं ?

विशेष—प्रस्तुत पद में निदर्शना अलकार की छटा देखते ही बनती है।

ऊधो ! तुम कहियो हरि सों जाय हमारे जिय को दरद।
दिन नहिं चैन, रैन नहिं सोवत, पावक भई जुन्हैया सरद ॥
जब तें अक्रूर लै गए मधुपुरी, भई बिरह तन बाय छरद।
काम्हीं प्रबल जगी अति,ऊधो! सोचन भइ जस पीरी हरद।
सखा प्रर्वान निरंतर हो तुम तातें कहियत खोलि परद।
श्वाप रूप दरसन बिन हरि के सूर मूरि नहिं हियो सुरद ॥२०६॥

शब्दार्थ—बाय—बाई। छरद—वमन। हरद—हल्दी। परद—परदा। सुरद—सुहृद।

व्याख्या—कृष्ण के प्रति अपने अटूट प्रेम का वर्णन करती हुई गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हे ऊधो, तुम जाकर कृष्ण से हमारी पीर का वर्णन कर देना। उनसे कह देना कि तुम्हारे बिना गोपियों को न दिन में चैन है और न रात को नींद। तुम्हारे वियोग में शरद की ज्योत्सना भी अनल के समान सन्तापदायक हो रही है। जब से अक्रूर जी तुम्हें मथुरा लिवाकर ले गये हैं हमारे शरीर विरह-वात से पीड़ित हैं जिससे वमन आदि उपद्रवों ने हमें परेशान कर दिया है। तुमने निर्गुण का सन्देश देकर उसे और भी प्रचंड बना डाला है। चिन्ताओं से शरीर हल्दी के समान पीला हो गया है। उद्धव! तुम उनके अभिन्न प्रवीण मित्र हो, इसीलिए हम तुम से कोई भी दुराव न रखकर सब कुछ कहे देती हैं। इस भयानक वायु का प्रतिकार हरि-दर्शन रूपी काढ़े के बिना नहीं हो सकता और कोई जड़ इस कार्य को नहीं कर सकती।

विशेष—अतिशयोक्ति, रूपक एवं उपमा अलंकार है।

ऊधो! क्यों आए ब्रज धावते ?
सहायक सखा राजपदवी मिलि दिन दस कछुक कमावते ॥
कह्यौ जु धर्म कृपा करि कानन सो उत बसिकै गावते।
गुरु निर्बति देखि आँखिन जे स्रोता सकल अघावते ॥
इत कोउ कछू न जानत हरि बिन, तुम कत जुगुति बनावते ?
जो कछु कहत सबन सौं तुम सौं अनुभव कै सुख पावते ॥
मनमोहन बिन देखे कैसे उर सौं औरहि चाहते ?
सूरदास प्रभु दरसन बिनु वह बार बार पछितावते ॥२१०॥

शब्दार्थ—निर्बति—पूजा करके। धावते—दौड़कर। अघावते—सन्तोष पाते।

व्याख्या—उद्धव के निर्गुणोपदेश की निस्सारता का प्रतिपादन करती हुई गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हे ऊधो, तुम दौड़कर व्रज क्यों आ गये? जब राजा कृष्ण के सहायक सखा की राजपदवी तुमने प्राप्त की थी तो वहीं कुछ दिन ठहरकर कमाई करते। जिस धर्म को तुम हमारे कानों में कह रहे हो उस धर्म का यदि वहीं रहकर गान करते तो वहाँ के लोग तुम्हें अपना गुरु मानकर सत्कार करते और तुम्हारे दर्शन करके कुछ सन्तोष प्राप्त करते। यहाँ तो श्री कृष्ण के बिना कोई किसी को भी नहीं जानता है, तुम क्यों दलीलें गढ़-गढ़कर सिर फिरा रहे हो? यदि वहाँ रहते तो जिसका उपदेश तुम दूसरों को दे रहे हो उसकी स्वयं अनुभूति करके सुख पाते। यहाँ हमारी समझ में तो यही नहीं आता कि तुम मनमोहन के दर्शन के अतिरिक्त हृदय से किसी और को कैसे चाहते हो? सूर कहते हैं कि यह सुन उद्धव श्री कृष्ण दर्शन से रहित होने के कारण बार-बार पश्चात्ताप करने लगे।

विशेष—गोपियों के दृढ प्रेम और मर्मस्पर्शी उक्तियों से ऊधो जी इतने प्रभावित आखिर हो ही गये कि वे कृष्ण के दर्शनों की उत्कण्ठा करने लगे। उन्हें अब प्रेम-मार्ग की श्रेष्ठता प्रतीत हो ही गई। किन्तु देखना यह है कि यह प्रभाव रहेगा कितनी देर !

ऊधो ! यहै प्रकृति परि आई तेरे।
जो कोउ कोटि करै कैसे हू फिरत नहीं मन फेरे॥
जा दिन तें जसुदागृह आए मोहन जादव राई।
ता दिन तें हरिदास परस बिनु और न कछु सुहाई॥
क्रीडन, हँसत, कृपा अवलोकत, जुग छन भरि तब जात।
परम तृप्त सबहिन तन होतो, लोचन हृदय अघात॥
जागत, सोवत, स्वप्न स्यामघन सुदर तन प्रति भावै।
सूरदास अब कमलनयन बिनु बातन ही बहरावै॥२११॥

शब्दार्थ—प्रकृति—आदत। जुग—युग। छन—क्षण। बहरावै—बहलाना।

व्याख्या—ऊधो जी की दृढ़ता पर व्यंग्य करती हुई गोपियाँ कहती हैं, तुम्हारी तो यह प्रकृति ही पड़ गई है। चाहे कोई करोड़ो उपाय क्यो न करे पर तुम्हारा मन उस निर्गुण से नही हटता। तुम्हे नही मालूम कि जिस दिन से तुम्हारे यदुराज और हमारे मोहन यशोदा के घर आये उसी दिन से हमे उनके अतिरिक्त और कुछ अच्छा नहीं लगता। उनके साथ हँसते-खेलते तथा उनकी कृपा-दृष्टि का सुख भोगते हुए युग भी क्षण के सदृश व्यतीत हो जाते थे। सभी के शरीर अत्यन्त तृप्त और आँखें तथा हृदय भी छके रहते थे। हमे तो जागृत, स्वप्न तथा सुषुप्ति सभी अवस्थाओ मे उन कृष्ण के शरीर की सुन्दर शोभा ही बस सुन्दर प्रतीत होती है। सूर कहते हैं कि गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि यहाँ तो दशा है ऐसी और तुम उन कमलनयन की बातें न करके और बातों मे ही बहलाना चाहते हो।

विशेष—जिस प्रकार गोपियाँ प्रेम-मार्ग पर दृढ हैं उसी प्रकार ऊधो जी ने भी शायद गोपियो को निर्गुणोपासक बनाने की कसम खा ली है।

ऊधो ! मन नाहीं दस बीस।
एक हुतो सो गयो हरि के सग, को अराधै तुव ईस ?
भईं अति सिथिल सबै माधव बिनु जथा देह बिन सीस।
स्वासा अटकि रहे आसा लगि, जीवहिं कोटि बरीस॥
तुम तौ सखा स्यामसुदर के सकल जाग के ईस।
सूरजदास रसिक की बतियाँ पुरवौ मन जगदीस॥२१२॥

शब्दार्थ—अराधै—आराधना करे। बरीस—वर्ष। पूरवौ—पूर्ण कर दो।

व्याख्या—व्यग्य करती हुई गोपियाँ ऊधो से कहती हैं कि हे ऊधो, हमारे कुछ दस बीस मन थोडे ही हैं। एक ही था (सबके ही एक होता है) सो वह

चला गया हरि के साथ। तुम्हीं बताओ कि तुम्हारे ब्रह्म की आराधना कौन से म से करें। हम सब उनके वियोग में अत्यन्त शिथिल हो गई हैं। हमारी दशा ऐसी हो गई है जैसे शरीर के बिना सिर की हो जाती है। हमारा श्वास केवल इसलि चल रहा है और करोड़ो वर्ष तक जीवित रह सकती हैं क्योंकि हमें उनसे मिलने की आशा है। तुम तो श्यामसुन्दर के मित्र हो और सब प्रकार के योगों के लिए समर्थ हो। हमारे मन को तो तुम रसिक श्री कृष्ण सम्बन्धी बातों से भर दो। हमें इसके अति रिक्त और कुछ अच्छा नहीं लगता। .

विशेष—सूरदास जी का काव्य संगीत और कविता का सुन्दर समन्वय है। प्रस्तुत पद गेयात्मकता का सुन्दर उदाहरण है।

ऊधो ! तुम सब साथी भोरे।
मेरे कहे बिलग मानौगे, कोटि कुटिल लै जोरे।।
यं अक्रूर क्रूर कृत तिनके, रीते भरे, भरे गहि ढोरे।
यं घनस्याम, स्याम अंतरमन, स्याम काम मँह बोरे।।
ये मधुकर द्युति निर्गुन गुनते देखे फटकि पछोरे।
सूरदास कारन सगति के कहा पूजियत गोरे? ।।२१३।।

शब्दार्थ—रीते—रिक्त। कारन—कालो की। भोरे—भोले। बिलग—बुरा।

व्याख्या—ऊधो जी को अक्रूर बताती हुई और कृष्ण को खरी-खोटी सुनाती हुई गोपियाँ ऊधो से कहती हैं कि तुम सब साथी बड़े भोले हो। हमारे कहने का तो तुम बुरा मान जाओगे पर वास्तविकता यह है कि तुम लोग सीमा से अधिक कुटिल एकत्र हो गये हो। एक का नाम अक्रूर है पर कार्य से क्रूर है जो नित्य रीतों को भरते हैं और भरों को ढुलकाते रहते हैं। दूसरे है श्याम जो मन से तो काले हैं ही और काली अर्थात् बुरी कामनाओं में डूबे रहते हैं। एक आप हैं जो भौंरों की कान्ति धारण करके निर्गुण को गुनगुनाते रहते हैं। सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि हमने खूब विचार कर देख लिया कि काले सब गुणों से भरे हुए हैं, गोरे इनकी समता कर ही कैसे सकते हैं? कुटिलता में इन दोनों की समता ही क्या!

विशेष—प्रस्तुत पद में लोकोक्तियों का प्रयोग देखने योग्य है।

ऊधो! समुझावै सो बैरनि।
रे मधुकर! निसिदिन मरियतु है कान्ह-कुँवर-औसेरनि।।
चित चुभि रही मोहनी मूरति, बचन द्रुमन की हेरनि।
तन मन लियो चुराय हमारो वा मुरलि की टेरनि।।
बिसरति नाहिं सुभग तन-सोभा, पीतांबर की फेरनि।
कहत न बनै कांध लकुटी धरि छवि बन गायन घेरनि।।
तुम प्रवीन, हम बिरहि, बतावत आँखि मूँदि अटभेरनि।
जिहि उर बसत स्यामघन सो क्यों परै मुक्ति के भेरनि।।

तुम हमको कहँ लाए, ऊधो ! जोग-दुखन के ढेरनि।
सूर रसिक बिन क्यों जीवत हैं निर्गुन कठिन करेरनि ? ।।२१४।।

शब्दार्थ—फेरनि—पहनावा। घेरनि—एकत्रित करना। करेर—कड़ा। भ्रोसेरनि—बाधा, दुःख। भटभेरनि—मुठभेड़। भ्रेरनि—भ्रभट।

व्याख्या—योग की अनुपादेयता का वर्णन करती हुई गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हे ऊधो, जो तुम्हे समुभ्रावे वही तुम्हारी बैरिन है। हे भौंरे, यहाँ तो दिन-रात कुँवर कृष्ण के वियोग-जनित दुःख से हम मर रही हैं। हमारे हृदय में वही मोहिनी मूर्ति तथा चचल नेत्रों की चितवन चुभ रही है। उस मुरली की ध्वनि ने हमारा तन और मन सभी कुछ हर लिया है। उस सुन्दर शरीर की शोभा तथा फिर उस पर पीताम्बर की फेंट को भुलाना कठिन है। कधे पर लकुट रखकर वन मे गायो को एकत्रित करने की शोभा को कहना बड़ा कठिन है। हे ऊधो ! तुम तो बडे निपुण हो, हमको विरही बताते हो परन्तु जिनके हृदय मे घनश्याम बस रहे हैं वे भला आपकी इस मुक्ति के भ्रभट मे क्यों फँसेंगे ? हे ऊधो ! तुम तो हमारे लिए योग के ढेर ले आये हो। भला हम रसिक शिरोमणि कृष्ण के बिना निर्गुण की कठिन चोटों से कैसे बच सकेंगी ?

विशेष—प्रस्तुत पद मे पहले कृष्ण के प्रति प्रणय निवेदन किया है और फिर योग की अनुपादेयता पर सकेतात्मक रूप से प्रकाश डाला गया है।

ऊधो ! स्यामहिं तुम लै आश्रो।
ब्रज जन-चातक प्यास मरत हैं, स्वातिबूंद बरसाश्रो।।
घोष-सरोज भए हैं सपुट, दिनमनि ह्वै बिगसाश्रो।
ह्याँ तें जाव बिलब करौ जनि हमरी दसा सुनाश्रो।।
जौ ऊधो हरि यहाँ न आवैं, हमको तहाँ बुलाश्रो।
सूरदास प्रभु बेगि मिलाए सतन मे जस पाश्रो।।२१५।।

शब्दार्थ—घोष—ग्वालो का गाँव। सपुट—बद। दिनमनि—सूर्य।

व्याख्या—कृष्ण को लिवा लाने का अनुरोध करती हुई गोपियाँ उद्धव से कहती है कि हे ऊधो, तुम श्याम को यहाँ लिवा कर ले आओ। यहाँ ब्रज-निवासी रूपी चातक दर्शन रूपी प्यास से मरे जा रहे हैं अतः तुम इनके लिए दर्शन रूपी स्वातिबूंद की वर्षा कर दो। घोष रूपी कमल बद हो गये है, कृष्ण रूपी सूर्य को लाकर उन्हें विकसित कर दो। तुम यहाँ से जाने मे विलम्ब मत करो और तुरन्त जाकर कृष्ण से हमारी दशा कह दो। हे ऊधो, यदि हरि यहाँ न आ सकें तो फिर हमको वहाँ बुला लो। सूर कहते है कि गोपियो ने कहा कि हे ऊधो, हमको कृष्ण से जल्दी से मिला दो और इस प्रकार इस कार्य द्वारा सत्पुरुषो का यश प्राप्त कर लो।

विशेष—इस पद मे रूपक एव रूपकातिशयोक्ति अलकार है।

ऊधो जू ! जोग तबहिं हम जान्यो।
जा दिन तें सुफलकसुत के संग रथ ब्रजनाथ पलान्यो ॥
जा दिन तें सब छोह-मोह मिटि सुत-पति-हेत भुलान्यो।
तजि माया संसार सार को ब्रज बनितन ब्रत ठान्यो ॥
नयन मुँदे, मुख रहे मौन धरि, तन तपि तेज सुखान्यो।
नदनंदन-मुख मुरलीधारी, यहै रूप उर आन्यो ॥
सोउ संजोग जिहि भूलें हम कहि तुमहुँ जोग बखान्यो।
ब्रह्मा पचि पचि मुए प्रान तजि तऊ न तिहि पहिचान्यो ॥
कहौ सु जोग कहा लै कीजै ? निर्गुन परत न जान्यो।
सूर कहै निज रूप स्याम को है उर माहिं समान्यो ॥२१६॥

शब्दार्थ—सुफलकसुत—अक्रूर। पलान्यो—चढ गये थे। आन्यो—समा गया। मुए—मर गये।

व्याख्या—योग पर व्यंग्य करती हुई गोपियाँ ऊधो से कहती हैं कि हे ऊधो, हमने तो योग का पाठ उसी दिन पढ लिया था जब अक्रूर के साथ श्री कृष्ण रथ पर चढकर मथुरा चल दिये थे और जिस दिन से हमने सब प्रकार की माया ममता त्याग कर अपने बेटे और पति तक की ममता को भुला दिया था। उसी दिन से व्रजांगनाओं ने सांसारिक माया-मोह का त्यागकर इस अटल व्रत का दृढ संकल्प कर लिया था। उसी दिन से हमारे नेत्र बन्द हो गये, मुख ने मौन धारण कर लिया और शरीर ने सन्तप्त होकर अपनी कान्ति और तेज को सुखा डाला। मुख पर मुरली धरने वाले नंदनंदन का रूप हमारे हृदय में समा गया है। इस संयोग को हम कभी भूल ही नहीं सकतीं। तुमने भी योग का जो वर्णन किया है वह भी ऐसा ही है। उसमें भी ऐसी ही दशा होती है किन्तु योग की प्रक्रिया बहुत कठिन है। ब्रह्मा भी परेशान होकर मर मिटे किन्तु वे भी उस परम ज्योति को न पहचान सके। जिस योग द्वारा निर्गुण को जान ही नहीं सकते, उस योग को लेकर हम क्या करेंगी ? हमें तो वही संयोग अच्छा लगता है जिसके द्वारा हमने अपने हृदय में श्याम को बैठा लिया है।

विशेष—भक्ति और योग दोनों का लक्ष्य एक ही है। एक से अभीष्ट की प्राप्ति सरल है तथा दूसरे से असंभव। तो फिर कौनसा मार्ग ग्रहण करना चाहिए ? पहला अर्थात् भक्ति मार्ग और सो वह गोपियों ने ग्रहण कर ही रखा है।

ऊधो ! वै सुख अबै कहाँ ?
छन छन नयनन निरखति जो मुख फिरि मन जात तहाँ ॥
मुख मुरली, सिर मोर पखौआ उर घुँघुचिन को हारु।
आगे धेनु रेनु तन-मंडित तिरछी चितवनि चारु ॥
राति-द्यौस सब संग आपने, खेलत, बोलत, खात।
सूरदास यह प्रभुता चितवत कहि न सकति वह बात ॥२१७॥

शब्दार्थ—पखौआ—पंख। हारू—हार। चारू—चाल। द्योस—दिन।

व्याख्या—अतीत के सुख का स्मरण करती हुई गोपियाँ कहती है कि हे ऊधो, अब वे पहले जैसे सुख हमे कहाँ प्राप्त हैं ? क्षण-प्रतिक्षण उस शोभाशाली मुख को देखकर जो आनन्द आया करता था वह अब कहाँ ? आज भी भटक कर मन उसी आनन्द पर जा अटकता है। वह सुन्दर रूप, मुख मे मुरली, सिर पर मयूर पख और वक्षस्थल पर पहना हुआ घुँघचियो का हार धारण करके धूल धूसरित होकर जब वे गैयों को आगे करके चलते थे और सुन्दर बाँके कटाक्ष फेंकते थे। ऐसे अनुपम शोभाशाली तब रात-दिन अपने साथ खेलते खाते और बतलाते थे। सूर कहते हैं कि गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि उन अतीत आमोद-प्रमोदों का वर्णन भी आज हम नही कर सकतीं क्योंकि हमे उनके शाही भय को देखकर कुछ सकोच का अनुभव होता है।

विशेष—अतीत के सुखो का स्मरण गोपियो को निश्चय ही व्याकुल एव परम अधीर बना देता होगा।

कहि ऊधो ! हरि गए तजि मथुरा कौन बडाई पाई।
भुवन चतुर्दस की बिभूति, वह नृप की जूठि पराई।।
जो यह काज करै ताको सेवक स्रुति पढ़ै बताई।
सेवत सेवत जन्म घटावत करत फिरत निठुराई।।
तुम तो परम साधु अतरहित जनि कछु कहो बनाई।
सूर स्याम मन कहा बिचारयो, कौन ठगौरी लाई।।२१८।।

शब्दार्थ—जूठि—भुक्त। स्रुति—वेद। निठुराई—निष्ठुरता। ठगौरी—ठगना।

व्याख्या—श्री कृष्ण के व्रज-परित्याग पर दुख प्रगट करती हुई गोपिया उद्धव से प्रश्न करती हैं कि हे ऊधो, आखिर बताओ तो सही कि कृष्ण ने व्रज को त्याग कर मथुरा को जो अपनाया है, इससे उन्हे कौनसा यश प्राप्त हुआ है। वे तो चौदह भुवनो की सम्पत्ति के मालिक हैं उन्हें वह दूसरे राजा का भुक्त राज्य मिल गया तो क्या हुआ ! जो ऐसा कार्य करता है क्या उसी का अनुचर वेद उसके महत्व का वर्णन करता है। यदि ऐसा है तो वह श्रुति व्यर्थ मे ही उसकी सेवा मे अपना जीवन-यापन कर रहा है। यह तो उसकी सरासर क्रूरता ही है। किन्तु ऊधो ! तुम तो बडे सज्जन हो, तुम्हे अपने मन के छल को छोड देना चाहिये। कम से कम तुम तो बातें मत बनाओ। आखिर सूर के स्वामी कृष्ण ने क्या विचार कर यह कार्य किया है। ऐसा लगता है कि उन्हे किसी ने बहका दिया है।

विशेष—चौदह भुवनो के स्वामी कृष्ण का परायी भुक्त राज्यश्री पर इतना मुग्ध होना गोपियो की समझ में यदि नही आता तो इसमें आश्चर्य ही क्या है !

· ऊधो ! जाय बहुरि सुनि आवहु कहा कह्यो है नदकुमार।
यह न होय उपदेस स्याम को कहत लगावन छार।।

निर्गुन ज्योति कहा उन पाई सिखवत बारबार।
काल्हिहि करत हुते हमरे अंग अपने हाथ सिंगार॥
व्याकुल भए गोपालहिं बिछुरे गयो गुन ज्ञान सभार।
तातें ज्यों भावै त्यों बक्त हौ, नाहीं दोष तुम्हार॥
बिरह सहन को हम सिरजी हैं, पाहन हृदय हमार।
सूरदास अंतरगति मोहन जीवन-प्रान-प्रधार॥२१६॥

शब्दार्थ—पाहन—पत्थर, कठिन। छार—भभूत। सिरजी—बनाई गई है।

व्याख्या—योग को रसिक शिरोमणि कृष्ण की प्रकृति के विरुद्ध बताती हुई गोपियाँ ऊधो से व्यंगपूर्वक कहती हैं कि हे ऊधो, तुम फिर से जाकर कृष्ण से उनका सदेशा सुनकर आओ। यह जो तुम हमें भभूत लगा कर योग-साधना के लिए कह रहे हो, यह श्याम का उपदेश नहीं हो सकता। उन्हें यह निर्गुण-ज्योति कहाँ से प्राप्त हो गई जिसका वर्णन आप हमसे बार-बार कर रहे हैं। अभी कल की ही बात है कि वे अपने हाथों से हमारे अंगों का बनाव-शृंगार किया करते थे। हमारा तो विचार है कि तुम गोपाल से अलग होकर अपनी सारी ज्ञान निधि को ही खो बैठे हो। यही कारण है कि जो आपके मन में आता है सो बक देते हो। किन्तु यह तुम्हारा दोष नहीं है, उसका तो वियोग ही ऐसा है। उसके वियोग में तो मनुष्य पागल हो ही जाता है। इसके सहन करने के लिए बस विधाता ने हमें ही रचा है। देख रहे हो न, वियोग में भी होश की बातें कर रही हैं। धन्य है हमारी पत्थर की छाती को! सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि हम जो यह सब स्वस्थ होकर सहन कर रही हैं उसका भी श्रेय उन्हीं को है। वे ही हमारे घट के भीतर हमारे प्राण और जीवन के आधार हैं।

विशेष—वस्तुतः भगवान् का वियोगी पागल ही हो जाता होगा तभी तो कबीर ने भी कहा है—

रामबियोगी न जियें, जियें तो बौरा होहिं।'

ऊधो! कह मत दीन्हो हमहिं गोपाल?
आवहु री सखि! सब मिलि सोचें ज्यों पावें नदलाल॥
घर बाहर तें बोलि लेहु सब जावदेक ब्रजबाल।
कमलासन बैठहु री माई! मूंदहु नयन बिसाल॥
षटपद कही सोऊ करि देखी, हाथ कछू नहिं आई।
सुदरस्याम कमलदल लोचन नेकु न देत दिखाई॥
फिरि भईं मगन बिरह सागर में काहुहि सुधि न रही।
पूरन प्रेम देखि गोपिन को मधुकर मौन गही॥
कहुँ धुनि सुनि स्रवननि चातक की प्रान पलटि तब आए।
सूर सु अबकें टेरि पपीहै बिरहिन मृतक जिवाए॥२२०॥

शब्दार्थ—षटपद—भौंरा। नेकु—तनिक भी। जिवाए—जीवित कर दिया।

व्याख्या—उद्धव के निर्गुणोपदेश की खिल्ली उड़ाती हुई गोपियाँ उनसे व्यंग्य-पूर्वक पूछती हैं कि हे ऊधो, गोपाल ने हमारे लिए क्या सलाह दी है ? तब एक गोपी ने दूसरी गोपी से कहा कि आओ सखी ! मिलकर नंदनदन से मिलने की युक्ति सोचें। देखो, घर और बाहर जितनी भी व्रजबालायें हैं सबको बुला लो और पद्मासन बांध कर अपने नेत्र बन्द करके बैठ जाओ। अरे हमने तो इन भौंरे महाशय का कहना भी करके देख लिया किन्तु हमारे हाथ तो जब भी कुछ नही लगा। कमलदललोचन श्याम के दर्शन तो तब भी नही हुए। सूर कहते हैं कि इस प्रकार प्रलाप करती हुई वे गोपियाँ विरह-सागर मे ऐसी डूबीं कि किसी को कुछ भी होश नही रहा। गोपियो के पूर्ण प्रेम को देखकर मधुकर महाशय भी चुप रह गये। तभी कहीं से पपीहे की 'पी पी' की ध्वनि उनके कानों में पड़ी और उनके मृतप्राय शरीर मे प्राण-से पलट आये। सूर कहते हैं कि हे पपीहे, तू 'पी' की पुकार फिर से कर, तूने तो मृत विरहिणियों को पुनर्जीवित कर दिया।

विशेष—सखी री चातक मोहि जियावत।

जैसेहि रैनि टति हौं पिय पिय तैसे ही वह गावत।

वस्तुतः पपीहे की 'पी पी' की आवाज में बड़ा बल होता है।

ऊधो ! ते कि चतुर पद पावत ?
जे नहिं जानैं पीर पराई है सर्वज्ञ कहावत ॥
जो पै मीन नीर तें बिछुरैं को करि जतन जियावत ?
प्यासे प्रान जात हैं जल बिनु सुधा समुद्र बहावत ॥
हम बिरहिनी स्यामसुंदर की तुम निर्गुनहि जनावत।
ये दृग मधुप-सुमन सब परिहरि कमल बदन-रस भावत ॥
कहि पठवत सदेसनि मधुकर ! कत बकवाद बढावत ?
करौ न कुटिल निठुर चित अंतर सूरदास कवि गावत ॥२२१॥

शब्दार्थ—जनावत—बताते हो। बढावत—बढाते हो। कुटिल—क्रूर।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से प्रश्न करती है कि हे ऊधो, क्या वे भी कभी चतुर कहला सकते हैं जो परायी व्यथा को तो जानते नही पर कहलाते सर्वज्ञ हैं ? यदि मीन जल से विछुड़ जाय तो क्या उन्हे कोई किसी यत्न द्वारा जीवित कर सकता है ? उनके लिए ठीक यत्न तो यही है कि उन्हे फिर से जल मे डाल दिया जाय। किसी के प्यास के मारे प्राण निकले जा रहे हों उसे निकट रखे हुए पानी को न बता कर सुदूर देश मे स्थित अमृत का समुद्र बताने मे कौनसी बुद्धिमानी है ? हम विरहिणी हैं श्यामसुन्दर की, पर आप हमे उपदेश दे रहे हैं निर्गुण का। हमारे नयन रूप भ्रमर सब फूलो को छोड़ कर उसी कमलमुख के रस को पसन्द करते हैं। यह सब जानते हुए भी वे हमारे लिए ये सन्देश क्यो भेज रहे हैं और मधुकर जी, आप क्यो बकते चले जा रहे हैं ? सूर कहते हैं कि हे कुटिल, तुम अपने मन को इतना कठोर मत बनाओ।

विशेष—इस पद मे रूपक एवं प्रतिवस्तुपमा अलकार है।

ऊधो ! भली करी अब आए ।
विधि-कुलाल कीने काँचे घट ते तुम आनि पकाए ॥
रंग दियो हो कान्ह साँवरे, अँग अँग चित्र बनाए ।
गलन न पाये नयन नीर तें अवधि-अटा जो छाए ॥
ब्रज करि अँवाँ, जोग करि ईंधन सुरति-अगिनि सुलगाए ।
फूँक उसास, बिरह परजारनि, दरसन-आस फिराये ॥
भए सपूरन भरे प्रेम-जल, छुवन न काहू पाये ।
राजकाज तें गए सूर सुनि, नँदनंदन कर लाए ॥२२२॥

शब्दार्थ—विधि-कुलाल—विधाता रूपी कुम्हार । घट—घडा । कर लाए—काम आये ।

व्याख्या—गोपियाँ ऊधो से कहती हैं कि अच्छा ही किया जो आप इस समय पधारे । ब्रह्मा रूपी कुम्हार ने जिन कच्चे घडों का निर्माण किया था उन्हें आपने आकर पका दिया । उन कच्चे घडों को श्याम ने रंग दिया था तथा उनके अंग-प्रत्यगों पर चित्र बनाये थे । वे कच्चे घडे नयनाश्रुओं के जल से गलने नही पाये क्योंकि वे आज दिन तक कृष्ण के आगमन अवधि रूपी अट्टे पर बिल्कुल सुरक्षित रखे रहे थे । आज उन कच्चे घडों को आपने ब्रज के आँवाँ म रख कर योग के ईंधन और स्मरण की आग लगा दी । फिर यह अनल हमारे अर्धश्वासों की फूक से विरह की लपटें उठाकर जल उठी । आपने उन घडों को अच्छी प्रकार पकाने के लिए दर्शन की आशा से प्रतिकूल करके फिरा दिया । अब ये सब पक कर तैयार हो गय हैं और प्रेम-जल से ऊपर तक भर रहे हैं । इन्हें और कोई स्पर्श भी नहीं कर सकता । सूर कहते हैं कि गोपियों ने उद्धव से कहा कि ये जल भरे घडे राजकार्य से गये हुए केवल नदनदन के मगल कार्य के लिए सुरक्षित हैं । अन्य किसी का इन पर अधिकार नहीं ।

विशेष—इस पद मे सागरूक अलकार है ।

ऊधो ! कुलिस भई यह छाती ।
मेरो मन रसिक लग्यो नँदलालहि झखत रहत दिन राती ॥
तजि ब्रजलोक, पिता अरु जननी, कंठ लाय गए काती ।
ऐसे निठुर भए हरि हमको कबहुँ न पाई पाती ॥
पिय पिय कहत रहत जिय मेरो ह्वै चातक की जाती ।
सूरदास प्रभु प्रानहि राखहु ह्वै कै बूँद सवाती ॥२२३॥

शब्दार्थ—काती—छुरी । सवाती—स्वाति । कुलिस—वज्र ।

व्याख्या—अपनी प्रचंड विरह-व्यथा का वर्णन करती हुई राधा उद्धव से कहती हैं कि हे ऊधो, हमारी छाती बिल्कुल वज्र बन गई है जो इतनी आपत्ति मे भी विदीर्ण नहीं हो जाती । मेरा मन रसिक शिरोमणि नदलाल से लगा है, अत मैं दिन-रात झखती रहती हू । वे तो ब्रज के लोगों को तथा माता-पिता को त्याग कर क्या गये मानो हमारे गले पर छुरी ही फेर गये । अब तो वे इतने निष्ठुर हो गये कि हमारे पास कभी

कोई पत्र तक नही भेजा। हमारा हृदय सदैव चातक के समान पी-पी रटता रहता है। हे सूर के स्याम, तुम अब स्वाति नक्षत्र की बूद बन कर इन चातक-प्राणो की रक्षा करो।

विशेष—परम्परित रूपक अलकार है।

ऊधो! कहु मधुबन की रीति।
राजा ह्वै ब्रजनाथ तिहारे कहा चलावत नीति
निसिलौं करत दाह दिनकर ज्यो हुतो सदा ससि सीति।
पुरवा पवन कह्यो नहि मानत गए सहज बपु जीति॥
कुब्जा काज कस को मारचो, भई निरतर प्रीति।
सूर बिरह ब्रज भलो न लागत जहाँ ब्याह तहँ गीति॥२२४॥

शब्दार्थ—निसिलौं—रात-भर। सीति—शीत। पुरवा—पूर्व से आने वाली वायु।

व्याख्या—श्री कृष्ण के चरित्र पर व्यग्य करती हुई गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हे उद्धव, मथुरा की रीति तुम हमे बताओ, हमारी समझ में नही आ रही है। तुम्हारे ब्रजनाथ राजा होकर भी क्या अनोखी रीति अपनाये हुए है। जो चन्द्रमा सदैव शीतल था वह आजकल रात्रि को सूर्य के समान दाहक हो रहा है। इधर पुरवा हवा भी हमारा कहना नही मानती। हमारे शरीरो को पस्त किए देती है। उनके पडौस मे ही ये सब अनीतियाँ हो रही हैं और वे चुपचाप बैठे तमाशा देख रहे हैं। कस को उन्होने अवश्य मारा है किन्तु क्या लोकोपचार के लिए? नहीं, उन्होने तो कुब्जा को हथियाने के लिए मारा था। प्रमाण यह कि अब देखो इन दोनों म कितनी प्रीति हो रही है। सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि हे उद्धव, विरह की सकटपूर्ण स्थिति मे ब्रज मे हमे कुछ भी अच्छा नही लगता। गीत तो वही अच्छे लगा करते हैं जहा विवाह हो।

विशेष—इस पद मे अतिशयोक्ति अलकार है।

ऊधो! काल-चाल चौरासी।
मन हरि मदनगोपाल हमारो बोलत बोल उदासी॥
एते पै हम जोग करहिं क्यो लै अविगत अविनासी।
गुप्त गोपाल करी बनलीला हम लूटी सुखरासी॥
लोचन उमगि चलत हरि के हित बिन देखे बरिसा सी।
रसना सूर स्याम के रस बिनु चातकहू तें प्यासी॥२२५॥

शब्दार्थ—चौरासी—अनेक प्रकार की। हरि—हर कर।

व्याख्या—योगोपदेश को अपने लिए दु खदायी बताती हुई गोपियाँ कहती हैं कि हे ऊधो, काल की गति अनेक हैं। देखो आपन मदनगोपाल ने पहले तो हमारा मन चुरा लिया और अब इस प्रकार की उदासीनता की बातें की जा रही हैं। अब हमे अविगत और अविनाशी ब्रह्म की प्राप्ति के लिए योग की शिक्षा दी जा रही है। पहले तो

छिप छिपकर वन मे लीलायें कीं और खूब सुख लूटा और अब यह शुष्क उपदेश प्रेषित किया जा रहा है। इन बातों को सोचकर हरि के लिए हमारे नेत्र उमड आते हैं और उन्हें न पाकर वर्षा ऋतु की भाँति बरसने लगते हैं। हमारी वाणी सूर के स्वामी श्याम के रस के बिना चातक से भी अधिक प्यासी है।

विशेष—पाचवीं पक्ति में पूर्णोपमा तथा छठी पक्ति मे प्रतीप अलकार है।

ऊधो ! सरद समयहू आयो।
बहुते दिवस रटन चातक तकि तेउ स्वाति-जल पायो॥
कबहूँक ध्यान धरत उर-अन्तर मुख मुरली लै गावत।
सो रस रास पुलिन जमुना को ससि देखे सुधि आवत॥
जासों लगत-प्रीति अंतरगत औगुन गुन करि भावत।
हमसों कपट, लोक-डर तातें सूर सनेह जनावत॥२२६॥

शब्दार्थ—लोक-डर—ससार के लोगों के कथनों का भय। पुलिन—तट। बनावत—छिपाते हैं।

व्याख्या—अतीत का स्मरण करके श्री कृष्ण-प्रेम के लिए उपालम्भ देती हुई गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हे उद्धव, लो अब यह शरद ऋतु भी आ गई। बहुत दिनों से रटन्त लगाते हुए एकटक देखते हुए चातक को भी स्वाति-बूद प्राप्त हो गई। हमें ध्यान आता है कि कभी हमारे प्रियतम भी मुख पर मुरली रख कर गाया करते थे। इस चन्द्रमा को देख कर यमुना के तटों पर किये हुए मधुर रासो की स्मृति हो उठती है। जिससे मन लगा होता है उसके अवगुण भी गुण प्रतीत होते हैं। सूर कहते हैं कि गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि कृष्ण को लोकापवाद का भय है कि कहीं लोग यह न कहें कि इनके मित्र गवार हैं। इसीलिए अब वे प्रेम को राजा होने पर छिपा रहे हैं।

विशेष—कृष्ण जी ने शरद ऋतु की पूर्णिमा को गोपियों के साथ जो रास रचाया था, उसी को याद करके गोपियाँ विह्वल हो उठती हैं।

ऊधो ! कौन कुदिन छाँड्यो हो गोकुल।
बहुरि न आए फिरि या ब्रज मे, बिछुरयो सबहिं मिल्यो अब सो कुल॥
गरग-बचन समुझे अब मधुबन-कथा प्रसग सुन्यो हो जो कुल।
सूर भये अब त्रिभुवन के पति नातो जाति सहे अब निज कुल॥२२७॥

शब्दार्थ—सो कुल—यादवों का वश जिससे जन्म लेकर बिछुड गये थे। गर्ग—मुनि का नाम। जो कुल—वह सब। जाति—जाति।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि न जाने वह दिन कैसा बुरा था जिस दिन कृष्ण ने गोकुल को छोड़ा था। तभी तो जाने के बाद फिर कभी इस ब्रज मे न आए। आते भी क्यों अब तो वे अपने पहले बिछुड़े हुए कुटम्ब में जा मिले। मुनि गर्ग की बात जो उन्होंने मथुरा की कथा कहते समय कही थी अब समझ मे आ रही है।

सूर कहते हैं कि गोपियो ने उद्धव से कहा कि भाई ! अब वे त्रिभुवन नरेश बन गये हैं और अपने कुल और खानदान मे जा मिले हैं, अब दूसरो से मिलने क्यो आवें !

विशेष—गर्ग मुनि पुरोहित थे। उन्होने कृष्ण का जन्मपत्र देखकर पहले ही बता दिया था कि वे ब्रज मे न रहेंगे। मथुरा जायेंगे और फिर वही रहेंगे।

ऊधो ! राखिये वह बात।
कहत हो अनहद सुबानी सुनत हम चपि जात॥
जोग फल-कुष्माड ऐसो अजामुख न समात।
बार बार न भाखिए कोउ अमृत तजि विष खात ?
नयन प्यासे रूप के, जल दए नाहिं अघात।
सूर प्रभु मन हरि गए लै छाँडि तन-कुसलात॥२२८॥

शब्दार्थ—अनहद—अनाहत नाद। कुष्माड—कुम्हडा। अज—बकरा। अघाना—तृप्त होना।

व्याख्या—योग की अनुपयुक्तता बताती हुई गोपियां कहती हैं कि हे ऊधो, तुम अपनी इन योग की बातो को रहने दो। इससे हमारे मन को शान्ति नही मिलती। इतना ही नही तुम्हारी सोऽहं की यह वाणी सुनकर तो हम और भी सहम जाती हैं। तुम्हारा यह योग कुम्हडे के फल के सदृश है जो बकरी के मुख मे समा ही नहीं सकता। इसी प्रकार योग हमारे लिए उपयुक्त नहीं है। अत तुम इसकी चर्चा हमसे बार-बार न करो। अमृत को छोडकर कोई जहर खाना नही चाहता। सरस-सगुणोपासना को छोडकर नीरस निर्गुण को भला कौन अपनाना चाहेगा ? हमारे ये नेत्र तो उस रूप के प्यासे हैं। इन्हे जल देकर सन्तुष्ट नही किया जा सकता। हाय ! सूर के स्वामी कृष्ण ने जब हमारे मन को चुराया था तो हमारे शरीर की कुशलता पर भी कुछ विचार न किया।

विशेष—लोकोक्ति अलकार की छटा दर्शनीय है।

ऊधो ! बात तिहारी जानी।
आए हौ ब्रज को बिन काजहि, दहत हृदय कटु बानी॥
जो पै स्याम रहट घट तौ कत बिरह-बिथा न परानी।
झूठी बातनि क्यों मन मानत चलमति, अलप गियानी॥
जोग-जुगुति की रीति अगम हम ब्रजबासिनी कह जाने ?
सिख वहु जाय जहाँ नटनागर रहत प्रेम लपटाने॥
दामी घेरि रहे हरि, तुम ह्याँ गढि गढि कहत बनाई।
निपट निलज्ज अजहूँ न चलत उठि, कहत सूर समुझाई॥२२९॥

शब्दार्थ—परानी—हटना। चलमति—चचल बुद्धि वाला। घेरि—छेकते फिरते हैं।

व्याख्या—योग की अनुपयुक्तता का प्रतिपादन करती हुई गोपियाँ कहती कि हे ऊधो, अब हम तुम्हारी बात जान गई। तुम यहाँ व्रज में बिना किसी काम के आये हो अर्थात् श्री कृष्ण का योग सन्देश देने नहीं आये। यों ही घूमते-फिरते अनायास ही व्रज में आ गये हो और यहाँ आने पर तुम्हे यह शरारत सूझी है कि कटु बातें कह कहकर हमारे हृदय को जला रहे हो। यदि तुम्हारे कथनानुसार प्रियतम श्याम हमा अन्तस मे रहते हैं तो हमारी विरह-व्यथा क्यो न चली गई ? अरे चचल एव तुच्छ बुद्धि वाले ! तुम्हारे असत्य भाषणो से हमारा मन नही मानेगा। तनिक सोचो त कहाँ अगम्य योग की साधना और कहाँ हम व्रजवासी ! हम इस कठिन नीति कं क्या जान सकते हैं ? इस योग का उपदेश तो उस चतुर नटवर को दो जो अपनी प्रेयसी से सदा लिपटा रहता है। तुम्हे तो मालूम है कि वे वहाँ दासी के साथ छेड़छाड़ कर रहे हैं और तुम फिर भी यहाँ आकर बातें बघार रहे हो। तुम तो नितान्त निर्लज्ज मालूम देते हो कि अब भी यहाँ से उठकर नही चल रहे हो।

विशेष—जब श्याम गोपियो के अन्तस मे हैं (ऊधो के कथनानुसार) तो फिर विरह काहे का !

ऊधो ! राखति हौं पति तेरी।
ह्याँ तें जाहु, दुरहु आगे तें देखत आँखि बरति है मेरी॥
तुम जो कहत गोपाल सत्य है, देखहु जाय अ कूबजा घेरी।
ते तौ तैसेइ दोउ बने हैं, वे अहीर वह कस की चेरी॥
तुम सारिखे बसीठ पठाए, कहा कहौं उनको मति फेरी।
सूरदास प्रभु तुम्हरे मिलन को ग्वालिनि कं सग जोवति हेरी॥२३०॥

शब्दार्थ—पति—प्रतिष्ठा। दुरहु—हटो। बसीठ—दूत। मति-फेर—बुद्धि का फेर। कै सग—मिलकर।

व्याख्या—निर्गुणोपदेश पर खीझती हुई गोपियाँ कहती हैं कि हे उद्धव, हम तुम्हारी प्रतिष्ठा रख रही हैं। तुम यहाँ से हट कर हमारी आँखो से दूर हो जाओ। तुम्हें देखकर हमारी आँखें जलन लगती हैं। तुम्हारा कथन है कि गोपाल सत्यशील है। हमे विश्वास नहीं है। बात हमारी ही ठीक है। यदि नहीं तो जाओ देख लो कि वे अब भी कुब्जा को घेरे पड़े हैं अथवा नहीं। भगवान् ने दोनों का जोड़ा भी खूब मिलाया है। एक है अहीर और दूसरी कस की दासी। तुम जैसे दूत यहाँ भेजे हैं। विधाता ने जैसी उनकी मति फेरी है, अवर्णनीय है। सूर के प्रभु श्याम से आलिंगन करके मिलने के लिए आज भी ग्वालिनी राह देख रही हैं।

विशेष—कृष्ण के चरित्र पर यह दोषारोपण कि वे कुब्जा को अब भी घेरे पड़े हैं, सपत्नीक ईर्ष्या का सुन्दर उदाहरण है।

ऊधो ! बेदवचन परमान।
कमल-मुख पर नयन-खजन देखिहै क्यों आन।
श्रीनिकेत समेत सब गुन, सकल रूप निधान।
अधर सुधा पिवाय बिछुरे पठै दीनो ज्ञान
दूरि नहीं दयाल सब घट कहत एक समान।
निकसी क्यों न गोपाल बोधत दुखिन के दुख जान
रूप-रेख न देखिये, 'बिन स्वाद' सब्द भुलान
ईखदंडहि डारि हरिगुन, गहत पानि बिषान
बीतराग सुजान जोगिन, भक्तजनन निवास।
निगम-बानी मेटिकै क्यों कहै सूरजदास।......

शब्दार्थ—श्रीनिकेत—शोभा के धाम। पठै—भेजा। सब्द—शब्द।

व्याख्या—गोपियाँ पुन योगोपदेश सुनकर कहती हैं कि हे ऊधो, यह ठीक है कि वेदो द्वारा प्रतिपादित योग-मार्ग ही प्रमाण है। पर जिन लोगो ने कृष्ण के कमल-रूपी मुख पर नेत्र रूपी खजनो की शोभा देखी है वे किसी दूसरी वस्तु की इच्छा क्यो करेंगे ? शोभा के धाम, सर्वगुणागार तथा सौन्दर्यनिधि श्री कृष्ण अपने अधरामृत को हमे पिलाकर हमसे दूर चले गये और अब यह ज्ञान भेजा है। तुम जो यह कहते हो कि कृपानिधि दूर नही और वह सब के हृदयो मे समान रूप से रहते हैं, यदि यह बात झूठ नही है तो गोपाल हमारा दुख देखकर बाहर क्यो नही निकल आते ? तुम तो कह रहे हो कि ईश्वर की रूपरेखा दिखाई नही पडती। वह बिना स्वाद के है अर्थात् उसका अनुभव नहीं किया जा सकता। इस प्रकार वह ब्रह्म शब्दों की भूल-भुलैया मात्र है। तुम श्री कृष्ण के गुण-गान रूपी गन्ने को त्याग कर निर्गुणोपासना रूपी सीग हमारे हाथ में पकडा रहे हो। गोपियाँ ऊधो से कहती हैं कि योग तो उनके लिए होता है जो वीतरागी ज्ञानी होते हैं। जो भक्त लोग हैं, उनके लिए यह मार्ग नही है। तुम वेद की वाणी के विरुद्ध क्यो बोलते हो ?

विशेष—इस पद मे रूपक तथा रूपकातिशयोक्ति अलकार है।

ऊधो ! अब चित भए कठोर।
पूरब प्रीति बिसारी गिरिधर नवतन राचे और।
जा दिन तें मधुपुरी सिधारे धीरज रह्यो न मोर।
जन्म जन्म की दासी तुम्हरी नागर नदकिसोर॥
चितवनि-बान लगाए मोहन निकसे उर वहि ओर।
सूरदास प्रभु कबहिं मिलोगे, कहाँ रहे रनछोर ?॥२३२॥

शब्दार्थ—वहि ओर—उस पार। नवतन—नूतन। राचे—अनुरक्त हुए। रनछोर—श्री कृष्ण।

व्याख्या—कृष्ण की निष्ठुरता पर व्यग्य करती हुई गोपियाँ कहती हैं कि हे

उद्धव, अब वे चित्त के कठोर हो गये हैं। गिरधर कृष्ण पहले प्रेम को भुलाकर अब नये प्रेम-मार्ग पर आरूढ हो गये हैं। हा ! जिस दिन से उन्होंने मथुरा को प्रस्थान किया है उसी समय से हमारा धैर्य खो गया है। हे रसिक नन्दकिशोर ! हम तुम्हारी जन्म-जन्मान्तर से दासियाँ हैं। जो तुम्हारे कटाक्षों के बाण हमें लगे थे वे अब हृदय बींधने पर फूट गये हैं। सूर के स्वामी श्री कृष्ण आप न जाने अब हमें कब मिलेंगे ? आखिर कटाक्ष बाणों की चोट करके इस प्रेम-रणभूमि से भाग निकले।

विशेष—रनछोर श्री कृष्ण का ही एक नाम है। सभवत यह उनका नाम जरासंध के साथ युद्ध में कई बार भागने से पडा था।

ऊधो ! अब नहिं स्याम हमारे।
मधुबन बसत बदलि से गे वे, माधव मधुप तिहारे॥
इतनिहिं दूरि भए कछु और, जोय जोय मगु हारे।
कपटी कुटिल काक कोकिल ज्यों अत भए उडि न्यारे॥
रस ले भँवर जाय स्वारथ हित प्रीतम चितहिं बिसारे।
सूरदास तिनसों कह कहिए जे तन हूँ मन कारे॥२३३॥

शब्दार्थ—कारे—काले। मधुबन—मथुरा। मगु—मार्ग।

व्याख्या—कृष्ण की निष्ठुरता पर व्यग्य करती हुई गोपियाँ कहती हैं कि हे ऊधो, अब श्री कृष्ण हमारे नहीं रहे। अरे मधुप ! वे तुम्हारे माधव मथुरा रहकर बदल गये हैं। आश्चर्य तो यह है कि इतनी सी दूर जाकर ही कुछ के कुछ बन गये हैं। हम तो राह देखते देखते थक गईं किन्तु उनका पता तक नहीं लगा। उन्होंने तो वही बात कर दी जैसे कि कपटी और दुष्ट कोकिलें कौओं के साथ करती हैं। जब तक पले तब तक तो उनके साथ रहे और बडे होने पर उडकर अलग हो गये। उनकी प्रीति स्वार्थ की प्रीति थी। जैसे भौंरा अपने मतलब से फूलों का रस लेकर फिर उन्हें चित्त से बिल्कुल भुला देता है उसी प्रकार उन्होंने हमसे रगरेलियाँ करके हमको भुला दिया है। सूर कहते हैं कि गोपियों ने उद्धव से कहा कि हम उनके लिए अब क्या कहें जो न केवल शरीर से अपितु मन से भी काले हैं।

विशेष—अँधियारी निसि को जनम, कारे कान्ह गुपाल।
चित चोरी जो करत हो, कहा अचभो लाल॥

ऊधो ! पा लागौं भले आए।
तुम देखे जनु माधव देखे, तुम त्रयताप नसाए॥
नद जसोदा नातो टूटो बद पुरानन गाए।
हम अहीरी, तुम अहिर नाम तजि निर्गुन नाम लखाए॥
तब यहि धोष खेल खेले ऊखल भुजा बंधाए।
सूरदास प्रभु यहै सूल जिय बहुरि न चरन दिखाए॥२३४॥

शब्दार्थ—पा—चरण। जनु—मानो। त्रयताप—दैहिक, दैविक तथा भौतिक ताप।

व्याख्या—निर्गुणोपदेश के अनौचित्य पर व्यग्य करती हुई गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हम तुम्हारे पैर छूकर निवेदन करती हैं कि तुमने बडा अच्छा किया जो तुम यहाँ पधारे हो। तुम्हारा दर्शन हमारे लिए कृष्ण के दर्शनों के ही तुल्य है। तुमने दर्शन देकर हमारे तीनो प्रकार के ताप नष्ट कर दिये। हम अहीरिन हैं, अत. तुमको हमारे सामने किसी अहीर का कथन करना चाहिए था पर तुम इसके स्थान पर हमे निर्गुणोपदेश करने लगे। उस समय तो इस ग्वालो की बस्ती मे बहुत से खेल खेले और ऊखल से अपनी भुजा बधवाई। हा! कैसे थे वे दिन! किन्तु हृदय मे खेद तो यही है कि सूर के स्वामी श्री कृष्ण ने फिर अपने चरणो के दर्शन न दिये।

विशष—द्वितीय पक्ति मे उत्प्रेक्षा अलकार दृष्टव्य है।

ऊधो! निरगुन कहत हो तुमहीं अब धौं लेहु।
सगुनि मूरति नदनदन हमहिं आनि सु देहु॥
अगम पथ परम कठिन गवन तहाँ नाहिं।
सनकादिक भूलि परे अबला कहँ जाहिं?
पचतत्व प्रकृति कहो अपर कैसे जानि?
मन बच क्रम कहत सूर बैरनि की बानि॥२३५॥

शब्दार्थ—धौं—उसको। आनि—लाकर। गवन—पहुँच।

व्याख्या—निर्गुण के अनौचित्य पर व्यग्य करती हुई गोपियाँ उद्धव से कहती है कि हे उद्धव, तुम जो हमे निर्गुण का उपदेश दे रहे हो, तुम्ही उसे क्यो नही ग्रहण कर लेते? हमे तो हमारी सगुण मूर्ति नन्दनदन को लाकर द दो। जो मार्ग बडा कठोर और अगम्य है और जिस माग पर चलते हुए सनकादि सिद्ध मुनीश्वर भी भूलें कर चुके हैं उस मार्ग पर अबलायें कैसे जायेंगी? जब हमारा जन्म ही पचतत्वो से हुआ है और सत्व, रज और तमो-गुणमयी प्रकृति ही हममे प्रधान है तो हम उससे परे की वस्तुओ को कैसे जान सकती हैं? यह सब जान कर भी जब तुम ऐसी बातें करते हो तो हमे ऐसा लगता है जैसे तुम मन, वचन, कर्म से शत्रुओं की सी बातें कर रहे हो।

विशेष—जिस निर्गुण पथ पर सनकादि ऋषि भी सफलतापूर्वक आरूढ़ न हो सके, उस पर गवार गोपियाँ कैसे आरूढ हो सकेंगी। वस्तुत यह असम्भव है और असम्भव पथ को ग्रहण कराना ऊधो की बुद्धिमानी नहीं है।

ऊधो! और कछू कहिबे को?
सोऊ कहि डारो पा लागँ, हम सब सुनि सहिबे को॥
यह उपदेस आज लौं मैं, सखि, स्रवन सुन्यो नहिं देख्यो।
नीरस कटुक तपन जोवनगत, चाहत मन उर लेख्यो!

बसत स्याम निकसत न एक पल हिये मनोहर ऐन।
या कहँ यहाँ ठौर नाहीं, लै राखो जहाँ सुचैन॥
हम सब सखि गोपाल-उपासिनि हमसों बातें छाँडि।
सूर मधुप ! लै राख मधुपुरी कुबजा के घर गाडि॥२३६॥

शब्दार्थ—या—अर्थात निर्गुण। ऐन—घर। सुचैन—अमन-चैन।

व्याख्या—अपनी विवशता का वर्णन करती हुई गोपियाँ ऊधो से कहती हैं कि हे उद्धव, कुछ और कहने के लिए यदि शेष रह गया हो तो हम तुम्हारे पैर छूकर कहती हैं, उसे भी कह डालो। इस समय हमारा समय बुरा है अतः हम सब कुछ सुनने और सहने को प्रस्तुत हैं। गोपियों में से ही एक दूसरी गोपी से सम्बोधन करके कहती है कि हे सखी, आज तक हमने तो यह उपदेश न तो किसी को देते सुना और न देखा। यह रूखा और कडुआ उपदेश जो सुनते ही जीवन के लिए सन्तापदायी प्रतीत होता है, उसे यह हमारे हृदय-पटल पर अंकित करना चाहता है। हमारे हृदय में तो सुषमाधाम श्याम निरन्तर निवास करते हैं, वे एक पल के लिए भी इसमें से नहीं निकलते। अतः उद्धव, इस तुम्हारे निर्गुण के लिए यहाँ कोई स्थान नहीं है। इसे तो तुम वहाँ ले जाओ जहाँ शान्ति एवं चैन हो। सूर कहते हैं कि गोपियों ने उद्धव से कहा कि हमारी राय में तो तुम इसे मथुरा में कुब्जा के घर पर सम्भाल कर रख देना। वहीं इसका सम्मान हो सकेगा।

विशेष—इस पद में काकुवक्रोक्ति अलंकार है।

ऊधो ! कहियो सबै सोहतो।
जाहि ज्ञान सिखवन तुम आए सो कहो ब्रज में कोय तो ?
अतहु सीख सुनहुगे हमरी कहियत बात बिचारि।
फुरत न बचन कछु कहिबे को रहे प्रीति सों हारि॥
देखियत हौ करुना की मूरति, सुनियत हौ परपीरक।
सोय करौ ज्यों मिटे हृदय को दाहपरै उर सीरक॥
राजपथ तें टारि बतावत उरझ कुबील कुपैंडो।
सूरजदास समाय कहाँ लौं अज के बदन कुम्हैंडो ? ॥२३७॥

शब्दार्थ—राजपथ—भक्ति का चौड़ा मार्ग। उरझ—उलझाने वाली। कुबील—ऊँचा-नीचा। अज—बकरा। बदन—मुख।

व्याख्या—निर्गुणोपदेश के अनौचित्य का प्रतिपादन करती हुई गोपियाँ कहती हैं कि हे उद्धव, जो सबको अच्छी लगे वही बात कहो। तनिक बताओ कि जिसे तुम ज्ञान सिखाने आये हो वह ब्रज में कौनसी स्त्री थी ? देखो, बात को सोच समझकर करना चाहिए। तुम हमारी यह शिक्षा अवश्य मान लो। उद्धव जी इस कथन को सुनते ही अवाक् रह गये, उनके मुँह से बात नहीं निकली। वह गोपियों की प्रीति देखकर पराहत हो गये। जब उन्हें गोपियों ने इस प्रकार मौन धारण किये देखा तो कहने लगीं

कि देखने मे तो तुम दया के अवतार मालूम पडते हो किन्तु तुम्हारी बातो से ऐसा लगता है कि जैसे दूसरो के लिए बड़े दु खदायक हो। उद्धव, हम तुमसे फिर कहे देती हैं कि तुम अब वही करो जिससे हमारे हृदय का दाह मिटे और हमे शान्ति प्राप्त हो। तुम तो हमे सीधे सादे मार्ग से हटाकर ऊबड-खाबड काँटो से युक्त मार्ग बता रहे हो। सूर कहते हैं कि गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हमारी समझ मे यह बिल्कुल नही आता कि बकरे के मुह मे कुम्हडा कैसे समा सकता है।

विशेष—इस पद मे लोकोक्ति अलकार है।

ऊधो! तुमहूँ सुनो इक बात।
जो तुम करत सिखावन सों हमै नाहिन नेकु सुहात॥
ससि-दरसन बिनु मलिन कुमोदिनि ज्यों रवि बिनु जलजात।
त्यों हम कमलनयन बिन देखे तलफि तलफि मुरझात॥
घँसि चदन घनसार सजे तन ते क्यो भस्म भरात?
रहे स्रवन मुरलीधर सों रत, सिंगी सुनत डरात॥
अबलनि आनि जोग उपदेसत नाहिन नेकु लजात।
जिन पायो हरि परस सुधारस ते कैसे कटु खात?
अवधि-आस गनि गनि जीवति हैं, अब नहीं प्रान खटात।
सूर स्याम हम निपट बिसारी ज्यों तरु जीरन पात॥२३८॥

शब्दार्थ—जलजात—कमल। घनसार—कपूर। जीरन—जीर्ण, पुराना।

व्याख्या—निर्गुणोपदेश को कष्टदायक बता कर उससे विरत होने के लिए कहती हुई गोपियाँ ऊधो से कहती हैं कि हे ऊधो, तुम हमारी एक बात सुनो। तुम जो बात हमे सिखा रहे हो वह तो हमे बिल्कुल नही भाती। जिस प्रकार कुमुदिनी चन्द्र-दर्शन के बिना और कमल सूर्य के बिना मलिन रहते हैं उसी प्रकार कृष्ण के बिना हम भी तडफ-तडफ कर मुरझा रही हैं। जिन कलेवरो को कपूर और चन्दन घिस कर लगा कर अलकृत किया था व भभूत किस प्रकार रमायेंगे? जिन कानो ने मुरलीधर की मुरली से लगन लगायी थी उन्हे सिंगी की बात सुनकर भय लगता है। तुम तो फिर भी हम अबलाओ को योग की शिक्षा दे रहे हो। तुम्हे अपने इस कार्य मे तनिक भी लज्जा का अनुभव नही होता। जिन्होंने कृष्ण के आलिगन रूपी अमृत को चखा है वे भला निर्गुण की कडवी बातो को अपने गले से कैसे उतारेंगी? आज दिन तक तो उनके प्रत्यागमन की आशा से अवधि के दिन गिन गिनकर जीवित रही हैं पर अब ये प्राण नही ठहर पा रहे हैं। हाय रे हमारा अभाग्य! हमे तो श्याम ने इस प्रकार भुला दिया है जैसे पेड पुराने पत्तो को उतार कर फेंक देता है।

विशेष—इस पद मे उपमा अलकार का अच्छा प्रयोग है।

ऊधो ! अँखियाँ अति अनुरागी।
इकटक मग जोवति अरु रोवति, भूलेहु पलक न लागी ।।
बिन पावस पावस ऋतु आई देखत, हो विदमान।
अब धौं कहा कियो चाहत हो ? छाँड़हु नीरस ज्ञान।।
सुनु प्रिय सखा स्यामसुंदर के जानत सकल सुभाव।
जैसे मिलै सूर प्रभु हमको सो कछु करहु उपाव ।।२३६।।

शब्दार्थ—विदमान—विद्यमान। इकटक—निर्निमेष। सुभाव—स्वभाव।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से विनय करती हुई कहती हैं कि हे उद्धव, हमारी आंखें अनुराग में बहुत अधिक डूबी हुई हैं। ये टकटकी बांध कर उनका मार्ग देखती हुई रोती रहती हैं। कभी भूल कर भी पलक नहीं लगातीं। बिना वर्षा के ही वर्षाऋतु आ गई है, यह तो तुम प्रत्यक्ष देख रहे हो। पता नहीं अभी तुम्हें और क्या इष्ट है ? इस शुष्क ज्ञान को छोड दो। हे श्यामसुन्दर के प्रिय मित्र, तुम तो सहज ही सब बातों के जानकार हो। जैसे भी सम्भव हो तुम बस कुछ ऐसा उपाय करो जिससे सूर के प्रभु श्याम हमें मिल जावें।

विशेष—'बिन पावस पावस ऋतु आई' में विभावना अलंकार है।

ऊधो ! कहत कही नहिं जाय।
मदनगोपाल लाल के बिछुरत प्रान रहे मुरझाय।।
अब स्यदन चढ़ि गवन कियो इत फिरि चितयो गोपाल।
तबहीं परम कृतज्ञ सबै उठि सग लगीं ब्रजबाल।।
अब यह औरे सृष्टि बिरह की बकति बाय-बौरानी।
तिनसों कहा देत फिरि उत्तर ? ज्यों उपजै परतीति।
सूरदास कछु बरनि न आवै कठिन बिरह की रीति ।।२४०।।

शब्दार्थ—स्यदन—रथ। बाय—वात-व्याधि। गवन—गमन। बौरानी—पागल होना।

व्याख्या—विरह व्यथा की अवर्णनीयता का प्रगटीकरण करती हुई गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हे ऊधो, विरह व्यथा के वर्णन का लाख प्रयत्न करने पर भी इसका वर्णन नहीं हो पाता। मदनगोपाल श्री कृष्ण के बिछुड़ने से हमारे प्राण मुरझा रहे हैं। जब रथ पर चढ़ कर श्री कृष्ण चल दिए तभी सब ब्रजयुवतियाँ अपने को परम अनुगृहीत समझ कर उठ कर उनके साथ लग गईं। आज तो इनकी दशा ही कुछ और हो गई है। आज तो ये विरह की बात से पीड़ित होकर पगलों जैसी बातें कर रही हैं। तुम इन पगलियों को बार-बार क्यों उत्तर देते हो ? किन्तु चाहे जैसे हो तुम इन्हें प्रतीत कराओ। सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि विरह-मार्ग बड़ा कठिन है। वह अवर्णनीय है।

विशेष—भाव यह है कि विरह व्यथा अवर्णनीय है अत ऊधो तुम व्यर्थ में ही

हम पगलियो के मुह लगकर अपनी प्रतिष्ठा घटा रहे हो। हम पर तुम्हारा कोई असर न होगा।

ऊधो ! यह मन अधिक कठोर।
निकसि न गयो कुभ कांचे ज्यों बिछुरत नंदकिसोर ॥
हम कछु प्रीति-रीति नहिं जानो तब ब्रजनाथ तजो।
हमरे प्रेम न उनको, ऊधो ! सब रस रीति लजो ॥
हमतें भली जलचरी बपुरी अपनो नेम निबाहैं।
जल तें बिछुरत ही तन त्यागैं जल ही जल को चाहैं ॥
अचरज एक भयो सुनो, ऊधो ! जल बिनु मीन जियो।
सूरदास प्रभु आवन कहि गए मन विस्वास कियो ॥२४१॥

शब्दार्थ—कुभ—घडा। जलचरी—मीन। बपुरी—बेचारी।

व्याख्या—अपने को धिक्कारती हुई गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हे ऊधो, हमारा यह मन भी बडा कठोर है। जिस प्रकार जल के निकलने से कच्चा घडा फूट जाता है उसी प्रकार नन्दलाल के बिछुडते ही न जाने यह भी क्यों न विदीर्ण हो गया ? वस्तुत यदि देखा जाय तो ब्रजनाथ से परित्यक्त होते हुए भी हम प्रेम की परिपाटी से भी अनभिज्ञ ही रही। यदि सच पूछा जाय तो हमारा प्रेम ही उनके प्रति सच्चा नहीं है। हमारे व्यवहार ने तो प्रेम की सारी रीतियों को लज्जित कर दिया। हमसे अच्छी तो जल में रहने वाली मछलियां रही जो अपने प्रेम के नियम का निर्वाह तो करती हैं। जल से अलग होते ही वे अपना शरीर त्याग देती हैं। वे केवल जल से ही प्रेम करती हैं। परन्तु उद्धव सुनो, यह भी एक आश्चर्य ही है कि मछलियाँ बनने वाली हम बिना कृष्ण रूपी जल के जीवित रहीं। पर सच पूछो तो इसमें आश्चर्य ही क्या है। सूर के प्रभु तो हमसे आने को कह गये थे। हमने उनकी इस बात पर विश्वास कर लिया और इसीलिए अब तक जीवित हैं।

विशेष—उपमा एव रूपकातिशयोक्ति अलकार है।

ऊधो ! होत कहा समुझाए ?
चित चुभि रही साँवरी मूरति, जोग कहा तुम लाए ?
पा लागौं कहियो हरिजू सों दरस देहु इक बेर।
सूरदास प्रभु सों बिनती करि यहै सुनैयो टेर ॥२४२॥

शब्दार्थ—पा—पैर। बेर—बार। टेर—पुकार।

व्याख्या—हरि-दर्शन कराने का अनुरोध करती हुई गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हे ऊधो, समझाने से भला क्या होगा ? हमारे मन में तो श्याम की मूर्ति गडी हुई है फिर तुम व्यर्थ में इस योग को क्यों लाये हो ? हम तुम्हारे चरण-स्पर्श कर निवेदन करती हैं कि तुम श्री कृष्ण से कह देना कि वे एक बार ...

सूर के प्रभु श्याम से विनयपूर्वक हमारी यही पुकार कह देना।

विशेष—इन चार पंक्तियों में गोपियों की विनय देखने योग्य है।

ऊधो ! हमैं जोग नहिं भावै।
चित मे बसत स्यामघन सुंदर सो कैसे बिसरावै ?
तुम जो कही सत्य सब बातैं, हमरे लेखे धूरि।
या घट भीतर सगुन निरंतर रहे स्याम भरि पूरि॥
पा लागौं कहियो मोहन सों जोग कूबरी दीजै।
सूरदास प्रभु-रूप निहारें हमरे सम्मुख कीजै॥२४३॥

शब्दार्थ—धूरि—मिट्टी, व्यर्थ। कूबरी—कुब्जा। बिसरावै—त्याग करे।

व्याख्या—श्री कृष्ण के दर्शनों की याचना करती हुई गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हे ऊधो, हमें तुम्हारा योग अच्छा नहीं लगता। हमारे चित्त में सुन्दर घनश्याम निवास करते हैं, उन्हें हम कैसे भुला दें ? तुमने जो कुछ कहा वह सब सच है, किन्तु हमारे लिये वह सब व्यर्थ है। इस हृदय में सगुण श्याम निरन्तर रहते हैं अतः निर्गुण के लिए स्थान रिक्त कहाँ ? हम चरण छूकर निवेदन करती हैं कि तुम मोहन से कह देना कि वे योग कुबरी को दे दें और सूर के प्रभु श्याम अपना रूप हमारे सम्मुख कर दें जिसे हम देखती रहें।

विशेष—जब सगुण श्याम गोपियों के अन्तस में निरन्तर रहते हैं तो फिर ऊधो के निर्गुण के लिए वहाँ स्थान ही कहाँ होगा !

ऊधो ! हम न जोगपद साधे।
सुंदर स्याम सलोनो गिरिधर नंदनदन आराधे॥
जा तन रचि रचि भूषन पहिरे भाँति भाँति के साज।
ता तन को कहै भस्म चढावन, आवत नाहिन लाज॥
घट-भीतर नित बसत साँवरो मोरमुकुट सिर धारे।
सूरदास चित तिनसों लाग्यो, जोगहि कौन सँभारे ?॥२४४॥

शब्दार्थ—जोगपद—योग। आराधे—आराधना करे। नित—हर समय।

व्याख्या—गोपियाँ पुनश्च उसी भाव को व्यक्त करती हुई कहती हैं कि हे ऊधो, हम योगपद की सिद्धि नहीं कर सकतीं। हमने तो उस सौन्दर्य निधि की आराधना की है जिसे लोग श्यामसुन्दर, गिरधर, नन्दनन्दन आदि संज्ञायें देते हैं। तनिक सोचो तो आप क्या कह रहे हैं। जिस शरीर पर रच-रचकर आभूषण पहन और जिसे नाना सज्जाओं से सजाया उसी शरीर पर भस्म लगाने के लिए तुम कहते हो। कितनी अनुपयुक्त बात है ! क्या तुम्हें ऐसी बातें करते लज्जा का अनुभव नहीं होता ? सूर कहते हैं कि गोपियों ने उद्धव से कहा कि हमारे अन्तस में तो सदैव श्यामसु मूर्ति ही मोरपखों का मुकुट पहने रहती है और हमारा चित्त उन्हीं से लगा है। फिर आपके

योग को कौन सभाले ?

विशेष—योग चित्तवृत्ति के निरोध का नाम है। अत. जब चित्त खाली नही है तो फिर योग को कहाँ सभाल कर रखा जाय ?

ऊधो ! कहियो यह संदेस।
लोग कहत कुबजा-रस-माते, तातें तुम सकुचौ जनि लेस ॥
कबहुँक इत पग धारि सिधारौ धरि हरिखंड सुवेस।
हमरो मन रंजन कीन्हे तें ह्वैहौ भुवननरेस ॥
जब तुम इत ठहराय रहौगे देखौगे सब देस।
नहिं बैकुंठ अखिल ब्रह्मांडहि ब्रज बिनु, हे हृषिकेस !
यह किन मंत्र दियो नँदनंदन तजि ब्रज भ्रमन-बिदेस ?
जसुमति जननी प्रिया राधिका देखे औरहि देस ?
इतनी कहत कहत स्यामा पं कछु न रह्यो अवसेस।
मोहनलाल प्रबाल मृदुलमन ततछन करी सुहेस ॥
को ऊधो, को दुसह बिरह-जुर को नृप नगर-सुरेस ?
कैसो ज्ञान, कह्यो किन कासो, किन पठ्यो उपदेस ?
मुख मृदुछबि मुरली-रव-पूरित गोरज-कर्बुर केस।
नट-नाटकगति बिकट लटक जब बन तें कियो प्रवेस ॥
अति आतुर अकुलाय धाय पिय पोंछत नैन कुसेस।
कुम्हिलानो मुख पद्म परस करि देखत छबिहि बिसेस ॥
सूर सोम, सनकादि, इंद्र, अज, सारद, निगम, महेस।
नित्य बिहार सकल रस भ्रमगति कहि गावहि मुख सेस ॥२४५॥

शब्दार्थ—बिनु—बिना। हृषिकेस—विष्णु। जुर—ज्वर। गोरज-कर्बुर केस—गायों के खुर पडने से उठी हुई धूल लगने के कारण धूमिल बाल। कुसेस—कमल।

व्याख्या—कृष्ण और कुब्जा के प्रेम पर व्यग्य करती हुई गोपियाँ कहती हैं कि हे ऊधो, तुम उनसे यह सन्देश कह देना कि लोगो का कहना है कि कृष्ण कुब्जा के प्रेम मे पागल हैं किन्तु उन्हे इस बात पर तनिक भी सकोच नही करना चाहिये। वे मोरपखो को धारण करके कभी इधर आने का कष्ट करें। हमारे मन को प्रसन्न करके वे भुवननरेश हो जायँगे। यह भी बता देना कि जब वे यहाँ स्थिरचित्त होकर ठहरेंगे और विचारपूर्वक सारे स्थानो की तुलना करेंगे तो उन हृषिकेश को यह बात मालूम हो जायगी कि सारी सृष्टि मे ब्रज के अलावा और कोई बैकुण्ठ नहीं है। तुम्हे यह सलाह किसने दी कि ब्रज को छोडकर इधर-उधर भटको। तुम्ही बताओ कि क्या यशोदा जैसी माता और राधा जैसी प्रिया और कही किसी देश मे मिल सकती है ? यह कहते हुए वह राधा स्नेह से शिथिल होकर बेसुध हो गई। कृष्ण के अनुराग से रंजित होकर

उसका नवपल्लव जैसे मन का प्रेम तुरन्त फूट निकला और वह मगल नक्षत्र की भाँति लाल हो गई। वह प्रेम की प्रबलता मे इतनी अचेत हो गई कि उसे कुछ सुध न रही कि उद्धव कौन है और यह विरहताप क्या है। वह यह भी भूल गई कि मथुरा मे इस समय कौन राजा है, और ज्ञान क्या वस्तु है? कौन किससे कह रहा है, तथा यह उपदेश किसने भेजा है? उन्हें कृष्ण के दर्शन होने लगे। वह देखने लगी कि गायों के खुरो से उत्पन्न मिट्टी के पड़ने के कारण धूल से धूमिल बाल हैं। वे मुरली बजा रहे हैं जिसकी स्वरलहरी चारो ओर मधुरता का विस्तार कर रही है और वे नाटक के एक नट के समान वन मे प्रवेश कर रहे हैं। इस माधुरी छवि को देखकर राधा अत्यन्त व्याकुल होकर दौडी। और इसी भ्रान्ति की दशा मे वह प्रियतम के कमल समान नेत्रो को पोछने लगी तथा उनके मुखकमल की मुरझाती हुई शोभा को छूकर बडी विशेषता से देखने लगी। सूर कहते हैं कि वह सम्पूर्ण आनन्दो से युक्त उसकी भ्रान्ति दशा धन्य है जिसमे नित्य विहार करते हुए सूर्य, चन्द्र, सनकादि ऋषिगण, इन्द्र, ब्रह्मा, सरस्वती, वेद तथा शिव और शेषनाग गाया करते हैं किन्तु फिर भी पार नहीं पाते।

विशेष—रूपक और रूपकातिशयोक्ति अलकार है।

ऊधो! हरिजू हित जनाय चित चोराय लयो।
ऊधो! चपल नयन चलाय अगराग दयो॥
परम साधु सखा सुजन जदुकुल के मानि।
कहौ बात प्रात एक साँची जिय जानि॥
सरद-बारिज सरिस दृग भौंह काम-कमान।
क्यों जीवहिं बेधे उर लगे विषम बान?
मोहन मथुरा पै बसै, ब्रज पठ्यो जोग सँदेस।
क्यों न काँपि मेदिनी कहत जुवतिन उपदेस?
तुम सयाने स्याम के देखहु जिय विचारी।
प्रीतम पति नृपति भए की गहे घर नारि॥
कोमल कर मधुर मुरलि अधर धरे तान।
पसरि सुधा पूरि रही कहा सुनै कान?
मृगी मृगज-लोचनी भए उभय एक प्रकार।
नाद नयनविष-तते न जान्यो मारनहार॥
गोधन तजि गवन कियो लियो विरद गोपाल।
नीके कै कहियो, यह भली निगम चाल॥२४१॥

शब्दार्थ—मृगज—हिरन का बच्चा। तते—तपे हुए। अगराग—सुगन्धित लेप। मेदिनी—भूमि।

व्याख्या—कृष्ण के प्रेम का उलाहना देती हुई गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि

हे ऊधो, श्री कृष्ण ने प्रेम प्रकट करके हमारे मन को चुरा लिया है। एक दिन था कि जब वे अपने चपल नेत्रों से देखते हुए चन्दन आदि लगाया करते थे। तुमको हम बहुत भला समझती हैं और श्री कृष्ण के तुम मित्र हो इसलिए कहती हैं कि जब किसी के हृदय को शरदकालीन कमल से सुन्दर नेत्रों से कमान रूपी भौंहों से छूटे हुए कठोर वाण बीध दें तो क्या वह जीवित रह सकता है? वे मथुरा में रहते हुए हमारे लिए योग का सन्देशा भेज रहे हैं और तब भी यह पृथ्वी नही काँपती। तुम स्याम के चतुर मित्र हो, तुम स्वय विचार कर लो कि हमारे प्रियतम अब राजा हो गये हैं और उन्हे एक सुन्दर स्त्री भी प्राप्त हो गई है। कुछ भी हो, उन्होने कोमल हाथो मे मुरली लेकर जो मधुर तानें हम सुनायी थी उसकी सरस अमृतधारा आज भी हमारे कानो मे बह रही है। इन हिरन के बच्चो की-सी नेत्रो वाली व्रजबालाओं की दशा हिरणियो की दशा के समान है। जिस प्रकार हिरणियाँ नाद के स्वर मे मस्त होकर व्याघ्र का विचार तक नही करती उसी प्रकार ये व्रजयुवतियाँ कृष्ण के कटाक्षो के विष वाणो से घायल हो गई हैं और वे अपने घातक कृष्ण को न पहचान सकीं। अब तो गोपाल गायो और ग्वालो को छोडकर चले गये। बडा यश कमाया है उन्होने! हे ऊधो, तुम जाकर उनसे पूछना कि क्या यही आपकी वैदिक मर्यादा है?

विशेष—उपमा, रूपक, तुल्ययोगिता तथा काकुवक्रोक्ति अलकार है।

मधुकर! जानत है सब कोऊ।
जैसे तुम औ मीत तुम्हारे, गुननि निपुनि हो दोऊ॥
पाके चोर, हृदय के कपटी, तुम कारे औ वोऊ।
सरवसु हरत, करत अपनो सुख, कैसेहू किन होऊ॥
परम कृपन थोरे धन जोवन उबरत नाहिन सोऊ।
सूर सनेह करै जो तुमसों सो करै आप-बिगोऊ॥२४७॥

शब्दार्थ—मीत—मित्र। वोऊ—वे भी। बिगोऊ—नाश।

व्याख्या—कृष्ण और ऊधो दोनों को फटकारती हुई गोपिया कहती हैं कि अब हम सब जान गई कि तुम कैसे हो और तुम्हारे मित्र कैसे हैं! तुम दोनो बडे गुणी एव निपुण हो। तुम दोनो पक्के चोर और हृदय के कपटी हो। तुम भी काले हो और वे भी काले हैं। चाहे कोई कैसा भी हो हो तुम दोनो तो उसका सर्वस्व हरण करते हो और सुख उठाते हो। यदि यहा कोई परम कृपण हो और थोडे से ही धन से अपना जीवन बिताना चाहे तो उसका उद्धार नही है। भाव यह कि हमने बडी सावधानी से कृष्ण से प्रेम किया है पर उसका भी कुफल हमे भुगतना पड रहा है। अन्त मे गोपियों ने कहा कि जो कोई तुमसे प्रेम करे उसका तो तुम बस नाश ही समझो।

विशेष—भ्रमरगीतसार मे एक अन्य स्थान पर सूर ने और भी कहा है—

कीन्हीं सदा कृपण की संगति, कबहुँ न कीन्हीं भोग।

मधुकर ! कहियत बहुत सयाने ।
तुम्हरी मति कापै बनि प्रायं हमरे कान-प्रजाने ॥
तैं सोई तू, तैसो तेरो ठाकुर, एकहि बरनहि बाने ।
पहिले प्रीति पिवाय सुधारस पाछे जोग बखाने ॥
एक समय पंकजरस बासे दिनकर ग्रस्त न माने ।
सोइ सूर गति भइ ह्याँ हरि बिनु हाथ मीडि पछिताने ॥२४८॥

शब्दार्थ—बरन—वर्ण । बाने—ढग के । मीडि—मल कर ।

व्याख्या—कृष्ण के प्रेम का उलाहना देती हुई गोपिया उद्धव से कहती हैं कि मधुकर, तुम तो बहुत सयाने कहलाते हो । आप जैसी चतुरता और किसमे है ! लेकिन आप हमारे लिए बडे भोले बन रहे हैं । जैसे तुम हो वैसे ही तुम्हारे ठाकुर हैं । दोनों का वर्ण भी एक-सा है और बाना भी । पहले तो उन्होंने प्रेम का अमृत पिलाया है और अब योग की बातें उडा रहे हैं । हमारी तो वही दशा है जैसी उस भ्रमर की हुई थी । कमल के रस मे मग्न होकर वह भौंरा उसमे तल्लीन हो गया और रात आने पर कमल के बन्द होने पर वह उसीमे बन्द हो गया । फिर वह सोचता रहा कि प्रात काल सूर्य के उदय होने पर कमल के खिलने पर मुक्त हो जायगा; परन्तु ऐसा नही हुआ । एक हाथी आया और उसने उस कमल को तोड-मरोडकर फेंक दिया । हे ऊधो, उसी भ्रमर के समान हमारी भी गति हुई है । अब तो हमे हाथ मल-मल कर पछताना पड रहा है ।

विशेष—(i) उपर्युक्त पद मे निम्न श्लोक का भाव है—

रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभात भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पङ्कजश्री ।
इत्थ विचिन्तयति पद्मगते द्विरफे हाहन्त ! हन्त ! नलिनी गज उज्जहार ॥

(ii) उपमा और काकुवक्रोक्ति अलकार है ।

मधुकर ! कहत संदेसो सूलहु ।
हरिपद छांडि चले तातें तुम प्रीतिप्रेम भ्रमि भूलहु ॥
नहिं या उचित मृदुल श्रीमुख की जो तुम उर मे हूलहु ।
बिलज न बदन होत या उचरत जो सधान न मूलहु ॥
उत बड ठौर नगर मथुरा, इत तरनि तनूजा कूलहु ।
उत महराज चतुर्भुज सुमिरौ, इत किसोरनंद दूलहु ॥
जे तुम कही बडेन की बतियाँ, ब्रज जन नहिं समतूलहु ।
सूर स्याम गोपी सग बिलसे कठ धरे भुज मूलहु ॥२४९॥

शब्दार्थ—सूलहु—शूल उत्पन्न करते हो । हूलहु—चुभाते हो । जो सधान मूलहु—यदि कृष्ण के कहे हुए वचन मे मिलावट न होती । तरनि तनूजा—सूर्य की कन्या यमुना ।

व्याख्या—गोपिया योग के सदेश पर व्यग्य करती हुई ऊधो से कहती है कि मधुकर, तुम यह योग का सन्देश सुनाकर हमारे हृदय मे एक टीस उत्पन्न कर रहे हो ।

ज्ञात यह होता है कि तुम भी हरिचरणों को छोड़ आने के कारण उनके प्रेमावेश में भटककर यह भूल कर रहे हो। यह शिक्षा जो तुम हमें दे रहे हो श्री कृष्ण के कमलमुख की कभी नहीं हो सकती। यदि तुम उनके कथन में अपनी ओर से कुछ नमकमिर्च लगाकर न कहते तो तुम हमारे सामने इस प्रकार लज्जा का अनुभव न करते। जहा से तुम आये हो वह स्थान बडा है। उसे मथुरा कहते हैं। यहाँ सुन्दर यमुना नदी का किनारा है। वहा जाकर महाराज चतुर्भुज विष्णु का स्मरण करना। यहाँ वे लोग तो उन्हें जानते तक नहीं। यहाँ तो प्रियतम नदलाल की दुहाई दी जाती है। अत यहाँ आकर उन्हें विस्मृत करके नदलाल के गुणगान करना ही तुम्हारे लिए अधिक उचित होगा। तुम जो बडो की बातें करते हो उनका ब्रजवासियो के लिए कोई महत्व नहीं है। यहाँ तो सूर के प्रभु श्याम ने गलबाहे डालकर गोपियो के साथ रगरेलियाँ की हैं। सभवत तुम्हें इसकी सूचना नहीं है।

विशेष—इस पद में उल्लेख अलकार है।

मधुकर ! यहाँ नहीं मन मेरो।
गयो जो सग नवनदन के बहुरि न कीन्हों फेरो॥
लयो नयन मुसुकानि मोल है, कियो परायो चेरो।
सौंप्यो जाहि भयो बस ताके, बिसरयो बास-बसेरो॥
को समुझाय कहै सूरज जो रसबस काहू केरो ?
मदे पर्‌यो, सिधारु अनत लै, यह निर्गुन मत तेरो॥२५०॥

शब्दार्थ—बास बसेरो—निवासस्थान। मदे—मदे बाजार मे। अनत—अन्यत्र।

व्याख्या—अपने मन को पराधीन बताती हुई गोपियाँ कहती हैं कि हे मधुकर ! हमारा मन ही यहाँ नहीं है। वह तो नन्दनन्दन के साथ कुछ एसा गया है कि फिर लौटने का नाम भी नहीं लिया। उसे तो किसी ने नयनो के कटाक्ष से देखकर मुस्कराहट का मूल्य देकर खरीद लिया और हमारे हाथो से उसे निकालकर दूसरे के हाथो मे दे दिया अर्थात अब वह किसी दूसरे का हो चुका है। जब नेत्रो ने दलाली करके मुस्कान का मूल्य चुकता कर दिया तो जाकर उसे सौंप दिया और अब वह उसी के वश मे है। वह अब अपने घर को भूल चुका है। सूर कहते हैं कि गोपिया उद्धव से कहती हैं कि जो दूसरे के साथ रसमग्न हो गया है उसे भला अब कौन समझा सकता है। अत तुम्हारे निर्गुण का महत्व यहाँ कुछ नहीं है अत अच्छा हो कि तुम इसे लेकर और कहीं चले जाओ।

विशेष—प्रस्तुत पद मे रूपक अलकार है।

मधुकर ! हमहीं को समुझावत।
बारबार ज्ञानगाथा ब्रज अबलन आगे गावत॥

नँदनंदन बिन कपट कथा कहि कत अनरुचि उपजावत ?
स्रक चंदन तन मे जो सुधारत यह कैसे सचु पावत ?
देखु बिचारि तुहि अपने जिय नागर है जु कहावत ?
सब सुमनन फिरि फिरि नीरस करि काहे को कमल बँधावत ?
कमलनयन करकमल कमलपग कमलवदन बिरमावत।
सूरदास प्रभु अलि अनुरागी काहे, को और भुकावत ।।२५१।।

शब्दार्थ—स्रक—माला। भुकावत—बकवाद करता है। अबलन—अबलाओं।

व्याख्या—उद्धव के कथन और कर्म मे अन्तर दिखाती हुई गोपियाँ उनसे कहती हैं कि हे मधुकर ! तुम बस हमी को समझाना जानते हो। बार-बार अपनी ज्ञानकथा को अजांगनाओं के सामने कहते हो। नन्दनन्दन की कथा छोड़कर बनावटी बातें कह-कहकर हमारे हृदय मे अपने लिए घृणा के बीज जमा रहे हो। तुम तो स्वयं नगर के रहने वाले शिष्ट व्यक्ति हो, तुम्हीं अपने मनमे विचार करके देखो कि जिन शरीरों को चन्दन और मालाओ से सजाया है वह इन बातो से कैसे तृप्त हो सकेंगे ? तुम पहले अपनी भी ओर देख लो। दूसरों की आसक्ति पर कीचड पीछे उछाल लेना। तुम सब पुष्पों को नीरस समझ कर कमल में ही इतने आसक्त कैसे होते हो कि उसके बन्दी होकर भी पडे रहते हो। सूर कहते हैं कि गोपियों ने उद्धव से कटाक्ष करके कहा कि हे भ्रमर ! *स्वयं प्रेमी होकर भी कमलनयन, कमलपाणि, कमलचरण और कमलमुख* कृष्ण को त्यागकर अन्य के विषय में क्यो बकवाद करते हो ? *तुम्हें भ्रमर होने के कारण चलो हमारे न सही अपने ही प्रेम के नाते से उस सर्वांग कमल के गुणगान करने* चाहिये।

विशेष—इस पद में अप्रस्तुत प्रशसा अलकार है।

को गोपाल कहाँ को वासी, कासों है पहिचान ?
तुमसों स देसो कौन पठाए, कहत कौन सों आनि ?
अपनी चाँड आनि उडि बैठ्यो भँवर भलो रस जानि।
कै वह बेलि बढी कै सूखो, तिनको कह हितहानि ।।
प्रथम वेनु बन हरत हरिन-मन राग-रागिनी ठानि।
जैसे बधिक बिसासि बिबस करि बधत बिषम सर तानि ।।
पय प्यावत पूतना हनी, छपि बालि हन्यो, बलि दानि।
सूपनखा, ताडका निपाती सूर स्याम यह बानि।।२५२।।

शब्दार्थ—चाँड—अभिलाषा। बिसासी—विश्वासघाती। बिबस—विवश।

व्याख्या—कृष्ण की निष्ठुरता पर व्यग्य करती हुई गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि श्री कृष्ण को मधु के साथ हलाहल देने की आदत तो जन्म-जन्मान्तर से रही है अतः इस विषय मे उनसे कुछ कहना व्यर्थ है। गोपाल कौन हैं, कहा रहते हैं, उनका प्रेम ही किससे है ? तुम्हारे हाथो यह सन्देश किसने भेजा है और तुम यह किसे सुना रहे हो ?

उनकी दशा तो भ्रमरो जैसी है जो स्वेच्छा से जहाँ अधिक रस दिखाई दिया उन्ही की वेलो पर जा बैठे। चाहे वे वेलें हरी-भरी रहे या सूख जायें, उनकी इसमे हानि ही क्या है। जिस प्रकार व्याध वन मे जाकर मुरली द्वारा अनेक राग-रागनियो की मधुर लय लहरो से पहले तो हरिणी के मन को वेबस कर देता है और अपना विश्वास जमाता है फिर उसके साथ विश्वासघात करके कठोर वाण खींचकर मारता है और उस भोली विवश हरिणी के प्राण ले बैठता है, ठीक इसी प्रकार कृष्ण ने हमारे साथ किया है। यह उनके लिए कोई नवीन बात नहीं है, यह तो उनकी पुरानी आदत है। दूध पिलाती हुई पूतना को मारा, बालि को छिपकर मारा। बेचारे बलि को दान देते हुए मार डाला। इसी प्रकार शूर्पणखा और ताडका को मारा। सूर के स्वामी की तो यह आदत है।

विशेष—(i) अप्रस्तुत प्रशसा और उपमा अलकार है।

(ii) इस पद मे सूर ने मनोविश्लेषण का अच्छा परिचय दिया है।

(iii) रामावतार के कार्यों को भी कृष्ण के माथे ही मढ दिया है।

मधुकर के पठए तें तुम्हरो व्यापक न्यून परो।
नगर नारि-मुखछवि-तन निरखत द्वै बतियाँ बिसरीं।
ब्रज को नेह, अरु आप पूर्नता एकौ ना उबरी।
तीजो पथ प्रगट भयो देखियत जब भेंटी कुबरी॥
यह तौ परम साधु तुम डहक्यो, इन यह मन न धरी।
जो कछु कह्यो सुनि चल्यो सीस धरि-जोग जुगुति-गठरी॥
सूरदास प्रभुता का कहिए प्रीति भली पसरी।
राजमान सुख रहै कोटि पै घोष न एक घरी॥२५३॥

शब्दार्थ—व्यापक—व्यापकता। नगर नारि—मथुरा की चतुर स्त्रियों की। तीजो पथ—तीसरा पथ। यह—ऊधो लिए आया है।

व्याख्या—योग-सन्देश से चिढकर कृष्ण पर व्यग्य करती हुई गोपियाँ कहती हैं कि हे कृष्ण! इन मधुकर महाशय को यहाँ भेजने से आपकी व्यापकता मे अभाव उत्पन्न हो गया। जब से आपने मथुरा की चतुर स्त्रियों की ओर ताकना आरम्भ कर दिया है तब से दो बातें भूल गये हैं। वे दो बातें हैं ब्रज का स्नेह और स्वय की पूर्णता। जब से कुबरी का आलिगन किया तब से तो आपका तीसरा ही पथ प्रगट हो गया है। खैर, कुछ भी हुआ पर यह बेचारा उद्धव तो बडा सीधा-सादा है, तुमने इसे धोखा दे दिया है। यह तो अपने सीधेपन क कारण यह भी न समझ सका कि तुम इसे बना रहे हो। अत तुमने जैसे ही कहा वैसे ही यह बेचारा जोग की पोटली सिर पर रख कर चल दिया। सूर कहते हैं कि गोपियो ने कहा कि आपके मालिक के तो कहने ही क्या हैं। उन्ही के कारण आपके प्रेम की धूम मच गई। आपको चाहे वहाँ राज्य का मान तथा अनेक प्रकार के सुख प्राप्त हो गये हों किन्तु यहाँ इन ग्वालों की नगरी मे तो एक घडी भी चैन नहीं है।

विशेष—पहले पदों में गोपियाँ कृष्ण को भोला-भाला समझती रहीं, वे कहती रहीं कि तुम्हें कृष्ण ने यहाँ नहीं भेजा, हे उद्धव, कहीं मार्ग भूल गये हो। प्रस्तुत पद में वे ऊधो को सीधा-सादा कहने लगीं और कृष्ण को बुरा। वस्तुतः विरह में जो उनके मन में आता है सो कहने लगती हैं।

मधुकर ! बादि बचन कत बोलत ?
तनक न तोहिं पत्याऊँ, कपटी अंतर-कपट न खोलत।।
तू अति चपल अलप को संगी विकल चहूँ दिसि डोलत।
मानिक काँच, कपूर कटु खली, एक संग क्यों तोलत ?
सूरदास यह रटत वियोगिनी दुसह दाह क्यों झोलत।
अमृतरूप आनंद अग निधि अनमिल अगम अमोलत ।।२५४।।

शब्दार्थ—कटु—कड़वी। अंगनिधि—श्री कृष्ण के सगुण रूप के समुद्र से। अनमिल—बेमेल। अमोलत—अमूल्य ठहराना।

व्याख्या—निर्गुण-साधना की खिल्ली उड़ाती हुई गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हे मधुकर ! तुम व्यर्थ की बातें क्यों बक रहे हो ? हमें तुम पर तनिक भी विश्वास नहीं आता। तुम तो इतने कपटी हो कि अपने मन का कपट अब भी प्रगट नहीं कर रहे हो। आखिर बहुत चंचल और ओछे व्यक्ति के साथी हो न ! चारों ओर यों ही व्याकुल होते डोल रहे हो। तू माणिक्य और काँच को तथा कपूर और कड़वी खली को बराबर कैसे बता रहा है ? सूर कहते हैं कि वियोग से व्यथित गोपियों ने उद्धव से बार-बार कहा कि तू हमें क्यों जला रहा है ? तू अपने बेमेल अगम्य निर्गुण को अमृत-रूप आनन्दमय सगुण कृष्ण के सदृश अमूल्य क्यों ठहरा रहा है ?

विशेष—चौथी पंक्ति में प्रतिवस्तुपमा तथा अन्तिम पंक्ति में वृत्यानुप्रास अलंकार है।

मधुकर ! देखि स्याम तन तेरो।
हरि-मुख की सुनि मीठी बातें डरपत है मन मेरो।।
कहत हौं चरन छुवन रसलंपट, बरजत हौं बेकाज।
परसत गात लगावत कुंकुम, इतनी में कछु लाज ?
सुधि बिवेक अरु बचन-चातुरी ते सब चित्त चुराए।
सो उनको कहो कहा बिसारयो, लाज छाँड़ि ब्रज आए।।
अब लौं कौन हेतु गावत हैं हम आगे यह गीत।
सूर इते सो गारि कहा है जो पै त्रिगुन अतीत ? ।।२५५।।

शब्दार्थ—अतीत—परे। गारि—गाली। बरजत—रोकना।

व्याख्या—निर्गुणोपदेश से उत्पन्न अपने मानसिक खेद को प्रगट करती हुई गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हे मधुकर ! तेरा श्याम कलेवर देखकर और कृष्ण

के मुह की चिकनी-चुपडी बातें तुझसे सुनकर हमारा तो हृदय ही त्रस्त हो गया है। अरे रस के लोभी ! हम तो केवल एक बार उनके चरण-स्पर्श मात्र की ही विनय तुझसे कर रही हैं पर तू व्यर्थ ही हमे इसके लिए मना कर रहा है। जब उन्होने हमारे शरीर का आलिगन किया था तथा उस पर केसर का लेप किया था तो अब केवल इतनी-सी बात (चरण-स्पर्श) मे भी क्या कुछ शर्म है ? उन्होंने तो अपनी बाँकी चितवन से हमारी बुद्धि, विवेक और वचन-चातुर्य सब कुछ हर लिये। वे यहाँ अपनी कौनसी वस्तु भूल गये थे जिसके लिए तुम निर्लज्ज होकर यहाँ आ धमके हो। सूर कहते हैं कि गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि अब तक तू अपना वही निर्गुण का गीत हमारे सम्मुख क्यो गा रहा है ? तू जो हमे त्रिगुणातीत से ध्यान लगाने को कह रहा है इससे बडी गाली और तू हमें दे ही क्या सकता है ?

विशेष—त्रिगुणातीत से तात्पर्य है सत्य, रज तथा तम ; इन तीनो गुणों से अपरिच्छिन्न अर्थात् निर्गुण।

मधुकर काके मीत भए ?
दिवस चारि की प्रीति-सगाई सो लै अनत गए ॥
उहकत फिरत आपने स्वारथ पाखंड और ठए।
चांड सरे चिन्हारी मेटी, करत है प्रीति नए ॥
चितहि उचाटि मेलि गए रावल मन हरि जु लए।
सूरदास प्रभु दूत-धरम तजि बिष के बीज बए ॥२५६॥

शब्दार्थ—चांडे—इच्छा। सरे—निकल जाने पर। रावल—महल। बए—बोना।

व्याख्या—श्री कृष्ण की निष्ठुरता पर उपालम्भ देती हुई गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि भला भौंरे भी कभी किसी के मित्र बने हैं। चार दिन के लिए प्रेम दिखा कर अन्यत्र चलते बनते हैं। अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए दूसरो को फसाते और बहकाते फिरते हैं और नये-नये आडम्बर रचते हैं। मन की हौंस पूरी हो जाने पर मित्रता तो दूर रही, जान-पहिचान तक नही रखते। ये कभी किसी से प्रेम नही करते। देखा, स्वार्थ पूरा हो जाने पर किस प्रकार चित्त को हटाकर तथा हमारे मन को चुरा कर महलो मे जाकर रहने लगे हैं ! सूर कहते है कि गोपियो ने उद्धव को लक्ष्य करके कहा कि आप दूत के कर्त्तव्यो को विस्मृत करके विष-बीज बो रहे हो।

विशेष—दूत का सत्कर्त्तव्य यह है कि वह जिसका जो कुछ भी सन्देश लाया है उसे नितान्त सत्य एव न्यायपूर्वक कह दे। उसमें कुछ अपनी ओर से मिलाकर कहना उसके लिए उचित नही है। उद्धव जो ऐसा ही कर रहे हैं अत गोपियाँ उन्हें फटकार रही हैं।

मधुकर ! कहाँ पढ़ी यह नीति ?
लोकवेद स्रुति ग्रथरहित सब कथा कहत विपरीत ॥

जन्मभूमि व्रज, जननि जसोदा केहि अपराध तजी
अति कुलीन गुन रूप अमित सब दासी जाय भजी ॥
जोग समाधि गूढ़ स्रुति मुनिमग क्यों समुझि हैं ग्वारि ।
जौ पै गुन-अतीत व्यापक तौ होहि, कहा है गारि ?
रहु रे मधुप ! कपट स्वारथ हित तजि बहुबचन बिसेखि ।
मन क्रम बचन बचत यहि नाते सूर-स्याम-तन देखि ॥२५७॥

शब्दार्थ—गारि—गाली । स्रुति—वेद आदि । अमित—अत्यधिक ।

व्याख्या—कृष्ण के व्यवहारो पर आक्षेप करती हुई गोपियाँ ऊधो से कहती हैं कि हे मधुकर ! यह नीति-शास्त्र तुमने कहाँ से पढा है कि अबलायें योग-साधन करें ? यह बात तो लोक तथा वेद आदि ग्रन्थो के उपदेशो के बिल्कुल विपरीत है । चलो हम यदि यह भी मान लें कि हमारी आसक्ति में काम की गन्ध है अतः हमें आप परमार्थ की ओर लगाने आये हैं किन्तु उन्होने अपनी प्यारी जन्मभूमि तथा माता यशोदा को किस अपराध मे छोडा है ? उनमे तो काम की गन्ध नहीं है । यदि वे वीतरागी बन गये तो फिर हमारे लिए ही बने होंगे । उस अत्यन्त कुलीन तथा अत्यधिक गुणशालिनी सर्वांगसुन्दरी दासी को अपने घर मे कैसे रख लिया ? अरे यह योग की समाधि बहुत गूढ़ है । श्रुतियो मे उसे मुनि-मार्ग कहा गया है । उसे हम ग्रामीण अबलायें कैसे समझ सकती हैं ? यदि त्रिगुणातीत तुम निर्गुण को सर्वव्यापक कहते हो तो पतिव्रता स्त्रियो के लिए इससे बडी गाली और क्या हो सकती है ? अतः हे भौंरे ! अब बस तू चुप हो, अधिक बातें मत बना । बहुत हो चुका । कोई भी भली स्त्री इन गालियो को सुनना नहीं चाहेगी । सूर कहते हैं कि गोपियो ने उद्धव से कहा कि हम मन, वचन और कर्म से कहती हैं कि इस उग्र अपराध मे भी तुम इसलिए बच रहे हो कि हमे श्याम की बहुत शर्म है , नही तो तुम्हारी पूजा पूरी ही कर देती ।

विशेष—गोपियों का अभिप्राय यह है कि यदि वे हमे योग की शिक्षा देते हैं तो फिर आप योग धारण क्यो नहीं करते । आप तो उस कुब्जा के साथ रसकेलियाँ करते हैं और हमारे लिए भभूत लगाने के लिए भेजी है । ठीक है खुद मियाँ फजीहत और दीगरे नसीहत ।

मधुकर ! होहु यहां तें न्यारे ।
तुम देखत तन अधिक तपत है अरु नयनन के तारे ॥
अपनो जोग सैंति धरि राखौ, यहाँ लेत को, डारे ?
तोरे हित अपने मुख करिहैं मीठे ते नहिं खारे ॥
हमरे गिरिवरधर के नाम गुन बसे कान्ह उर वारे ।
सूरदास हम सबै एकमत, तुम सब खोटे कारे ॥२५८॥

शब्दार्थ—सैंति—सहेज कर । न्यारे—अलग । को—कौन । कारे—काले ।

व्याख्या—उद्धव को फटकारती हुई गोपियाँ कहती हैं कि हे मधुकर ! तुम

हाँ से अलग हट जाओ। तुम्हे देखते ही हमारा शरीर और हमारे नेत्र तपने लगते हैं। टो यहाँ से और अपने इस योग को सम्भाल कर अपने पास रखो। यहाँ व्यर्थ मे इसे यो फेंक रहे हो ? यहाँ इसे लेने वाला ही कौन है ? केवल तुम्हारे मन को राजी रखने लिए हम अपने गुड़ के मीठे स्वाद को खारी नहीं बना सकती अर्थात् सरस सगुण को छोड़कर नीरस निर्गुण को नही अपना सकती। हमारे हृदय मे तो बाल्यकाल से ही गिरवरधारी कृष्ण के नाम और गुण बस रहे है। यह तुमसे बार-बार कह चुकी हैं पर तुम नही मान रहे हो। सूर कहते हैं कि गोपियो ने उद्धव से कहा कि तुम्हारी इन बातो को देखकर आज हम सभी की एक राय है कि तुम जितने भी काले हो, सबके सब खोटे हो।

विशेष—जब उद्धव जी महाराज बार-बार योग के सन्देश को दोहराते हैं तो गोपियो के पास उन्हें फटकारने के अतिरिक्त और कोई उपाय ही नही रहता।

मधुप! बिराने लोग बटाऊ।
दिन दस रहत काज अपने को तजि गए फिरे न काऊ।।
प्रथम सिद्धि पठई हरि हमको, आयो ज्ञान अगाऊ।
हमको जोग, भोग कुब्जा को, वाको यहै सुभाऊ।।
कीजे कहा नदनंदन को जिनके है सतभाऊ।
सूरदास प्रभु तन मन अरप्यो प्रान रहैं कै जाऊ।।२५१।।

शब्दार्थ—बटाऊ—पथिक। काऊ—कभी। अगाऊ—आगे-आगे।

व्याख्या—उद्धव को भौंरे के सम्बोधन से पुकार कर कहती हैं कि हे मधुप! पथिक लोग सदा पराये ही होते हैं। वे अपनी स्वार्थपूर्ति के लिए चाहे दसेक दिन भले ही ठहर जायें किन्तु अन्त मे तो वे जाते ही हैं और ऐसे जाते हैं कि फिर कभी लौटते ही नहीं। भगवान् कृष्ण ने पहले हमारे लिए सिद्धि भेजी थी पर अब यह ज्ञान आगे आ गया। हमारे लिए योग और कुब्जा को जो वे भोग दे रहे है, यह तो उनका स्वभाव ही है। किन्तु हमे जब उन नन्दनन्दन से प्रेम है तो फिर उनके लिए क्यो कुछ कहेंगी और करेंगी? हमने तो सूर के प्रभु श्याम को अपना तन मन सब कुछ अर्पित कर दिया है, हमारे प्राण रहें चाहे चले जायें, अब हम और कर ही क्या सकती हैं?

विशेष—'प्रथम सिद्धि पठई' का अर्थ यह है कि पहले तो मिलन रूप मे हमें सिद्धि प्राप्त हुई थी। 'आयो ज्ञान अगाऊ' से तात्पर्य यह है कि यह ज्ञान तो अब उन्होने बाद मे भेजा है।

मधुकर! महाप्रवीन सयाने।
जानत तीन लोक की बातें अबलन काज अयाने।।
जे कच कनक-कचोरा भरि-भरि मेलत तेल-फुलेल।
तिन केसन को भस्म बतावत, टेसू कैसो खेल।।

जिन केसन कबरी गहि सुंदर अपने हाथ बनाई
तिनको जटा धरन को, ऊधो ! कैसे कै कहि आई
जिन स्रवनन ताटक, खुभी अरु करनफूल खुटिलाऊ
तिन स्रवनन कसमीरी मुद्रा, लटकन, चीर झलाऊ
भाल तिलक, काजर चख, नासा नकबेसरि, नथ फूली
ते सब तजि हमरे मेलन को उज्वल भस्मी खूली।
कंठ सुमाल, हार मनि, मुक्ता, हीरा, रतन अपार।
ताही कठ बाँधिबे के हित सिंगी जोग सिगार।
जिहि मुख गीत सुभासत गावत करत परस्पर हास।
ता मुख मौन गहे क्यों जीवैं, घूटे ऊरध स्वास ?
कचुकि छीन, उबटि घसि चंदन, सारी सारसचंद।
अब कथा एकै अति गूदर क्यों पहिरैं, मतिमंद ?
ऊधो, उठो सबै पा लागै, देख्यो ज्ञान तुम्हारो।
सूरदास मुख बहुरि देखिहैं जीजो कान्ह हमारो।।२३०।।

शब्दार्थ—कचोरा—कटोरा। ताटक, खुभी, खुटिला—कान के गहने। फूली—फूल, लौंग। सारी—साड़ी। सारस—कमल। गूदर—फटी। टेसू—लड़कों का एक उत्सव। कबरी—चोटी। झलाऊ—झोल। खूली—थैली। कथा—योगियों की गुदड़ी।

व्याख्या—योग की अनुपयुक्तता का विस्तृत वर्णन करती हुई गोपियाँ कहती हैं कि हे भौंरे ! तुम तो प्रवीण और चतुर हो। तुम्हें तो तीनों लोकों का ज्ञान है फिर हम अबलाओं के कार्य के लिए ही इतने अज्ञानी क्यों हो ? जिन बालों में कृष्ण सोने की कटोरी में तेल भरकर डाला करते थे उन्ही बालों में तुम अब भस्म लगाने को कहते हो। तुम्हारी यह बात तो टेसू जैसे खेल के समान है। इन्ही बालों को कृष्ण अपने अपने हाथ में लेकर सुन्दर चोटियाँ बनाते थे और तुम इन्हीं को जटा-रूप में बदलने को कह रहे हो ! तुमने यह बात कह कैसे दी ? जिन कानों में कृष्ण ताटक, खूभी तथा फूल आदि गहने पहनाया करते थे उन्ही में तुम अब स्फटिक की मुद्रा पहनाने को कहते हो तथा उनपर ढीला कपड़ा डालने को कहते हो। यह तो नितान्त अनुचित बात है। पहले वे हमारे माथे पर तिलक लगाते थे, आँखों में काजल और नाक में नकबेसर तथा नथफूली आदि गहने पहनाते थे। तुम अब इन सब को त्यागकर भस्म लगाने को कहते हो। हमारे कण्ठों में मालायें, हार तथा अनेक मणियों-मुक्ताओं और हीरे के गहने रहते थे। उन्हीं में तुम अब योग का शृगी बाजा बाँधने को कहते हो। जिस मुख से हम लोग अच्छे-अच्छे गीत गाते थे, परस्पर हँसते-बोलते थे उसी के लिए अब तुम मौन धारण करने को कहते हो। क्या इससे हमारा श्वास नहीं घुटेगा ? जी नही घबरायेगा ? जिस शरीर पर हम कचुकि धारण करती थीं, श्वेत सुन्दर साड़ी पहनती थीं, कृष्णचदन तथा उबटन आदि सुगन्धित

वस्तुएं लगाती थी, हे मूर्खराज ! उस शरीर पर तुम केवल कथा तथा गुदरी धारण करने को कहते हो। यह कितना अन्याय तुम हमारे साथ कर रहे हो। ऊधो, अब तुम उठकर चले जाओ। हमने तुम्हारा ज्ञान देख लिया। बस हमारी यही इच्छा है कि हमारे कृष्ण जीवित रहे। हमे पूरा विश्वास है कि उनका मुखचन्द्र हमे फिर से देखने को मिलेगा !

विशेष—इस पद मे गोपियो के मुख से सूर ने योग की अनुपयुक्तता पर विस्तृत रूप से प्रकाश डलवाया है।

मधुकर ! कौन देस तें आए ?
जब तें क्रूर गयो लै मोहन तब तें भेद न पाए ॥
जाने सखा साधु हरिजू के अवधि बदन को धाए।
अब या भाग, नदनदन को या स्वामित को पाए ॥
आसन, ध्यान, वायु-अवरोधन, अलि, तन मन अति भाए।
है विविध्न अति, गुनत सुलच्छन गुनी जोगमत गाए ॥
मुद्रा, सिंगी, भस्म, त्वजा-मृग ब्रजजुवती-तन ताए।
अतसी कुसुम बरन मुख मुरली सूर स्याम क्नि लाए ?॥२६१॥

शब्दार्थ—स्वामित—प्रभुता। अतसी—अलसी। वायु-अवरोधन—प्राणायाम।

व्याख्या—गोपियां उद्धव से प्रश्न करती हैं कि हे मधुकर ! आप कहाँ से आये हैं ? जब से वह दुष्ट मोहन को लिवाकर ले गया है तब से तो उसका कोई भेद ही नही चला। अतः हमने तुम्हें श्री कृष्ण का सखा समझकर यह समझा कि तुम हमे उनके प्रत्यागमन की अवधि बताने आये हो। परन्तु तुमसे बातें करने पर तो ऐसा लग रहा है कि पता नही अब इस भाग्य मे नन्दनन्दन के दर्शन हैं अथवा नही। अथवा भाग्य से प्रभु के योगी बनने के कारण सर्वोपरि स्थान मिलेगा। हे भ्रमर ! तुम्हारे द्वारा बताई हुई आसन, ध्यान और प्राणायाम सभी वस्तुएँ सभी प्रकार से तन मन को अच्छी लगने वाली हैं पर ये सब हैं बहुत अदभुत। गुणी और लक्षण-सम्पन्न लोगो के यह योग-मत अनुरूप है। तुम इन मुद्रा, सिंगी, भस्म, मृगछाला आदि योग के उपकरणो को बिना सोचे-विचारे यहाँ ले आये हो और ब्रजयुवतियों के शरीर को सेंत-मेंत में सन्तप्त कर रहे हो। हमारे लिए यदि तुम्हे कुछ लाना ही था तो अलसी के पुष्प के समान वर्ण वाले सूर के श्याम को, जिनके मुख पर मुरली विराजमान है, क्यो नहीं ले आये ? हमारा मनोविनोद तो उनसे ही सम्भव था।

विशेष—इस पद मे वाचक लुप्तोपमा अलकार है।

मधुकर ! कान्ह कही नहिं होंही।
यह तो नई सखी सिखई है निज अनुराग बरोही ॥

संचि राखी कूबरी-पीठि पै ये बातें चकचोही।
स्याम सुताहक पाय, सखी री, छार दिखायो मोही॥
नागरमनि जे सोभा-सागर जग जुवती हँसि मोही।
लियो रूप है ज्ञान ठगोरी, भलो ठग्यो ठग वोही॥
है निर्गुन सखरि कुबरी अब घटी करी हम जोही।
सूर सो नागरि जोग दीन जिन तिनहिं आज सब सोही॥२६२॥

शब्दार्थ—बरोही—बल से। चकचोही—चुहल की। लियो रूप—निराकार कर दिया।

व्याख्या—व्यंग्य करती हुई गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हे मधुकर! ये बातें कृष्ण ने कभी नहीं कही होंगी। ये बातें तो उनकी प्रेयसी द्वारा अपने प्रेम-बल पर गढ़ कर दिखाई गई प्रतीत होती हैं। ऐसी चुहल की बातें तो उसने ही अपने पीठ के कुबड़े में संचित करके रख छोड़ी हैं। स्याम जैसे अच्छे प्रेमी को पाकर हे सखी! आज वह हमको यह धूल दिखा रही है। कुछ भी हो, एक बात अच्छी हुई। शोभा के सिन्धु तथा नागर-शिरोमणि कृष्ण ने संसार की युवतियों को अपने स्मित से मोहित किया था किन्तु उसे रूप के बदले ज्ञान पकड़ाकर उस कुब्जा ने भी खूब ठगा है! जो उन्होंने हमारे साथ किया था उसे निर्गुण देकर कुबरी ने पूरा कर दिया। सूर कहते हैं कि गोपियों ने उद्धव से कहा कि उस चतुरा ने हमारे लिए योग दिया है। ठीक है भाई, आज उसके दिन अच्छे हैं, जो भी वह कर दे सो ठीक है।

विशेष—उत्प्रेक्षा गम्य की शोभा दर्शनीय है।

मधुकर! अब धौं कहा करचो चाहत?
ये सब भई चित्र की पुतरी सून्य सरीरहिं दाहत॥
हमसों तोसों बैर कहा, अलि, स्याम अजान ज्यों राहत।
झारि झूरि मन तो हरि लै गए बहुरि पयारहिं गाहत॥
अब तो तोहिं मरूत को गहिबो कह स्रम करि तू लैहै?
सूरज कोट मध्य तू ह्वै रह, अपनो कियो तू पैहै॥२६३॥

शब्दार्थ—पयारहिं—अनाज के पौधों के सूखे डण्ठल। गाहत—डंडे से उलट-पलटकर झाड़ना।

व्याख्या—बार-बार के निर्गुणोपदेश पर व्यथित होकर गोपियाँ कहती हैं कि हे मधुकर! तू न जाने अब क्या और करना चाहता है? हम सब युवतियाँ तो इस दाहक सन्देश को सुनकर चित्र की पुत्तलिकाओं के समान निर्जीव हो गई हैं। अब तू व्यर्थ इनके प्राण-शून्य शरीर को क्यों जलाये जा रहा है? इससे तेरी क्या शत्रुता है कि तू श्याम के विषय में तो अनभिज्ञ रहता है और निर्गुण के विषय में बार-बार कहे जाता है। क्या तुझे नहीं मालूम कि श्याम हमारे मन को बिल्कुल

झाड कर ले गये है, हमारे पास वे तनिक भी नहीं छोड गये है। तू आकर उसके पुराल को फिर से मीड रहा है। जब श्री कृष्ण मन का अन्तिम कण तक झाड़ कर ले गये तो फिर दाँव चलाने से ही क्या हाथ लगेगा ? अब तो तू यो ही हवा को पकड रहा है। इसमे श्रम करके तुझे क्या मिलेगा ? सूर कहते हैं कि गोपियाँ उद्धव से कहती है कि अब तू अपने कोठे मे बस आराम से पडा रह। व्यर्थ का श्रम न कर। अन्यथा तू अपने किये का फल भुगतेगा।

विशेष—इस पद मे रूपक, अतिशयोक्ति और अप्रस्तुत प्रशंसा अलकार है।

मधुकर ! आवत यहै परेखो।
जब बारे तब आस बडे की, बडे भए सो देखो ॥
जोग-जज्ञ, तप, दान, नेम-व्रत करत रहे पितु-मात।
क्यों हूँ सुत जो बढ्यो कुसल सों, कठिन मोह की बात ॥
करनी प्रगट प्रीति पिक-कीरति अपने काज लौं भीर।
काज सरचौ दुख गयो कहाँ धौं, कहँ बायस को बीर ॥
जहँ जहँ रहौ राज करौ तहँ तहँ लेब कोटि सिर भार।
यह असीस हम देति सूर सुनु न्हात खसै जनि बार ॥२६४॥

शब्दार्थ—परेखो—पछतावा। बारे—छोटे। भीर—सकट। सरचो—पूरा हुआ। खसै—टूट कर गिरना।

व्याख्या—कृष्ण की निष्ठुरता एव अपनी शुभकामनाओ पर प्रकाश डालती हुई गोपियाँ कहती हैं कि हे मधुकर ! हमको यही अफसोस है कि पुरुष सदैव यही आशा किया करता है कि हमारे छोटे बडे होकर हमे सुख देंगे। बडे होने पर उनकी आशा निराशा मे बदल जाती है। अपनी सन्तानों की शुभकामना से माता पिता योग, यज्ञ, तप, दान, नियम और व्रत किया करते हैं। यदि उनका पुत्र बडा हो जाता है तो क्या कहने ! लेकिन मोह की बात बहुत कठिन होती है जिसके कारण वे कष्ट भोगते हैं। कोयल की जैसी प्रसिद्धि है वैसी ही प्रीति भी उनकी प्रकट हो जाती है। कोयल के बच्चे अपने स्वार्थ के लिए कौओ से प्रेम करते है पर जब उनका काम निकल जाता है तो वे उनकी तनिक भी चिन्ता नही करते। खैर, चलो कृष्ण ने जो कुछ भी किया अच्छा ही। किया हम तो उन्हे यही आशीर्वाद देती हैं कि वे चाहे जहाँ रहें, राज्य करते रहे। सकुशल रहे और उनका एक बाल भी न बिगडे।

विशेष—इस पद मे अप्रस्तुत प्रशसा अलकार है।

मधुकर ! प्रीति किए पछितानी।
हम जानी ऐसी निबहैगी उन कछु औरै ठानी ॥
कारे तन को कौन पत्यानो ? बोलत मधुरी बानी।
हमको लिखि लिखि जोग पठावत आपु करत रजधानी ॥

सूनी सेज स्याम बिनु मोको तलफत रैनि बिहानी।
सूर स्याम प्रभु मिलिकै बिछुरे तातें मति जु हिरानी॥२६५॥

शब्दार्थ—पत्यानो—विश्वास किया। निबहैगी—निर्वाह होगा। बिहानी—अकेले। हिरानी—नष्ट होना।

व्याख्या—कोई गोपी वर्तमान वियोग से व्यथित होकर पश्चात्ताप करती हुई उद्धव से कहती है कि हे मधुकर! मैं तो प्रेम करके पछता रही हूँ। मै तो यह समझती थी कि इसी प्रकार कटती रहेगी पर हाय, उन्होंने मन मे कुछ और ही ठान रखा था। अरे! इन काले शरीर वालो का विश्वास ही क्या? उनके तो बस बोल ही मीठे होते हैं जिनसे वे दूसरों को मोह लेते हैं। देखा न, हमारे लिए तो श्रीमान् जी योग का सन्देश लिख-लिखकर भेज रहे हैं और स्वयं चैन से राजधानी मे भोग कर रहे हैं। हाय! आज मेरी शय्या सूनी है। सारी रात मुझे तड़फते ही बीतती है। बात यह है कि सूर के स्वामी श्याम प्रियतम के बिछुड़ जाने से मेरी मति ही नष्ट हो गई है।

विशेष—मति नष्ट हो जाने के कारण ही गोपियाँ जागरण और उन्माद के चक्कर मे फँस रही हैं।

मधुकर की संगति तें जनियत बंस अपन चितयो।
बिन समुझे कह चहति सुंदरी सोइ मुख-कमल गह्यो॥
व्याधनाद कह जानै हरिनी करसायल की नारि?
आलापहु, गावहु, कै नाचहु दाँव परे लै मारि॥
जुआ कियो ब्रजमंडल यह हरि जीति अविधि सों खेलि।
हाथ परी सो गही चपल तिय, रखी सदन में हेलि॥
ऊनो कर्म कियो मातुल बधि मदिरा-मत्त प्रमाद।
सूर स्याम एते औगुन में निर्गुन तें अति स्वाद॥२६६॥

शब्दार्थ—चितयो—ताका। सदन—घर। हेलि—डाली। ऊनो—ओछा। मातुल—मामा। करसायल—मृग। अविधि सों—अन्याय से।

व्याख्या—कृष्ण चाहे दोषयुक्त हैं किन्तु गोपियों को वे तब भी प्रिय हैं इसी भाव को व्यक्त करती हुई व ऊधो से कहती हैं कि मधुकर जैसों की संगति में रहकर ही वे इस प्रकार निर्मोही बन गये हैं कि अन्त में वे अपने वंश की ओर ही झुक गये। जिस प्रकार भ्रमर इधर-उधर रंगरेलियाँ करके अपने घर बाँस मे आ रहता है ठीक उसी प्रकार कृष्ण ने भी उसके साथ रहकर यह सीख लिया कि इधर-उधर रंगरेलियाँ करके अपने वंश मे जा घुसे। ब्रज की सुन्दरियाँ बिना इस बात को समझे अब उसी मुख कमल को अपनाने का आग्रह कर रही हैं। बेचारी मृग की गृहिणी व्याध के नाद का रहस्य क्या समझती? वह तो उस पर मुग्ध होकर अपनी सुध-बुध खोकर अचेत हो जाती है। फिर उसके लिए व्याध की सब बातें एक जैसी हो जाती हैं जैसे उसका अलापना, तान लय से गाना-नाचना तथा घात लगाने पर मार डालना।

हरि ने भी इस ब्रज मे रहकर एक जुआ खेल दिया और अवधि को दाँव पर रखकर हमे जीत कर यहाँ से चलते बने। पहले से ज्ञात भी क्या था कि ये महाशय इस प्रकार के निकलेंगे। यहाँ रहकर जिसे भी चाहा उसी कामिनी को अपने घर मे डाल लिया। वे बेचारी क्या जानती थी कि ये रगरेलियाँ चार दिन की है। खैर यह भी हुआ, वे मथुरा गये वहाँ उन्होंने जो कुछ किया उसे भी सब जानते हैं। मामा को मार दिया, कितना हीन कार्य किया ! यह तो उन्होने ऐसा कार्य कर दिया जैसा कोई शराब के नशे मे मस्त होकर ऊटपटाँग कार्य कर देता है। इतना होते हुए भी हे उद्धव ! न जाने क्यों इन सब गुणो से भरे-पूरे भी सूर के स्वामी श्याम हमे तुम्हारे निर्गुण से कही अधिक प्यारे लगते है।

विशेष—इस पद मे अन्योक्ति एवं श्लेष अलकार है।

मधुकर ! चलु आगे तें दूर।
जोग सिखावन को हमें आयो बडो निपट तू क्रूर॥
जा घट रहत स्यामघन सुंदर सदा निरतर पूर।
ताहि छाँडि क्यों सून्य अराधैं, खोवैं अपनो मूर ?
ब्रज मे सब गोपाल उपासी, कोउ न लगावै धूर।
अपनो नेम सदा जो निबाहै सोइ कहावै सूर॥२७०॥

शब्दार्थ—मूर—मूलधन। सूर—शूरवीर। निपट—अज्ञानी।

व्याख्या—योगोपदेश पर उद्धव को फटकारती हुई गोपियाँ उद्धव से कहती है कि हे मधुकर ! तू यहाँ से हट जा और कहीं दूर चला जा। बडा आया कही से योग सिखाने, तू तो बडा क्रूर है। जिस हृदय मे सदैव पूर्णरूप से सुन्दर घनश्याम रहते हैं, उसे छोडकर हम श्याम की आराधना कैसे करें ? क्या इसलिए कि हम अपना मूलधन भी खो दें। इस व्रज मे सभी गोपाल के उपासक हैं। यहाँ आपकी योग की यह भस्म लगाने को कोई तैयार नही है। जो अपने नियम-व्रत का सदैव पालन करते हैं वे ही शूर-वीर कहलाते हैं।

विशेष—व्रताभिरक्षा हि सतामनेन्त्रिया (भारवि)

मधुकर ! सुनहु लोचन-बात।
बहुत रोके अग सब पै नयन उडि उडि जात॥
ज्यो कपोत वियोग-आतुर भ्रमत है तजि धाम।
जात दृग त्यों, फिरि न आवत बिना दरसे स्याम॥
रहे मूँदि कपाट पल दोउ, भए घूंघट-ओट।
स्वास कढि तौ जात तितही निकसि मन्मथ फोट॥
स्रवन सुनि जस रहत हरि को, मन रहत धरि ध्यान।
रहत रसना नाम रटि, पै इनहिं दरसन हान॥

धरत देह विभाग भोगहिं, जो कछु सब लेत।
सूर दरसन ही बिना यह पलक चैन न देत ॥२६८॥

शब्दार्थ—दल—पलक। फोर—उद्गार। हान—हानि।

व्याख्या—अपनी विरह व्यथा को कम करने का एकमात्र उपाय श्रीकृष्ण-दर्शन को बताती हुई गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हे मधुकर! तुम हमारे नेत्रों की बात सुनो। हमने इन्हें सभी अंगों से रोका किन्तु ये फिर भी वहीं उड़कर चले जाते हैं। जिस प्रकार कबूतर वियोग से व्याकुल होकर अपने घर को छोड़कर इधर-उधर भटकता फिरता है उसी प्रकार हमारे ये नेत्र भी आकुल होकर चले जाते हैं और श्याम को देखे बिना फिर नहीं लौटते। हमने इन्हें पलकों के किवाड़ों में बन्द करके घूंघट की ओट में रख छोड़ा किन्तु हमारे दीर्घ श्वास निकलकर उधर ही चले जाते हैं और काम के उद्गार निकाल देते हैं। कान उनका यश-वर्णन सुनकर धैर्य रख लेते हैं, मन भी उनका ध्यान धारण करके किसी न किसी प्रकार सन्तुष्ट हो जाता है, हमारी वाणी भी उनका नाम रटती ही रहती है किन्तु इन बेचारे नेत्रों को दर्शनों की ही हानि है अर्थात् इन्हें इनका भोग प्राप्त नहीं होता। सूर कहते हैं कि गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि यद्यपि यह ठीक है कि शरीर में इन्द्रियाँ जो कुछ भी भोग करती हैं उसका आनन्द सारी इन्द्रियों में बँट जाता है तथापि हरि के दर्शनों के बिना ये नेत्र पल भर भी चैन नहीं पाते।

विशेष—इस पद में उपमा एवं रूपक अलंकार है।

मधुकर! जो हरि कही करैं।
राजकाज चित दयो सांवरे, गोकुल क्यों बिसरैं?
जब लौं घोष रहे हम तब लौं सतत सेवा कीन्ही?
बारक कहे उलूखल बांधे, वहै कान्ह जिय लीन्ही॥
जो पै कोटि करैं ब्रजनायक बहुतै राजकुमारी।
तो ये नंद पिता कहँ मिलिहैं अरु जसुमति महतारी?
गोवर्द्धन कहँ गोपबृंद सब कहँ गोरस सद पैहो?
सूरदास अब सोई करिए बहुरि हरिहि लै ऐहो॥२६९॥

शब्दार्थ—सद—ताजा। बारक—एक बार। पैहो—प्राप्त करेंगे।

व्याख्या—प्रेम का उपालम्भ देकर श्री कृष्ण को व्रज लाने की प्रार्थना करती हुई गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हे मधुकर! यदि श्री कृष्ण कहना मान लें तो उन्हें यहाँ लिवाकर ले आना। उन श्यामसुन्दर ने राज्य कार्य में अपना मन लगा लिया। यह तो खैर अच्छा किया पर यह हमारी समझ में नहीं आ रहा है कि उन्होंने गोकुल को क्यों भुला दिया? जब तक वे इस ग्वालों की बस्ती में रहे तब तक हम लोगों ने सदा उनकी सेवा की। वही एक बार उलूखल से बाँध दिया था। उन्होंने हमारे इसी एक [illegible] और नाराज होकर यहाँ आना बन्द कर दिया। उन्हें

ाजकुमारियाँ तो अनेक मिल सकती हैं परन्तु करोड़ों प्रयत्न करने पर भी नन्द जैसे पता और यशोदा जैसी माता और कहीं नहीं मिल सकती। गोवर्धन तथा ये ग्वालों की ोली और ताजा मक्खन उन्हें और कहीं कैसे मिल सकेगा? सूर कहते हैं कि गोपियों । उद्धव से कहा कि भाई वही कार्य करो जिससे श्री कृष्ण यहाँ फिर आ जावें।

विशेष—बिल्कुल इसी आशय का एक पद पहले भी आ चुका है। वहाँ केवल क्रियाओं के कुछ रूप बदले हुए हैं। वहाँ पर यह 'ऊधो! यह हरि कहा करयो?' इस प्रश्न से प्रारम्भ किया गया है।

मधुकर! भल आए बलबीर।
दुर्लभ दरसन सुलभ पाए जान क्यों परपीर?
कहत बचन, बिचारि बिनयहि सोधियो उन पाहि।
प्रानपति की प्रीति, ऊधो! है कि हम सों नाहिं?
कौन तुम सों कहैं, मधुकर! कहन जोगै नाहिं।
प्रीति की कछु रीति न्यारी जानिहौ मन माहिं॥
नयन नींद न परै निसिदिन बिरह बाढ़्यो देह।
कठिन निर्दय नंद के सुत जोरि तोरयो नेह॥
कहा तुम सों कहैं, षटपद! हृदय गुप्त कि बात।
सूर के प्रभु क्यों बनै जो करैं अबला घात?॥२७०॥

शब्दार्थ—षटपद—भौंरा। सोधियो—उनसे पूछना। घात—हत्या।

व्याख्या—श्रीकृष्ण-दर्शन के लिए विनय करती गोपियाँ उद्धव से कहती है कि हे मधुकर! अब हित इसी मे है कि बलदाऊ के भाई कृष्ण आ जावें। आपके दुर्लभ दर्शन सुलभ हो गये पर पता नहीं कि आप पराई पीर की उपेक्षा क्यों कर रहे है? हे उद्धव! आपसे एक प्रार्थना है कि आप उनसे पता लगाना कि उन प्रियतम का हम पर स्नेह है या नहीं। हे मधुकर! हम तुमसे प्रीति के रहस्य का क्या वर्णन करें। वह कहने योग्य नहीं है। यह तो तुम समझ ही लो कि प्रेम की तो रीति ही कुछ न्यारी होती है। हमारे शरीर मे व्यथा अब इतनी बढ गई है कि दिन-रात नेत्रों मे नींद तक नहीं आती। परन्तु नन्दनन्दन बड़े कठोर है कि उन्होंने हम से प्रेम जोड़ कर फिर तोड़ दिया। हे भौंरे! हम तुमसे अपने हृदय की गुप्त बातें कहाँ तक कहें। भला कृष्ण का कार्य उचित है कि वे अबलाओं की हत्या करने को तैयार हैं?

विशेष—गोपियाँ स्त्रियाँ होने के कारण अपनी गुप्त बातें बताने मे उद्धव के सम्मुख कुछ लज्जा का अनुभव अवश्य करती होंगी किन्तु प्रेम की पीर ने उन्हें कुछ ऐसा विवश बना दिया है कि वे न चाहते हुए भी कह ही देती हैं!

मधुकर! यह कारे की रीति।
मन दै हरत परायो सर्बस करै कपट की प्रीति॥

ज्यों षटपद अंबुज के दल में बसत निसा रति मानि।
दिनकर उए अनत उड़ि बैठे फिर न करत पहिचानि।।
भवन भुजंग पिटारे पाल्यो ज्यों जननी जनि तात।
कुल-करतूति जाति नहिं कबहूँ सहज सो डसि भजि जात।।
कोकिल काग कुरंग स्याम की छन छन सुरति करावत।
सूरदास प्रभु को मुख देख्यों निसिदिन ही मोहिं भावत।।२७१।।

शब्दार्थ—कारे—काले। षटपद—भौंरा। अंबुज—कमल। अनत—अन्यत्र।

व्याख्या—श्रीकृष्ण-प्रेम का उलाहना देती हुई गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हे मधुकर! कृष्ण ने हमसे इतना प्रेम करके भी हमें जो विस्मृत कर दिया है, उसमें उनका कुछ दोष नहीं है। यह तो उनके काले रंग का दोष है। कालो की कुछ रीति ही ऐसी है। वे बनावटी प्रेम दिखाकर और खूब मन लगाकर पराये सर्वस्व का अपहरण कर लेते है। भौंरे को ही देख लो! रात भर कमल की पखुड़ियों में बन्द रह कर उस अपना प्रेम दिखाता रहता है परन्तु सूर्य के उदय होते ही अन्यत्र उड़ जाता है और फिर उससे परिचय भी नहीं दिखाता। इसी प्रकार साँप का भी हाल है। उसे माँ-बाप के समान बड़ी सावधानी से पिटारे में रखकर पाल लो परन्तु अवसर पाते ही वह अपने वंश की करतूत को नहीं छोड़ता और काट कर भाग जाता है। इसी प्रकार कोकिल, कौआ और हिरण हैं। इनसे हमें क्षण-क्षण श्याम की याद आती है। सूर कहते हैं कि गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि पर हम क्या करें! हमें तो दिन-रात उन स्वामी का मुख देखना ही भाता है, और कुछ अच्छा ही नहीं लगता।

विशेष—इस पद में उपमा और स्मरण अलंकार है।

मधुप! तुम कहा यहै गुन गावहु।
यह प्रिय कथा नगर-नारिन सों कहौ जहाँ कछु पावहु।
जानत मरम नंदनंदन को, और प्रसंग चलावहु।
हम नाहीं कमलिनि-सी भोरी करि चतुरई मनावहु।।
जनि परसो अलि! चरन हमारे बिरह-ताप उपजावहु।
हम नाहीं कुबिजा-सी भोरी, करि चातुरी दिखावहु।।
अति बिचित्र लरिका की नाईं गुर दिखाय बहरावहु।
सूरदास प्रभु नागरमनि सों कोउ विधि आनि मिलावहु।।२७२।।

शब्दार्थ—गुर—गुड़। कोउ—किसी प्रकार। आनि—लाकर।

व्याख्या—श्री कृष्ण के दर्शन कराने का अनुरोध करती हुई गोपियाँ उद्धव कहती हैं कि हे मधुकर! तुम बार-बार य ही निर्गुण के गीत क्यों गाये जा रहे हो यह निर्गुण-गाथा नगर-नारियों के लिए रुचिकर होगी। अत आप जाकर इसे व सुनाओ जहाँ आपको इसके लिए इनाम मिल सके। तुम तो नन्दनन्दन के मर्म से परिचित हो। अब और कोई दूसरा प्रसंग क्यों नहीं चलाते। हे भौंरे! हम कमलि

के समान भोली-भाली नहीं हैं जिन्हें तुम चतुरता दिखाकर मना रहे हो। हे भ्रमर! तुम हमारे पैर न छुओ! इससे तो हमारी विरह-व्यथा और भी बढ़ जाती है। हम कुब्जा के समान सीधी-सादी नहीं हैं जिनके सम्मुख यह चतुरता दिखा रहे हो। तुम चाहे जितना प्रयास करो किन्तु हम नहीं मानेंगी। उद्धव! तुम तो बहुत ही विचित्र आदमी हो। हमें भी बच्चों की भाँति गुड़ दिखाकर बहला रहे हो। हम तुम्हारे बहकाने में नहीं आ सकतीं। हमारा तो यही आग्रह है और जो बिल्कुल अटल है कि किसी न किसी प्रकार सूर के स्वामी रसिक शिरोमणि श्री कृष्ण को हमसे लाकर मिला दो।

विशेष—(i) इस पद मे मालोपमा अलंकार है।

(ii) उद्धव गोपियों के पैर छूते थे, यह बात इसलिए कही गई है क्योंकि भौंरा उड़-उड़कर स्वभावत: गोपियों के पैरों पर गिर जाता है।

मधुकर! पीत बदन किहि हेत?
जनु अंतर मुख पांडु रोग भयो जुवतिन जो दुख देत।।
रसमय तन मन स्याम-धाम सो ज्यों उजरो संकेत।
कमलनयन के वचन सुधा से करट घूंटि करट घूंट भरि लेत।।
कुत्सित कटु बायस सायक सो अब बोलत रसखेत?
इन चतुरी तें लोग बापुरे कहत धर्म को सेत।।
माथे परी जोगपथ तिनके वक्ता छपद समेत।
लोचन ललित कटाच्छ मोच्छ बिनु महि मे जिए निचेत।।
मनसा बाचा और कर्मना स्याम सुंदर सों हेत।
सूरदास मन की सब जानत हमरे मनहिं जितेत।।२७३।।

शब्दार्थ—बदन—मुख। संकेत—मिलने का स्थान। करट—कौआ। सेत—पुल।

व्याख्या—उद्धव जी के रूप-रग पर कटाक्ष करके अपनी विरह-व्यथा का वर्णन करती हुई गोपियाँ कहती हैं कि हे उद्धव! तुम्हारा मुख पीला किसलिए है? तुम जो युवतियो को दु ख देते फिर रहे हो इसके कारण शायद तुम्हे यह पाण्डुरोग हो गया है। तुम्हारा तन और मन मधुरिमामय श्याम के वर्ण से मिलता है। देखने से ज्ञात होता है कि तुम भी रसिक होगे पर तुम्हारी बातें सुनकर कुछ ऐसी निराशा होती है जैसी हमे आजकल उजडे हुए अन्धकारपूर्ण सकेत-स्थल को देख कर होती है। हा! एक दिन था कि इस स्थल के पास बैठ कर कौआ भी प्रियतम के पीयूष से मधुर वचनो के घूट पीता था पर आज वही कौआ उसी रसक्षेत्र मे कडवी और घृणित काँय-काँय की आवाज कर रहा है जो हमे बाणो के समान व्यथादायक प्रतीत होती है। क्या व्रज के बाग के बसन्त का अन्त कर देने मे ही उनकी चतुरता देखकर लोग उन्हे धर्मसेतु कहा करते हैं। जो लोग यहाँ रगरेलियाँ किया करते थे उनके लिए अब योग बट रहा है जिसके शिक्षक और तो क्या ये भ्रमर महाशय भी यहाँ आकर प्रवचन कर रहे हैं। सच्ची बात

तो यह है कि उनके नेत्रों के सुन्दर कटाक्षों से जब तक छुटकारा नहीं होता तब तक हम इस ससार में अचेत-सी ही हो रही हैं। हमारा तो मन, वचन और कर्म से केवल श्याम सुन्दर से ही प्रेम है। सूर कहते हैं कि गोपियो ने उद्धव से कहा कि हम अधिक क्या कहें, जो कुछ हमारे मन में है वह सब वे जानते हैं।

विशेष—इस पद में उत्प्रेक्षा, उपमा एव रूपक अलकार है।

मधुकर! मधुमदमाती डोलत।
जिय उपजत सोइ कहत न लाजत सूधे बोल न बोलत॥
बकत फिरत मदिरा के सोन्हे बार बार तन घूमत।
व्रीडारहित सबन अवलोकत लता-कली मुख चूमत॥
अपनेहूँ मन की सुधि नाहीं परयो आन ही कोठो।
सावधान करि लेहि अपनपो तब हम सों कव गोठो॥
मुख लागी है पराग पीक की, डारत नाहिन धोई।
तासों कह कहिए सुनु, सूरज, लाज डारि सब खोई॥२७४॥

शब्दार्थ—व्रीडा—लज्जा। कोठो—कोठा अर्थात् भ्रान्ति का होना। गोठो—गोष्ठी, सलाह।

व्याख्या—उद्धव के वचन और कर्म की भिन्नता पर प्रकाश डालती हुई व्यंग्य-पूर्वक कहती हैं कि हे मधुकर! तू शराब के नशे मे मस्त हुआ इधर-उधर घूम रहा है। जो तेरे मन मे आता है तू उसे ही बके जा रहा है। तुझे लज्जा का अनुभव भी नही होता। तू सीधी-सादी बातें क्यों नही करता? शराब के नशे मे बार-बार तेरा शरीर चक्कर खा रहा है। तू तो लज्जा से इतना रहित हो गया कि सभी के सामने लताओ के कली रूपी मुखो को चूम रहा है। तुझे अपने मन तक का होश नहीं। वह भी शायद किसी और स्थान पर ही है। पहले तुम अपना मन सम्भाल लो फिर हमसे बातें करना। देख तेरे मुख पर पराग की पीक लगी हुई है तू इसे धो क्यो नहीं डालता? सूर कहते हैं कि गोपियो ने कहा कि अब उनसे क्या कहें जिन्होने अपनी सारी लज्जा ही खो दी है।

विशेष—'लाज डारि सब खोई' लोकोक्ति है तथा 'लता-कली मुख' मे निरग रूपक अलकार है।

मधुकर! ये सुनु तन मन कारे।
कहूँ न सेत सिद्धताई तन परसे हैं अँग कारे॥
कीन्हो कपट कुभ विषपूरन पयमुख प्रगट उघारे।
बाहिर वेष मनोहर दरसत, अतरगत जु ठगारे॥
अब तुम चले ज्ञान-विष सज दै हरन जु प्रान हमारे।
ते क्यों भले होंहि सूरजप्रभु रूप, बचन, कृत कारे॥२७५॥

शब्दार्थ—कुम विषपूरन पयमुख—विषकुम्भ पयोमुख अर्थात् विष का भरा हुआ घड़ा जिसमे ऊपर दूध हो। उघारे—खोले। कृत—कर्म से।

व्याख्या—कृष्ण और उद्धव को जली-कटी सुनाती हुई गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हे मधुकर! ये लोग शरीर और मन दोनो से काले हैं। ये काले अग वाले लोग श्वेत सिद्धता से अग को कभी स्पर्श नहीं कर पाते। इन लोगो को तो विषकुम्भं पयोमुख ही समझो। बाहर से तो इनका वेश बड़ा मनोहर है पर अन्दर मन में इनके ठगी रहती है। अब आप ही, देखिये! व्रज में ज्ञान का विष देकर हमारे प्राण लेने के लिए चले हैं। सूर कहते हैं कि गोपियो ने कहा कि उद्धव और कृष्ण भला भले कैसे बताये जा सकते हैं। उनका तो रूप, रग, वचन और कार्य सभी काले हैं।

विशेष—इस पद मे रूपक अलकार है।

> मधुकर! तुम रसलंपट लोग।
> कमलकोस में रहत निरंतर हमहिं सिखावत जोग॥
> अपने काज फिरत व्रज-अंतर निमिष नहीं अकुलात।
> पुहुप गए बहुरे बेलिन के नेकु न नेरे जात॥
> तुम चंचल हो, चोर सकल अग बातन क्यों पतियात?
> सूर विधाता धन्य रच्यो जो मधुप स्याम इकगात॥२७६॥

शब्दार्थ—पुहुप—पुष्प। नेरे—निकट। रसलपट—रसलोभी।

व्याख्या—उद्धव और कृष्ण के वचन और कर्म की भिन्नता पर व्यग्य करती हुई गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हे भौरे! तुम लोग तो रस के बहुत ही लोभी हो। आप तो सदैव कमल की कली मे निवास करते हैं और हमे योग सिखाते हैं। अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए व्रज मे चक्कर पर चक्कर काटते हैं। क्षण भर के लिए भी व्याकुलता आपसे सहन नहीं होती। परन्तु पुष्प समाप्त हो जाने पर फिर उनके पास तक जाते भी नही। तुम बडे चचल और सर्वांगरूप मे चोर हो अतः तुम्हारी बातों पर हम विश्वास ही कैसे कर लें? सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि विधाता धन्य है कि उसने इन दोनो को (ऊधो और कृष्ण) एक जैसा ही शरीर दिया। दोनों के ही एक जैसे रग के एक जैसे शरीर हैं।

विशेष—इस पद मे अतिशयोक्ति अलकार है।

> मधुकर! कासो कहि समझाऊँ?
> अग अग गुन गहे स्याम के, निर्गुन काहि गहाऊँ?
> कुटिल कटाक्ष विकट सायक सम, लागत मरम न जाने।
> मरम गए उर फोरि पिछौहैं पाछे पै अटकाने॥

प्रमत रहत सँभारत नाहिन, फेरि फेरि समुहाने।
टूक टूक ह्वं रहे ढोर गहि पाछे पग न पराने॥
उठत कबंध जुद्ध जोधा ज्यों माइत संमुख हेत।
सूर स्याम प्रब प्रमृत-वृष्टि करि सींचि प्रान किन देत ?॥२७७॥

शब्दार्थ—समुहाने—सम्मुख मिली। ढोर गहि पाछे—साथ मे लगे रहे। पिछौ-हैं—पीछे की ओर। कबंध—धड़।

व्याख्या—वियोग-व्यथा को दूर करने के लिए श्यामरूपी औषधि की प्रार्थना करती हुई गोपियाँ ऊधो से कहती हैं कि हे भौंरे ! हम किससे समझाकर कहें कि हमारे अंग-प्रत्यंगों ने श्याम के गुणों को ग्रहण कर रखा है। फिर आप सोचिये कि हम निर्गुण किसके द्वारा ग्रहण करें ? कठोर वाणों के सदृश जब वे कुटिल कटाक्ष हमको लगे ये तो उस समय तो मालूम नही पडे किन्तु बाद मे जब फूट कर पीछे की ओर निकले तब पता चला कि वे इतने गहरे चुभे हैं। उन्हीं के गहरे प्रभाव के कारण हम बार बार चक्कर खाते हैं और बार-बार उन्हीं के सम्मुख जाते हैं। यद्यपि प्रहारों से जर्जर होकर टुकड़े-टुकडे हो गये हैं फिर भी पीछे को पैर नहीं रखते। रणभूमि मे कबन्ध के सदृश बार-बार उठकर सामने जाकर ही भिडन्त करते हैं। इस प्रकार उन कटाक्षों के प्रहार से ये अबलायें मृतप्राय हैं। अत. सूर कहते हैं कि गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि अब श्याम आकर दर्शनरूपी अमृत की वर्षा करके मृतप्राय क प्राणों को जीवित क्यों नहीं करते ?

विशेष—इस पद मे रूपक एव उपमा अलकार है।

मधुप ! तुम देखियत हौ चित कारे।
कालिंदीतट पार बसत हौ, सुनियत स्याम-सखा रे !
मधुकर, चिहुर, भुजंग, कोकिला, अवधिन ही दिन टारे।
वे अपने सुख ही के राजा तजियत यह अनुहारे॥
कपटी कुटिल निठुर हरि मोंहीं दुख दै दूरि सिधारे।
बारक बहुरि कबै आवेंगे नयनन साध निवारे॥
उनको सुनं सो आप बिगोवै चित चोरत बटमारे।
सूरदास प्रभु क्यों मनमानै सेवक करत निनारे॥२७८॥

शब्दार्थ—चिहुर—चिकुर, केश। बटमारे—डाकू। अनुहारे—अनुसार चलने वाले। निवारे—तृप्त करेंगे। बिगोवै—नष्ट करेंगे। निनारे—पृथक्।

व्याख्या—श्याम के दर्शनों के लिए प्रार्थना करती हुई गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हे भौंरे ! शरीर से ही नही तुम तो चित्त के भी काले जान पडते हो। तुम यमुना के उस पार रहते हो और सुनते हैं कि तुम भी श्याम के ही मित्र हो। भ्रमर, केश, साँप और कोयल के सदृश तुम भी कुछ समय तक ही साथ देने वाले हो। जिस प्रकार ये अपनी इच्छा के राजा हैं जब तक उनकी इच्छा रही तब तक रहे, इसी प्रकार तुम भी उन्हीं के अनुसार चलने वाले हो। हरि भी कपटी, कुटिल और निष्ठुर हैं। वे हमे

वियोग के दुख में डाल कर दूर चले गये। न जाने अब वे फिर कब, एक बार ही सही, आकर नयनों की दर्शनाभिलाषा को तृप्त करेंगे? उनकी बात मानना अपना सत्यानाश करना है। वे तो राह चलते हुए चित्त को चुराते हैं। सूर कहते हैं कि गोपियाँ कहती हैं कि उनका मन सेवकों को पृथक् करके न जाने किस प्रकार तृप्त होता होगा?

विशेष—इस पद में उपमा अलकार है।

मधुकर! को मधुबनहिं गयो?
काके कहे सदेस लै आए, किन लिखि लेखु दयो?
को बसुदेव-देवकीनदन, को जदुकुलहिं उजागर?
तिनसों नहिं पहचान हमारी, फिरि लै दीजो कागर॥
गोपीनाथ, राधिकावल्लभ, जसुमति नद-कन्हाई।
दिन प्रति दान लेत गोकुल में नूतन रीति चलाई॥
तुम तो परम सयाने ऊधो! कहत और की औरे।
सूरजदास कथ के बहँके बोलत हो ज्यों बौरे॥२७६॥

शब्दार्थ—कागर—कागज, पत्र। उजागर—प्रभाकर। और की औरे—कुछ का कुछ। बौरे—पागल।

व्याख्या—योग को घृणास्पद बताती हुई गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हे भौंरे! मथुरा कौन गया था? तुम किसके कहने से यह सदेश लाये हो। वह कौन है जिसने तुम्हें यह पत्र लिखकर दिया है? कौन है वह वसुदेव और देवकी का पुत्र? यदुकुल प्रभाकर कौन है? इन महाशय से हमारा कोई परिचय नहीं है। लो यह कागज उन्हे ही लौटा देना। शायद तुम इसे भूल से यहाँ ले आये हो। हमारा परिचय तो गोपीनाथ, राधावल्लभ तथा नद यशोदा के प्रिय पुत्र कृष्ण से है। वे यहाँ गोकुल मे प्रतिदिन प्रेम-दान ग्रहण किया करते थे। बिलकुल एक नवीन पद्धति उन्होने गोकुल मे चलायी थी। बडे चतुर होते हुए भी आप कुछ का कुछ कह रहे है। सूर कहते हैं कि गोपियो ने उद्धव से कहा कि हमारी समझ मे बात अब आई। आप मार्ग भूल गये हैं और इसीलिए व्याकुल होकर पगलो की सी बातें कर रहे हैं।

विशेष—(i) ऊधो वै गोविंद कोइ और मथुरा मे यहाँ।
मेरे तो गोविंद मोहि मे रहत है॥ (पद्माकर)
(ii) ऊधो मथुरा के हरि और।
उनके नद जसुमत पितु माता थे वसुदेव देवकी किशोर॥
(प्रतापनारायण)

देखियत कालिंदी अतिकारी।
कहियो, पथिक! जाय हरि सो ज्यों भई बिरह जुर जारी॥

मनो पलिका पै परी घरनि घँसि तरंग तलफ तनु भारी।
तटबारु उपचार-चूर मनो, स्वेद-प्रवाह पनारी॥
बिगलित कच कुस कास पुलिन मनो, पंक जु कज्जल सारी।
भ्रमर मनो मति भ्रमत चहूँ दिसि, फिरति है अंग दुखारी॥
निसिदिन घकई-ब्याज बकत मुख, किन मानहुँ अनुहारी।
सूरदास प्रभु जो जमुना-गति सो गति भई हमारी॥२८०॥

शब्दार्थ—जुर—ज्वर, ताप। पलिका—पलंग। उपचार-चूर—औषध का चूर्ण। पनारी—धारा। कास—केश।

व्याख्या—विरह की व्यापकता का वर्णन करती हुई गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हे उद्धव ! यमुना अत्यन्त काली है। हे पथिक ! तुम जाकर कृष्ण से यह देना कि यमुना भी तुम्हारे विरह-ज्वर के सन्ताप से काली पड़ गई है। ऐसा लगता है मानो यह तड़फ के मारे पलंग से धरती पर गिर पड़ी है और ये उठती हुई तरगें मानो इसके तन की तड़पन है। यह किनारे पर पड़ी हुई सिकता ही उपचार का चूर्ण है और यह धारा उसके प्रस्वेद के प्रवाह की धारायें हैं। ये जो कुश काश दिखाई देते हैं व ही मानो उसके बिखरे हुए केश-पाश हैं और यह कीचड़ मानो उसकी चीकट साड़ी है। यह चारों ओर उड़ता हुआ भौंरा मानो उसका मतिभ्रम है। अपने दुखपूर्ण अंगों के लिए चारों ओर यह व्याकुल होकर भटक रही है। चकई की रट के बहाने यह रात-दिन अपने प्रलाप को व्यक्त कर रही है। तुम इस समता को स्वीकार क्यों नहीं करते? सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि जो दशा इस यमुना की है वही हमारी भी है।

विशेष—इस पद में उत्प्रेक्षा, रूपक और अपह्नुति अलंकार है।

सुनियत मुरली देखि लजात।
दूरहि तें सिंहासन बैठे, सीस नाय मुसकात॥
सुरभी लिखी चित्र भीतिन पर तिनहिं देखि सकुचात।
मोरपख को बिजन बिलोकत बहरावत कहि बात॥
हमरी चरचा जो कोउ चालत, चालत ही चपि जात।
सूरदास ब्रज भले बिसरयो, दूध दही क्यों खात?॥२८१॥

शब्दार्थ—बिजन—पंखा। चपि—दबना। भीति—दीवार।

व्याख्या—कृष्ण की निष्ठुरता पर प्रकाश डालती हुई गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि वे तो मुना है कि अब मुरली को भी देखकर लज्जा अनुभव करते हैं। यदि कोई प्रसंगवश मुरली का वर्णन करता है या लाकर दिखाता है तो वे सिंहासन पर बैठे हुए दूर से मुस्करा देते हैं। महलों की दीवारों पर चित्रित गायों की ओर देखने में भी वे संकोच करते हैं। यदि मयूरपंख का पंखा भी सामने आ जाय तो कुछ दूसरी बातें करके बहकाने लगते हैं। यदि वहाँ कोई हमारे विषय में कुछ कहता है तो तुरन्त ही !। सूर कहते हैं कि गोपियों ने उद्धव से कहा कि अच्छा हुआ, जो

न्होंने व्रज को यों ही भुला दिया। अब उन्हें और वस्तुओं से इतनी लज्जा उत्पन्न होती है तो फिर वे दूध-दही क्यो खाते हैं?

विशेष—यह नाज़ यह गरूर लड़कपन में तो न था।
क्या तुम जवान होके बड़े आदमी हो गये॥

किधौं घन गरजत नहिं उन देसनि?
किधौं वहि इंद्र हठिहि हरि बरज्यो, दादुर खाए सेसनि॥
किधौं वहि देस बकन मग छाँड्यो, धर बूड़ति न प्रवेसनि।
किधौं वहि देस मोर, चातक, पिक बधिकन बधे बिषेषनि॥
किधौं वहि देस बाल नहिं झूलति गावत गीत सहेसनि।
पथिक न चलत सूर के प्रभु पै जासों कहौं सदेसनि॥ २८२॥

शब्दार्थ—हठिहि—हठपूर्वक। प्रवेसनि—जल की धारा के प्रवेश से। बिषेषनि—विशेष रूप से।

व्याख्या—कृष्ण की निष्ठुरता का अनुमान करती हुई गोपियाँ कहती हैं कि शायद उन देशो मे जहाँ कृष्ण रहते हैं, बादल गर्जन नही करते। यदि गर्जन करते तो कृष्ण हमसे इस प्रकार उदासीन न रहते। शायद भगवान् इन्द्र को सख्ती से मना कर दिया है ताकि वह बादलो को वहाँ न उमडने दे जिससे उनकी गरज उनके प्रेम को उद्दीप्त न कर सके। शायद वहाँ मेंढको को साप खा गये हैं जिससे वर्षा आने की सूचना ही नही मिलती। शायद वहा के देश का मार्ग बगुलो की पक्ति ने सर्वथा त्याग दिया है और शायद वहाँ मूसलाधार वर्षा बरसकर निकटस्थ पृथ्वी को सराबोर नही करती। शायद उस देश के मयूर, चातक और कोयलों को वधिको ने मार दिया है जिससे कि उनकी उन्मत्त करने वाली कूक सुनाई न पड़े और इसीलिए वे निष्ठुर बने पड़े हैं। शायद उस देश मे स्त्रियाँ हर्ष पर निर्भर होकर मल्हार के गीत गाती हुई कभी झूलती भी नही होंगी और उनकी उत्तेजक स्वर लहरी के अभाव मे ही वे अपने आपको स्वस्थ अनुभव कर रहे हैं। सूर कहते हैं कि गोपियो ने कहा कि क्या करें कि कोई भी यात्री श्री कृष्ण की ओर नही जाता जिसके द्वारा हम उनके पास सन्देशा भिजवा देती।

विशेष—इस पद मे सन्देह अलकार है।

कोउ सखि नई चाह सुनि आई।
यह ब्रजभूमि सकल सुरपति पै मदन मिलिक करि पाई॥
घन धावन, बग पाँति पटो सिर, बैरख तडित सुहाई।
बोलत पिक चातक ऊँचे सुर, मनो मिलि देत दुहाई॥
दादुर मोर चकोर बदत सुक सुमन समीर सुहाई।
चाहत कियो बास वृंदावन, विधि सों कहा बसाई?

सींव न चापि सक्यो तब कोऊ, हुते बल कुँवर कन्हाई।
अब सुनि सूर स्याम-केहरि बिनु ये करिहैं ठकुराई॥२८३॥

शब्दार्थ—चाह—खबर। पै—से। मिलिक—जागीर। पटो—पगड़ी। बैरख—पताका। सींव—सीमा।

व्याख्या—विरहोद्दीपक वर्षाकाल के आगमन पर गोपियाँ परस्पर कहती हैं कि हे सखी! मैं एक नवीन समाचार सुनकर आ रही हूँ। वह समाचार यह है कि इस सारी व्रजभूमि को कामदेव ने देवराज इन्द्र से जागीर के रूप में प्राप्त कर लिया है। ये मेघ उसके दूत हैं और ये बक पंक्ति उनके सिर की पगड़ी है तथा ये सुन्दर बिजलियाँ उसकी पताकाएँ हैं। यह देखो, कोयल और चातक उच्च स्वर से बोल रहे हैं। ऐसा लगता है कि मानो वे सब मिलकर इस जागीर के मालिक कामदेव की दुहाई दे रहे हैं। मेंढक, मोर, चकोर और तोते भी बोल रहे हैं। फूलों की सुगन्धित सुन्दर हवा भी चल रही है। ज्ञात हुआ है कि कामदेव अपने सब साधनों के साथ सिपाही प्यादे लेकर वृन्दावन में ही रहना चाहते हैं। यदि ऐसा ही है तो फिर विधाता के सम्मुख हमारी चल भी क्या सकती है? जब कुँवर कन्हैया यहाँ रहते थे तब तो यहाँ की सीमा को भी कोई नहीं दबा सका परन्तु अब सूर के स्वामी श्याम रूपी केहरी की अनुपस्थिति में ये यहाँ हकूमत करेंगे।

विशेष—इस पद में उत्प्रेक्षा एवं रूपक अलंकार है।

बरु ये बदराऊ बरसन आये।
अपनी अवधि जानि, नँदनंदन! गरजि गगन घन छाए॥
सुनियत है सुरलोक बसत सखि, सेवक सदा पराए।
चातक कुल की पीर जानि कै तेउ तहाँ तें धाए॥
द्रुम किए हरित, हरषि बेलीं मिलि, दादुर मृतक जिवाए।
छाए निबिड नीर तृन जहँ तहँ पछिन हूँ प्रति भाए॥
समझति नहिं सखि! चूक आपनी बहुतै दिन हरि लाए।
सूरदास स्वामी करुनामय मधुबन बसि बिसराए॥२८४॥

शब्दार्थ—पराए—दूसरे के अर्थात् इन्द्र के। निबिड—घना। बदराऊ—बादल।

व्याख्या—उमड़ते हुए बादलों के आगमन पर उलाहना देती हुई गोपियाँ परस्पर कहती हैं कि हे सखी! ये बादल भी तो बरसने आये हैं। हे नंदनंदन! देखो, ये मेघ भी अपनी आने की अवधि जानकर गर्जन करते हुए आकाश में छाने लगे हैं। हे सखी! सुनते हैं ये स्वर्गलोक में रहते हैं और दूसरे के अर्थात् इन्द्र के नौकर हैं। परन्तु इतनी दूर और फिर परायी सेवा में रहते हुए भी ये चातक कुल की व्यथा को समझ कर यहाँ आ पहुँचे हैं। इन्होंने सूखे वृक्षों को हरा कर दिया है तथा बेलें भी प्रसन्न होकर उनसे मिलने लगी हैं। इन्होंने मरे हुए मेंढकों को फिर से जीवित कर दिया है। जहाँ-तहाँ अधिक जल और घास देखकर पक्षीगण भी प्रसन्न हो रहे हैं। हे

सखी ! हमें तो कुछ अपनी गलती जान नहीं पड़ती फिर भी श्री कृष्ण ने बहुत दिन लगा दिये। सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि करुणामय स्वामी ने मथुरा रहकर इतना विलम्ब कर दिया है कि वर्षा के आगमन पर भी न आये।

विशेष—इस पद में हेतूत्प्रेक्षा अलंकार है।

परम वियोगिनी गोविंद बिनु कैसे बितवें दिन सावन के ?
हरित भूमि, भरे सलिल सरोवर, मिटे मग मोहन आवन के ॥
पहिरे सुहाए सुबास सुहागिनी-झुंडन झूलन गावन के।
गरजत घुमरि घमंड दामिनी मदन धनुष धरि धावन के ॥
दादुर मोर सोर सारग पिक सोहैं निसा सूरमा बन के।
सूरदास निसि कैसे निघटत त्रिगुन किए सिर रावन के ॥२८५॥

शब्दार्थ—सारग—चातक। सूरमा—वीर। सुबास—वस्त्र।

व्याख्या—काम को उद्दीप्त करने वाले श्रावण मास को व्यतीत करने का आयोजन सोचती हुई गोपियाँ कहती हैं कि विरह के दुःख से अत्यधिक पीडित हम गोविन्द के बिना श्रावण के दिन कैसे बितायेंगी ? चारों ओर पृथ्वी हरी हो गई। तालाबों में जल भर गया। अब तो मोहन के आने की राह भी विलीन हो गई। जिधर भी दृष्टि डालो उधर ही सुन्दर वस्त्रों को धारण करके सौभाग्यवती स्त्रियों के झुण्ड के झुण्ड गाने और झूलने के लिए प्रस्तुत दिखाई दे रहे हैं। चारों ओर से घुमड-घुमड कर घनघोर बादल गरज रहे हैं। कामदेव धनुष लेकर इधर-उधर दौड रहा है तथा मेंढक और मयूर शोर कर रहे हैं। चातक और कोयल भी रात्रि के भट बन कर कार्य में लगे हैं। सूर कहते हैं कि गोपियाँ व्यथित होकर कहती हैं कि हाय ! अब रातें किस प्रकार कटेंगी ? एक-एक रात में तो तीस तीस घडियाँ होती हैं। यहाँ इतनी विकट परिस्थिति में एक-एक पल काटना भी कठिन हो रहा है।

विशेष—(i) उत्प्रेक्षा गम्य है।

(ii) 'त्रिगुन किय सिर रावन के' से तात्पर्य यह है कि रावण के सिर के तिगुने अर्थात् तीस।

हमारे माई ! मोरउ बैर परे।
घन गरजे बरजे नहिं मानत त्यों त्यों रटत खरे ॥
करि एक ठौर बीनि इनके पँख मोहन सीस धरे।
याही तें हम ही को मारत, हरि ही ढीठ करे ॥
कह जानिए कौन गुन सखि री ! हम सों रहत अरे।
सूरदास परदेस बसत हरि, ये बन तें न टरे ॥२८६॥

शब्दार्थ—खर—तीव्र। मोरउ—मयूर। बरजे—मना करने पर।

व्याख्या—मयूर की आवाज को अत्यन्त दाहक बताती हुई गोपियाँ परस्पर कहती हैं कि हे भाई ! हमारे तो यह मयूर भी बैरी पड़ा हुआ है। हमारे मना करने पर भी ये नहीं मानते। बादलों का गर्जन सुनकर ये और भी अधिक बोलते हैं। मोहन ने इन्हें एकत्रित करके इनके पंखो को अपने सिर पर धारण कर लिया था इसलिए शायद ये हमको सताते हैं। इनकी क्या गलती है, ढीठ तो इन्हें कृष्ण ने ही बनाया है। हे सखी ! न जाने इसमे इन्हें क्या मिलता है कि ये सदा हमसे अकड़े ही रहते हैं। सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि श्री कृष्ण तो अब परदेश चले गये पर ये वन से अब भी न टले।

विशेष—इस पद में प्रत्यनीक अलंकार है।

सखी री ! हरिहि दोष जनि देहु।
जातें इतेमान दुख पैयत हमरेहि कपट सनेहु॥
विद्यमान अपने इन नैनन्ह सूनो देखति गेहु।
तदपि सूल-ब्रजनाथ-बिरह तें भिदि न होत बड़ बेहु॥
कहि कहि कथा पुरातन ऊधो ! अब तुम अंत न लेहु।
सूरदास तन तौ यों ह्वं है ज्यो फिरि फागुन-मेहु॥२८७॥

शब्दार्थ—इतेमान—इतना अधिक। बेहु—छेद। फागुन-मेहु—जलरहित, जीवनरहित।

व्याख्या—कृष्ण के व्यवहार पर कटाक्ष करने वाली किसी गोपी पर आक्षेप करती हुई तथा उद्धव से योगोपदेश को बन्द करने की प्रार्थना करती हुई कोई गोपी कहती है कि हे सखी ! हरि को दोष मत दो। वस्तुतः हमारा स्नेह ही बनावटी है कि जिसके कारण हम इतना दुःख पा रही हैं। देखो, आज हम नेत्रों से अपने घर को सूना देख रही हैं, श्री कृष्ण के विरह मे हमारा यह हृदय फट क्यों नही जाता ? हे उद्धव ! पुरानी बातो को कह कर हमारे प्राणो को मत हरो। सूर कहते हैं कि गोपियो ने उद्धव से कहा कि यदि तुम नही मानोगे तो हम कहे देती हैं कि यह हमारा शरीर निर्जीव हो जायगा।

विशेष—इस पद मे रूपक अलकार है।

उघरि आयो परदेसी को नेहु।
अब तुम 'कान्ह कान्ह' कहि टेरति फूलति ही, अब लेहु॥
काहे को तुम सर्वस अपनो हाथ पराये देहु।
उन जो महा ठग मथुरा छांडी, सिंधु तीर कियो गेहु॥
अब लौं तपन महा तन उपजी, बाढ्यो मन संदेहु।
सूरदास बिह्वल भईं गोपी, नयनन्ह बरस्यो मेहु॥२८८॥

शब्दार्थ—सिंधुतीर—द्वारिका मे। फूलति ही—मन मे फूलती थी। अब लेहु—अब परिणाम देखो।

व्याख्या—गोपियाँ व्यथित होकर परस्पर कह रही हैं कि लो अब परदेशी के मन का भेद खुल गया। उस समय तुम बड़ी 'कन्हैया-कन्हैया' पुकारती हुई हर्ष से फूला करती थी, लो अब उसका परिणाम भुगत लो। तुमने अपने ही हाथो से दूसरे को अपना सर्वस्व क्यों अर्पित कर दिया था ? वे तो महाठग निकले, मथुरा भी छोडकर चलते बने और अब जाकर तो उन्होने समुद्रतट पर अपना घर बना लिया है। यह समाचार सुन कर तो गोपियों के मन मे दु ख और भी अधिक बढ गया और साथ ही मन मे सन्देह की भी वृद्धि हो गई। सूर कहते हैं कि गोपियाँ यह समाचार सुनकर अत्यन्त व्याकुल हो गई और उनकी आँखो से अश्रुओ की झडी लग गई।

विशेष—इस पद मे अतिशयोक्ति अलकार है।

हरि न मिले, री माई, जन्म ऐसे ही लाग्यो जान।
जोवत मग द्यौस द्यौस बीतत जुग-समान॥
चातक-पिक बयन, सखी ! सुनि न परं कान।
चदन अरु चदकिरन कोटि मनो भानु॥
जुवती सजे भूषन रन-आतुर मनो त्रान।
भीषम लौं डासि मदन अर्जुन के बान॥
सोवति सर-सेज सूर, चल न चपल प्रान।
दच्छिन-रबि-अवधि अटक इतनीऐ जान॥२८६॥

शब्दार्थ—बयन—वचन। भीषम—भीष्म पितामह की भाँति। डासि—बिछाकर।

व्याख्या—विरह के दु ख से सन्तप्त होकर मरणासन्न हो गोपियाँ परस्पर कह रही हैं कि हाय री माँ ! हरि नही मिले। जन्म यो ही व्यतीत हो रहा है। उनकी राह देखते-देखते एक दिन युग के समान बीत रहा है। चातक और कोकिला की कूक, सखी ! अब कानो से सुनी नही जा रही है। चन्द्रमा तथा उसकी किरणें करोडो सूर्य बनकर सन्ताप दे रही हैं। सूर कहते है कि युवतियाँ कृष्ण के आगमन मे बड़ी सजधज के साथ तैयार होती हैं पर फिर भी वे नहीं आते। फिर वे सजधज के सामान भी प्राणान्त व्यथा देने वाले बन गये हैं। कृष्ण के आगमन की प्रतीक्षा मे वे गहनों को इस प्रकार सजाती हैं जैसे युद्धस्थल मे जाने को उत्कठित योद्धा कवच धारण कर लेता है। जिस प्रकार अर्जुन ने वाणों की शरशय्या बनाकर उसी प्रकार कामदेव के वाणों पर गोपियाँ व्यथित एव तड़पती हुई लेटी हैं। शरशय्या पर लेटे भीष्म ने सूर्य के दक्षिणायन होने पर प्राण परित्याग किये थे। जब तक सूर्य दक्षिणायन नही हुए तब तक वे उसकी प्रतीक्षा मे पडे धर्मोपदेश करते रहे। गोपियाँ भी मरण शरशय्या पर लेटी हुई दक्षिणायन सूर्य रूपी अवधि की प्रतीक्षा कर रही थी। उनके चचल प्राण शरीर त्याग नहीं कर रहे हैं।

विशेष—इस पद मे उपमा, उत्प्रेक्षा एव सागरूपक अलकार है।

तुम्हारे विरह, ब्रजनाथ, ग्रहो प्रिय ! नयनन नदी बढ़ी।
लीने जात निमेष-कूल दोउ एते मान चढ़ी।
गोलक-नव नौका न सकत चलि, स्यो सरकनि बढ़ि बोरति।
ऊरध स्वास-समीर तरंगन तेज तिलक-तरन तोरति॥
कज्जल कीच कुचील किए तट, अंतर अधर कपोल।
रहे पथिक जो जहाँ सो तहाँ थकि हस्त चरन मुख-बोल॥
नाहिन और उपाय रमापति बिन दरसन छन जीजै।
असु-सलिल बूड़त सब गोकुल सूर सुकर गहि लीजै॥२६०॥

शब्दार्थ—निमेष-कूल—पलकरूपी तट। गोलक—पुतली। तट—ओंठ औ कपोल तट के मैदान हैं।

व्याख्या—विरह में कृष्ण को पुकारती हुई गोपियाँ कहती हैं कि हे प्यारे श्री कृष्ण ! तुम्हारे वियोग-दुःख के कारण हमारे नेत्रों की नदी में बाढ़ आ गई है। यह बाढ़ इतनी बढ़ गई है कि दोनों पलकरूपी तटों को समेटे लिए जा रही है। अति गोलकरूपी नयी नाव भी इस चढ़ी हुई नदी में चल नहीं पा रही है क्योंकि यह नदी अपने प्रबल प्रवाहों से उछल कर इसको डुबाये देती है। हमारे ऊर्ध्वश्वास की समीरों के बवंडर ने इस नदी की तरंगों को इतना उच्छृंखलित बना दिया है कि वह तिलकरूपी वृक्ष को भी तोड़े दे रही है। काजल की कीचड़ बहाकर इसने कपोल अधरों के तटों के भीतरी भाग गन्दे बना दिये हैं। इसके संकट से स्थगित होकर हाथ, पैर और मुख के बोलरूपी पथिक जहाँ के तहाँ ठहर गये हैं। ऐसी असाध्य अवस्था में हे कृष्ण ! तुम्हारे दर्शन के बिना क्षणभर के लिए जीने का कोई उपाय नहीं है। सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि आँसुओं की बढ़िया में यह सारा गोकुल डूबा जा रहा है। आप कृपया अपने हाथ से इसे रोक लो।

विशेष—सागरूपक अलंकार की छटा देखते ही बनती है।

हमको सपनेहु मे सोच।
जा दिन तें बिछुरे नँदनंदन ता दिन तें यह पोच॥
मनोगोपाल आए मेरे घर, हँसि करि भुजा गही।
कहा करौं बैरिनि भइ निंदिया, निमिष न और रही॥
ज्यों चकई प्रतिबिंब देखिकै आनंदी प्रिय जानि।
सूर, पवन मिस निठुर बिधाता चपल करयो जल आनि॥२६१॥

शब्दार्थ—पोच—बुरा। आनंदी—आनन्दित हुई। निमिष—पल भर।

व्याख्या—अपने वियोग-दुःख का वर्णन करती हुई गोपियाँ कहती हैं कि हमको तो स्वप्न में भी यही चिन्ता रहती है। जिस दिन से नन्दनन्दन बिछुड़े हैं उसी दिन से हमारा यह मन बहुत भयभीत हो गया है। मैंने स्वप्न में देखा कि मानो गोपाल मेरे घर पधारे हैं और हँसकर उन्होंने मेरी भुजा पकड़ ली है। इससे आगे तो कोई आनन्द

ं स्वप्न मे भी नही ले सकी। क्या करूँ निद्रा भी मेरी शत्रु बन गई, थोड़ी-सी देर भी ौर न ठहरी। सूर कहते हैं कि गोपियो ने कहा कि यह दशा तो उस चकई की भाँति ो गई जो प्रतिबिम्ब को जल मे देखकर उसे अपना प्रियतम समझकर आनन्दित होने गी तथा इतने मे ही निष्ठुर दैव ने हवा के बहाने आकर जल को हिला दिया और चारी चकई का स्वप्न भग हो गया।

विशेष—इस पद में उपमा एव अपह्नुति अलकार है।

> अँखियाँ अजान भई।
> एक अग अवलोकत हरि को और हुती सो गई॥
> यों भूली ज्यो चोर भरे घर चोरी निधि न लई।
> बदलत भोर भयो पछितानी, कर तें छाँडि दई॥
> ज्यों मुख परिपूरन हो त्यो हो पहिलेइ क्यों न रई।
> सूर सकति अति लोभ बढ्यो है, उपजति पीर नई॥२६२॥

शब्दार्थ—बदलत—इसे ले अथवा उसे ले। एक अग—निरन्तर। रई—रगी। सकति—शक्तिभर।

व्याख्या—गोपियाँ अपने नेत्रो को लक्ष्य करके कहती हैं कि ये आँखें ही अजान हो गई थी। जब कृष्ण यहाँ थे तो ये अज्ञ बन रही, अब दर्शन के लिए तडफ रही हैं। जब उनके दर्शन हुए तो इतना भूल गईं जैसे भरे घर मे घुस कर चोर धन को देखकर हक्का-बक्का हो जाता है और उसकी समझ मे नही आता कि क्या चुराया जाय और क्या नही। और इसी अशोपज मे रात बीत जाती है। इसी प्रकार लज्जा के कारण कृष्ण पर लगी हुई आँखें उनके और किसी अग को न देख सकीं। एक-एक करके सबका त्याग करती रहीं। अब पीछे पश्चात्ताप कर रही हैं। पहले ही इस बुद्धि को क्यों ग्रहण किया था। यदि पहले ऐसा न करती अर्थात् मन भर कर देख लेतीं तो फिर क्या था? अब तो दिन पर दिन उनके दर्शनो का लोभ बढ़ जाता है और नित्य नयी पीर उत्पन्न हो जाती है।

विशेष—इस पद मे उपमा अलकार है।

> दधिसुत जात हो वहि देस।
> द्वारका हैं स्यामसुदर सकल भुवन-नरेस॥
> परम सीतल अमिय तनु तुम कहियो यह उपदेस।
> काज अपनो सारि, हमकों छाँडि रहे बिदेस॥
> नंदनदन जगत बदन, धरहु नटवर-भेस।
> नाथ! कैसे अनाथ छाँड्यो कहियो सूर सँदेस॥२६३॥

शब्दार्थ—सारि—निकाल कर, पूरा करके। दधिसुत—चन्द्रमा।

व्याख्या—विरह-व्यथा से संतप्त गोपियाँ चन्द्रमा द्वारा श्री कृष्ण के पास संदेश भेजती हुई कहती हैं कि हे चन्द्र ! तुम तो उस देश में जाया करते हो। वहाँ सारे भुवनों के राजा कृष्ण द्वारिका रह रहे हैं। तुम अत्यधिक शीतल हो और तुम्हारा शरीर अमृत-मय है। तुम कृपया हमारी यह बात कह देना कि तुम अपना नाम निकालकर हमें छोड़ कर विदेश जा रहे हो। हे जगत् के वन्दनीय नन्दनन्दन ! एक बार फिर हमारे लिए नटवर का वेष धारण करके व्रज में आ जाओ। सूर कहते हैं कि गोपियाँ चन्द्रमा से कहती हैं कि उनसे तुम हमारा यह सन्देश कह देना कि हे नाथ ! तुम हमें अनाथ करके क्यों छोड़ गये ?

विशेष—इस पद में 'नाथ' शब्द साभिप्राय विशेष्य होने के कारण परिकरांकुर अलंकार है।

जाहि री सखी ! सीख सुनि मेरी।
जहाँ बसत जदुनाथ जगतमनि बारक तहाँ आउ दै फेरी॥
तू कोकिला कुलीन कुसलमति, जानति बिथा बिरहिनी केरी।
उपवन बैठि बोलि मृदुबानी, बचन बिसाहि मोहि कर चेरी॥
प्रानन के पलटे पाइय जस, सेंति बिसाहु सुजस की ढेरी।
नाहिन कोउ और उपकारी सब बिधि बसुधा हेरी॥
करियो प्रगट पुकार द्वार है अबलन्ह आनि अनंग अरि घेरी।
व्रज लै आउ सूर के प्रभु को गावहि कोकिल ! कीरति तेरी॥२६४॥

शब्दार्थ—बिसाहि—मोल लेना। प्रानन के पलटे—यश प्राण देने पर ही मिलता है।

व्याख्या—विरह से व्यथित गोपियाँ कोयल को सम्बोधन करके कहती हैं कि हे सखी ! तुम मेरी एक शिक्षा सुनो। जहाँ विश्वमणि श्री यदुनाथ रहते हैं वहाँ भी तुम एक बार चक्कर लगा आओ। हे चतुर बुद्धि कोयल ! तुम बड़ी कुलीन हो और विरहिणियों के दुःख को खूब समझती हो। अतः तुम वहाँ जाकर उपवन में मीठी बोली सुनाओ और अपने इन मीठे वचनों से खरीद कर हमें अपनी मोल ली हुई दासी बना लो। जो सुयश प्राणों को त्यागने पर प्राप्त होता है उस सुयश को तू केवल बोल के बदले ले ले। हमने सारे संसार पर खूब दृष्टि डालकर देख लिया हमारा और कोई भी उपकारी नहीं है। अब हम निराश होकर तुम्हारी शरण में हैं, तुम जाकर उनके द्वार पर हमारी टेर सुना देना और कह देना कि बेचारी अबलाओं को काम ने घेर रखा है। किसी प्रकार तुम सूर के स्वामी श्याम को यहाँ ले आओ तो हम सदैव तुम्हारी सुन्दर कीर्ति का यशगान करेंगी।

विशेष—विरह-व्यथित गोपियों का कोयल से इस प्रकार निवेदन करना कितना मर्मस्पर्शी है !

कोउ, माई ! बरजं या चदहि।
करत है कोप बहुत हम्ह ऊपर, कुमुदिनि करत अनदहि ॥
कहाँ कुहू, कहँ रवि अरु तमचुर बलाहक कारे।
चलत न चपल, रहत रथ थकि करि, बिरहिनि के तन जारे ॥
निंदति सैल, उदधि, पन्नग को, स्रापति कमठ कठोरहि।
देति असीस जरा देवी को, राहु, केतु किन जोरहि ?
ज्यों जलहीन मनि तन तलफत त्योंहि तपत ब्रजबालहि।
सूरदास प्रभु बेगि मिलावहु मोहन मदन-गोपालहि ॥२६५॥

शब्दार्थ—कुहू—अमावस्या। तमचुर—मुर्गा। बलाहक—बादल। जरा—एक राक्षसी जिसने जरासध के शरीर के दो टुकडे जोडे थे।

व्याख्या—विरहानल से सतप्त राधा चन्द्रमा को कोसती हुई कहती हैं कि हे सखी ! कोई इस चन्द्रमा को रोक ले। यह अपनी प्रेयसि कुमुदिनी को तो आनन्दित करता है परन्तु हम पर कोप दिखाता है। न जाने अमावस्या कहाँ चली गई जो इसे आकर छिपा लेती। कहाँ गया वह दिवाकर जिसके आने से यह छिप जाता है। कहाँ गया वह मुर्गा, जिसके आने पर यह अस्त होने लगता है। कहाँ गये वे मेघ जो इसको ढक लेते हैं। यह चन्द्रमा बडा ही ढीठ हो गया है। चलने का नाम तक नहीं लेता। वह अपना रथ रोक कर खडा हो गया है और विरहिणियो को जला रहा है। हम मदराचल पर्वत, समुद्र, शेषनाग तथा कठोर कच्छप को कोस रही हैं क्योकि इन्हीं की सहायता से समुद्र मथा गया था और उसमे से क महाशय चन्द्रमा निकले थे। कितना सुन्दर होता कि वह जरा राक्षसी राहु और केतु को फिर से जोडकर एक कर देती जिससे वह चन्द्रमा को ही समाप्त कर देता। जलहीन मछली के समान हम सब ब्रजयुवतियाँ कृष्ण के वियोग म तडप रही हैं। सूर कहते हैं कि राधा ने कहा कि हमारे स्वामी मदन-गोपाल को लाकर हमसे शीघ्र ही मिला दो।

विशेष—(i) इस पद मे अतिशयोक्ति एव उपमा अलकार है।

(ii) पद्माकर कवि ने भी चन्द्र के विषय मे कुछ ऐसा ही कहा है—

सिंधु को पूतन सुत, सिंधु तनया को बधु,
मन्दिर अमद शुभ सुन्दर सुधाई के।
कहै पदमाकर गिरीस के बसे हो सीस,
तारन के ईश, कुल कारन कन्हाई के।
हाल ही तू बिरह बिचारी ब्रजबाल ही पं,
ज्वाल से जगावत जुवाल सी जुन्हाई के।
एरे मतिमद चद आवत न तोहि लाज,
ह्वै के द्विजराज काम करत कसाई के॥

जो वै कोउ मधुबन लै जाय।
पतिया लिखि स्यामसुंदर को, कर कंकन देउँ ताय॥
अब वह प्रीति कहाँ गई, माधव! मिलते बेनु बजाय।
नयन-नीर सारंग-रिपु भीजे दुख सों रैनि बिहाय॥
सून्य भवन मोहि खरो डरावै, यह ऋतु मन न सुहाय।
सूरदास यह समौ गए तें, पुनि कह लैहैं आय?॥२६६॥

शब्दार्थ—ताय—उसको। सारंग-रिपु—कमल का शत्रु चन्द्रमुख।

व्याख्या—किसी भी सन्देश-वाहक के न मिलने पर पारितोषिक की घोषणा करती हुई कोई गोपी कहती है कि मैंने श्री कृष्ण के लिए पत्र लिख रखा है। यदि कोई इस पत्र को मथुरा पहुँचा दे तो मैं उसको हाथ का कंगन दे दूँगी। हा माधव! अब वह पहले वाला प्रेम कहाँ चला गया जब तुम मुरली बजाकर हमसे मिला करते थे। आज नेत्रों से प्रवाहित होते हुए आँसू इस चन्द्रमुख को भिगोते रहते हैं। रात्रि भी बड़े संकट से व्यतीत होती है। सूना घर मुझे बहुत भयावह प्रतीत होता है। यह ऋतु मुझसे देखी नहीं जाती। सूर कहते हैं कि आखिर श्याम कभी तो आवेंगे ही परन्तु समय बिताकर आने से फिर क्या हाथ लगेगा?

विशेष—इस पद मे रूपकातिशयोक्ति अलंकार है।

हरि परदेस बहुत दिन लाए।
कारी घटा देखि, बादर की नैन नीर भरि आए॥
पा लागौं तुम्ह, बीर बटाऊ! कौन देस तें धाए।
इतनो पतिया मेरी दीजो जहाँ स्यामघन छाए॥
दादुर मोर पपीहा बोलत सोवत मदन जगाए।
सूरदास स्वामी जो बिछुरे प्रीतम भए पराए॥२६७॥

शब्दार्थ—लाए—लगा दिये। पा लागौं—चर्ण स्पर्श करना। बटाऊ—पथिक।

व्याख्या—आकाश मे उठते हुए मेघों को देखकर विरहिणी गोपी पर जो प्रभाव पड़ा उसका वर्णन करते हुए सूरदास कहते हैं कि बादलों की काली घटा को देखकर गोपी के नेत्रों मे आँसू भर आये। कहने लगी कि हाय! श्री कृष्ण ने परदेस में बहुत दिन लगा दिये। वह बादलों को ही पथिक बनाकर कहती है कि भैया पथिक! तुम किस देश से दौड़े चले आ रहे हो। मैं तुम्हारे चरण स्पर्श करती हूँ। तुम मेरी चिट्ठी वहाँ जाकर पहुँचा दो जहाँ घनश्याम श्री कृष्ण रहते हैं। उनसे कह देना कि यहा वर्षागमन पर मेंढक, मयूर और चातक शोर मचाकर हमारे प्रसुप्त काम को जगा रहे हैं। हाय! सूर के स्वामी श्याम हमसे ऐसे बिछुड़े कि अब पराय होकर ही रह गये।

विशेष—पर कारज देह को धारे फिरे परजन्य यथा विधि है दरसौं।
निधि नीर सुधा के समान करौ, सबही विधि सुन्दरता सरसौ॥

'घन आनन्द' जीवनदायक ह्वं कछु मरियो पीर हिये परसौ
कबहूँ यां बिसासी सुजान के आंगन मो अंसुवान को लै बरसौ।'

आजु घनस्याम की अनुहारी।
उनै आए सांवरे, ते सजनी ! देखि रूप की आरि॥
इंद्रधनुष मनो नवल बसन छबि, दामिनी दसन बिचारि।
जनु बगपांति माल मोतिन की, चितवत हितहि निहारि॥
गरजत गगन, गिरा गोविंद की, सुनत नयन भरे बारि।
सूरदास गुन सुमिरि स्याम के बिकल भई ब्रजनारि॥२६८॥

शब्दार्थ—आरि—अड, मुद्रा। बसन—वस्त्र। दसन—दात।

व्याख्या—उमडते हुए काले बादलो को देखकर कृष्ण की याद मे विह्वल होकर गोपियाँ परस्पर कहती हैं कि आज तो श्याम के समान काले-काले बादल उमड रहे हैं। हे सखी ! उनके रूप की मुद्रा तो देखो। वे बिल्कुल श्याम के ही सदृश है, उन पर पडा हुआ इन्द्रधनुष मानो उनके नवीन वस्त्र की शोभा को व्यक्त कर रहा है। विद्युत को उनकी दत पक्ति समझो। ये श्वेत बगुलों की पक्ति मानो उनके वक्षस्थल पर पडी हुई मोतियो की माला है। ये देखो, वे अपने प्रेमियो को बडे प्रेम से देख रहे हैं। आकाश मे बादलो की गर्जन को गोविन्द की वाणी के रूप मे सुनकर उनकी आँखो में आँसू उमड आये। सूर कहते हैं कि गोपियाँ श्याम के गुणो को स्मरण करके अत्यन्त व्याकुल हो गई।

विशेष—इस पद मे स्मरण, वस्तुत्प्रेक्षा तथा रूपक अलकार है।

हर को तिलक, हरि ! चित को दहत।
कहियत है उडुराज अमृतमय, तजि सुभाव मोको वह्नि बहत॥
छपा न छीन होय, मेरी सजनी ! भूमि-डसन-रिपु कार्यो बसत।
ससि नहिं गमन करै पच्छिम दिसि, राहु गुसत गहि, मोको न गहत॥
ऐसोइ ध्यान धरत तुम, दधिसुत ! मुनि महेस जैसी रहनि रहत।
सूरदास प्रभु मोहन मूरति चितै जाति पै चित न सहत॥२६६॥

शब्दार्थ—वह्नि—आग धारण करता है। छपा—रात्रि। हर को तिलक—चन्द्रमा। भूमि-डसन-रिपु—साँप।

व्याख्या—दाहक चन्द्रमा को उपालम्भ देती हुई गोपियाँ कहती है कि हे कृष्ण ! आपकी अनुपस्थिति मे शिवजी का शिरोभूषण यह चन्द्रमा हमारे चित्त को जला रहा है। इस नक्षत्रराज चन्द्रमा को लोग अमृतमय कहते है पर हमारे लिए तो यह अपना स्वभाव छोडकर अग्नि को धारण या प्रवाहित करने वाला है। हाय री सखी ! रात्रि व्यतीत ही नहीं होती। साँप न जाने कहाँ रहता है ? वह यहाँ आकर हमारे जीवन का अन्त क्यो नही करता ? यह चन्द्रमा पश्चिम का मार्ग क्यो नही ग्रहण करता अर्थात्

अस्त क्यों नहीं होता ? राहु इसे पकड़कर क्यों नहीं ग्रस लेता जिससे कि यह हमें इस प्रकार न सता पाता। हे चन्द्र ! वैसे तो तुम बड़ी समाधि लगाकर मुनि तथा शिवजी की दिनचर्या को अपनाते हो अर्थात् उन्हीं के समान रहते हो। सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि चन्द्र का रूप हमारे प्रभु के समान ही मोहित करने वाला है। अतः हम ध्यान-मुद्रा में उसकी ओर देखने लगती हैं पर हमारा चित्त उसकी दाहकता के कारण उसे सहन नहीं कर पाता।

विशेष—इस पद में विषम, उपमा तथा विरोधाभास अलकार है।

ए सखि ! आजु की रैनि को दुख कह्यो न कछु मोपै परै।
मन राखन को बेनु लियो कर, मृग थाके उडुपति न चरै॥
आही प्राननाथ प्यारे बिनु सिव-रिपु-बान नूतन जो जरै।
अति अकुलाय बिरहिनी ब्याकुल भूमि-डसन रिपु भाव न करै॥
अति आतुर ह्वै सिह लिख्यो कर जेहि भामिनि को करुन टरै।
सूरदास ससि को रथ चलि गयो, पाछे तें रवि उदय करै॥३००॥

शब्दार्थ—मोपै—मुझपर। राखन—बहलाना। चरै—चलता है।

व्याख्या—रात्रि की व्यथा को कोई गोपी अपनी सखी से कह रही है कि हे सखी ! रात्रि की व्यथा तो मुझसे कहते नहीं बनती। जब चन्द्रमा के दर्शन से बहुत कष्ट हुआ तो मैंने मन बहलाने के लिए हाथ मे वशी ले ली और उसे बजाने लगी। फल इसका उलटा हो गया। चन्द्रमा के रथ के मृग वशी की ध्वनि पर मोहित होकर रुक गये। तत्पश्चात् प्राणनाथ कृष्ण की अनुपस्थिति मे कामदेव ने अपने बाण चलाने आरम्भ कर दिए। इससे मैं बहुत व्याकुल हो उठी और यह कामना करने लगी कि इससे तो मुझे सर्प ही आकर काट लें और मैं इस व्यथा से छुटकारा पा जाऊँ। जब चन्द्रमा नहीं टला तो मेरी सखियों ने सिह का चित्र बनाया जिससे चन्द्रमा के रथ के मृग डर जाएँ और चलने लगें। ऐसा करने पर सफलता मिली। मृग चल पड़े और थोड़ी देर मे चन्द्रमा अस्त हो गया। तब किसी सखी ने बताया कि पूर्व से सूर्य का उदय हो रहा है।

विशेष—इस पद मे विषादन एवं सूक्ष्म अलकार है।

देखो माई ! नयनन्ह सों घन हारे।
बिन ही ऋतु बरसत निसिबासर सदा सजल दोउ तारे॥
ऊरध स्वास समीर तेज अति दुख अनेक द्रुम डारे।
बदन सदन करि बसे बचन-खग ऋतु पावस के मारे॥
ढरि-ढरि बूँद परत कंचुकि पर मिलि अजन सों कारे।
मानहुँ सिव की पर्नकुटी बिच धारा स्याम निनारे॥

सुमिरि सुमिरि गरजत निसिबासर अस्रु-सलिल के धारे।
बूडत ब्रजहि सूर को राखै बिनु गिरिवरधर प्यारे।।३०१।।

शब्दार्थ—सिव—स्तन। बसे बचन-खग—बचन रूपी खग ने मुंह में ही निवास बना लिया है। निनारे—अलग-अलग।

व्याख्या—कृष्ण के वियोग मे रोती हुई गोपियाँ परस्पर कह रही हैं कि हे सखी! देखो, हमारे इन नेत्रों से तो बादल भी हार गये हैं। बादल तो वर्षा ऋतु में ही बरसते हैं पर ये तो बिना वर्षा ऋतु के ही दिन-रात बरसते हैं। इनकी दोनों पुतलियाँ सदा जल मे डूबी रहती हैं। हम लोगों की जो ऊर्ध्व स्वांस चल रही है वही इस वर्षा ऋतु की तेज बहने वाली वायु है जिसने हमारे अनेक सुखरूपी वृक्षो को उखाड़कर फेंक दिया है। वर्षा ऋतु के भय से ये वचनरूपी पक्षी अपने मुखरूपी घोंसले मे ही बसे रहते हैं, बाहर नही निकलते। भाव यह है कि हम दु.ख के मारे कुछ बोलती ही नही हैं। आँसुओं का पानी काजल से काला होकर बूँद-बूँद कर चोलियों पर गिर रहा है जो वक्षस्थल के स्तनों के मध्य श्याम रंग का होकर बह रहा है। ऐसा लगता है कि दो शिव की पर्णकुटियो के बीच मे एक श्याम नदी का प्रवाह बह रहा है जो उन दोनों को अलग किये हुए है। हम दिन-रात उन्हें स्मरण कर रही हैं, वही मानो मेघों का गर्जन है। हमारे जो आँसू निकल रहे हैं वे ही वर्षा के जल की धाराएँ हैं। सूर कहते हैं कि इस भीषण वर्षा के जल मे डूबते हुए व्रज को प्रिय गिरवरधारी के अतिरिक्त और कौन बचा सकता है।

विशेष—इस पद में श्लेष, रूपक और उत्प्रेक्षा से पुष्ट प्रतीप अलंकार है तथा अन्तिम पंक्ति मे गिरिवरधर सज्ञा के साभिप्राय होने के कारण परिकरांकुर अलंकार भी है।

जो तू नेक हू उडि जाहि।
बिविध बचन सुनाय बानी यहाँ रिझवत काहि।।
पतित मुख पिक परुष पसु लौं कहा इतो रिसाहि।
नाहिनै कोउ सुनत समुझत, बिकल बिरहिनि याहि।।
राखि लेबी अवधि लौं तनु, मदन! मुख जनि खाहि।
तहूँ तो तन-दगध देख्यो, बहुरि का समुझाहि।।
नदनदन को बिरह अति कहत बनत न ताहि।
सूर प्रभु ब्रजनाथ बिनु लै मौन मोहि बिसाहि।।३०२।।

शब्दार्थ—पतित मुख—मुख नीचा किये हुए। बिसाहि—मोल लेना। तन-दगध—शरीर का जलना।

व्याख्या—विरह व्यथा मे कोयल का शब्द सुनकर गोपियाँ कहती हैं कि हे कोकिल, तू यहाँ से तनिक उड़ क्यों नहीं जाती? यहाँ भिन्न-भिन्न प्रकार की बोली सुनकर तू किसे आकर्षित कर रही है। अपना मुख नीचे किये एक निर्दयी पशु के समान

तू क्यों क्रोध दिखा रही है। यहाँ कोई विकल विरहिणी की व्यथा नहीं सुनता। कामदेव, कृष्ण के आने की अवधि तक हम बना रहने दे। अपने मुँह से हम खा न ज तूने भी तो शिवजी द्वारा जलाये हुए अपने शरीर की व्यथा का अनुभव किया है। तुझ क्या समझावें ? नन्दनन्दन का विरह बहुत अधिक सताप देने वाला है। हम कुछ कहते नहीं बनता। अब पुन कोकिल से वे कहने लगी कि ब्रजनाथ श्रीकृष्ण अनुपस्थिति में तू मौन धारण कर हमें मोल ले ले। भाव यह है कि तू चुप रहकर ह कृतज्ञ कर।

विशेष—(1) इस पद मे अतिशयोक्ति अलकार है।

(ii) कामदेव अपने मित्र वसत के साथ शिवजी को क्षुब्ध करने के लिए उन आश्रम मे गया था। आकर्ण शरासन खीचकर वह समाधिस्थ शिव के पीछे खडा था। इतने मे ही शिवजी की समाधि उखड गई। पूजा के लिए आई हुई पार्वती को देख कर उनका मन क्षुब्ध हुआ ही था। इसका कारण कामदेव को समझकर उसे अप तृतीय नेत्र की अग्नि से भस्म कर दिया। तभी से इनका नाम अनग पड गया है—

तब सिव तीसर नैन उघारा। चितवत काम भयो जरि छारा॥

मधुकर ! जोग न होत सँदेसन।
नाहिन कोउ ब्रज मे या सुनिहै कोटि जतन उपदेसन॥
रवि के उदय मिलन चकई को सध्या समय अँदेस न।
क्यों बन बसैं बापुरे चातक, बधिकन्ह काज बधे सन॥
नगर एक नायक बिनु सूनो, नाहिन काज सबै सन।
सूर सभाय मिटत क्यों कारे जिहि कुल रीति डसै सन॥२०३॥

शब्दार्थ—अँदेस—सन्देह। सन—से। बापुरे—बेचारे।

व्याख्या—उद्धव के योगोपदेश पर गोपियाँ कहती हैं कि हे मधुकर ! कहीं सन्देशो से भला योग होता है ! चाहे तुम करोडो यत्न करो पर ब्रज म इस उपदेश को कोई नही सुनेगा। शाम को प्रियतम से वियुक्त होती हुई चकवी को सूर्योदय होने पर पुनमिलन के लिए कोई सन्देह नहीं होता। उसे निश्चय रहता है कि सूर्योदय होने पर मैं प्रियतम से अवश्य मिलूंगी। इसी प्रकार हमें भी विरह मे यह निश्चय है कि अवधि आने पर कृष्ण अवश्य मिलेंगे। चातक आदि पक्षी भले ही वन मे रहते हैं किसी का कुछ भी नहीं बिगाडते पर बधिको को तो उनकी हत्या से ही प्रयोजन है। इसी प्रकार हम भी विरह को सहन करती हैं और किसी का कुछ भी नहीं बिगाडतीं पर उद्धव जैसो को तो हमारा मन दुखाने मे ही आनन्द आता है। हमारा नगर नगर-नायक श्रीकृष्ण के बिना सूना है। यहाँ के रहने वालो से इस अभाव की पूर्ति नहीं हो सकती। सूर कहते हैं कि गोपियो ने कहा कि यह सब होते हुए भी कृष्ण और उनके साथियो को इसकी क्या चिन्ता ? ये तो काले नाग हैं काले ! दूसरो को डसना ही इनकी क्रमागत परम्परा है।

विशेष—इस पद मे अन्योक्ति अलकार है।

यह डर बहुरि न गोकुल आए।
सुन री सखी! हमारी करनी समुझि मधुपरी छाए॥
अधरातिक तें उठि बालक सब मोंहि जगैहैं प्राय।
बिनु पदत्रान बहुरि पठवेंगी बनहि चरावन गाय॥
सूनो भवन आनि रोकेंगी चोरत दधि नवनीत।
पकरि जसोदा पै लै जैहैं, नाचति गावति गीत॥
ग्वालिनि मोंहि बहुरि बाँधेंगी केते बचन लगाय।
एते दुखन सुमिरि सूर मन, बहुरि सहै को जाय॥३०४॥

शब्दार्थ—बहुरि—फिर। मधुपुरी—मथुरा। पठवेंगी—भेजेंगी।

व्याख्या—कृष्ण के कुपित होने की आशका व्यक्त करती हुई गोपियाँ कहती हैं कि अरी सखी सुनो! हमारा विचार है कि श्रीकृष्ण डर के कारण गोकुल नहीं लौटे। वे वास्तव मे हमारी करतूतो को सोचकर ही मथुरा मे जम गये हैं। वे सोचते होंगे कि यदि मैं ब्रज मे जाऊँगा तो वहाँ बालक पहले की भाँति आधी रात से उठकर मुझे जगाया करेंगे और गोपियाँ मुझे नगे पाँव वन मे गाय चराने भेजेंगी। सूने घर में मक्खन और दही चुराते हुए मुझे ग्वालिनें मना करेंगी और कितने ही दोषारोपण करके मुझे नाचती गाती यशोदा के सामने ले जायेंगी। सूर कहते हैं कि गोपियो ने कहा कि इन बातों को स्मरण करके वे अपने मन मे अवश्य ही सोचते होंगे कि फिर जाकर इन दुखो को कौन सहेगा।

विशेष—कृष्ण के ब्रज न लौटने मे शोकाकुल गोपियो के हृदय मे कभी कृष्ण की गलती महसूस होती है तो कभी अपनी। इस पद मे वे उनके कुपित होने का कारण ब्रज-वासियो की गलती ही बताती हैं।

तब तें बहुरि न कोऊ आयो।
वहै जो एक बार ऊधो पै कछुक सोध सो पायो॥
यहै बिचार करं, सखि माधव इतो गहरू क्यों लायो।
गोकुलनाथ कृपा करि कबहुँ लिखियो नाहि पठायो॥
अवधि आए एती करि यह मन अब जैहै बौरायो।
सूरदास प्रभु चातक बोल्यो मेघन अबर छायो॥३०६॥

शब्दार्थ—सोध—पता। गहरू—विलम्ब। अबर—आकाश।

व्याख्या—ऊधो के लौट जाने पर जब कृष्ण का सन्देश बहुत दिन तक नही मिला तो गोपियाँ परस्पर कह रही हैं कि अरे फिर तो कोई भी वहाँ से नहीं आया। एक बार उद्धव जी आय थे तभी उनका कुछ समाचार प्राप्त हुआ था। हम यही विचार किया करती हैं कि श्री कृष्ण ने इतना विलम्ब क्यो लगाया? गोकुलनाथ श्री कृष्ण ने हम

पर कृपा करके हमे पत्र भी नहीं भेजा। इतने दिन उनकी राह देखते हुए हमने समय व्यतीत कर दिया। यदि अब भी वे न आये तो हमारा मन पागल हो जायगा। ठीक इसी समय चातक बोलने लगे और गगन बादलो से ढक गया। ऐसा होन पर तो गोपियाँ और भी व्याकुल हो उठीं।

विशेष—ऊधो के आने पर कुछ समाचार तो मिला था चाहे वह बुरा था या अच्छा। किन्तु अब तो उन बेचारी गोपियों के लिए कोई भी समाचार न रहा।

> मेरो मन मथुराइ रह्यो।
> गयो जो तन तें बहुरि न आयो, लै गोपाल गह्यो॥
> इन नयनन को भेद न पायो, केइ भेदिया कह्यो।
> राख्यो रूप चोरि चित-अंतर सोइ हरि सोध लह्यो॥
> आए बोलत ता बिन ऊधो मनि दै लेहु मह्यो।
> निर्गुन साँटि गोविंदहि माँगत, क्यों दुख जात सह्यो॥
> जेहि आधार आजु लौं यह तनु ऐसे ही निबह्यो।
> सोइ छिंडाय लेत सुनु सूरज, चाहत हृदय दह्यो॥३०६॥

शब्दार्थ—सोध लह्यो—पता लग गया। मह्यो—मट्ठा। साँटि—बदले में। छिंडाय लेत—छीन लेते हैं।

व्याख्या—कोई गोपी कहती है कि मेरा मन अब भी मथुरा मे श्री कृष्ण के साथ ही रहता है। वह हमारा शरीर छोड़कर चला गया और वहाँ उसे गोपाल ने पकड़ लिया। हमारे नेत्रों के इस रहस्य को कोई नही जानता था कि उन्होंने श्री कृष्ण के रूप को चुरा लिया था परन्तु किसी भेद जानने वाले ने यह भेद खोल दिया। मैंने जो उनके रूप को अपने चित्त के भीतर छिपा लिया था उसका पता श्री कृष्ण ने पा लिया। उसी को वापिस ले जाने के लिए शोर मचाते हुए ऊधो यहाँ आये हैं। वे हमसे रूप-रूपी मणि देकर निराकार रूपी मट्ठा लेने को कह रहे हैं। वे हमसे निराकार के बदले में गोविन्द को चाहते हैं। हा ! इस दुःख को हम कैसे सहन कर सकती हैं। सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि इस विरह की असह्य दशा में भी जो रूप हमारे शरीर के लिए किसी न किसी दशा में निर्वाह का अवलम्ब रहा है उसे हमसे छीनकर ये उद्धव जी महाराज हमें भस्म करने के इच्छुक हैं।

विशेष—इस पद मे रूपकातिशयोक्ति अलंकार है।

> लोग सब देत सुहाई बातें।
> कहतहि सुगम करत नहि आवै, बोलि न आवत तातें॥
> पहिले आगी सुनत चंदन सी सती बहुत उमहै।
> समाचार ताते पर सीरे पीछे कौन कहै॥

कहत सबै सग्राम सुगम अति कुसुमलता करवार।
सूरदास सिर दिए सूरमा पाछे कौन बिचार ?॥३०७॥

शब्दार्थ—सुहाई—सुहावनी। करवार—तलवार। उमँहै—उमगित होना।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव पर कटाक्ष करती हुई कहती हैं कि लोगो को चिकनी चुपडी बातें करने की आदत हुआ ही करती है। योग की साधना बस कहने मे ही बडी सुगम है, करने पर पता लगता है कि कितनी कडी है। देखो न अब इसीलिए उद्धव मौन धारण किये हैं, उनसे उत्तर नही बन पा रहा है। पहले अग्नि को चन्दन जैसी शीतल सुन-सुनकर सती होने वाली स्त्री प्रसन्न होती है किन्तु जब वह जल कर भस्म हो जाती है तब बताने वाला रहा ही कौन जो यह बतावे कि आग ठण्डी थी या गर्म। सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि ये सभी कहते हैं कि सच्चे वीर के लिए युद्ध एक खिलवाड है और तलवार फूलो की लता है। लेकिन जब वीर भी उससे अपना सिर कटा लेता है तो फिर बात ही क्या रही ?

विशेष—(i) इस पद मे अन्योक्ति अलकार है।
(ii) गई पूतरी नौन की थाह सिधु की लैन।
पैठत ही घुल मिल गई, पलट कहै को बैन।

बिछुरत श्री व्रजराज आज सखि ! नैनन की परतीति गई।
उडि न मिले हरि-सग-बिहंगम ह्वै न गए घनस्याम-मई॥
यातें क्रूर कुटिल सह मेचक वृथा मीन छवि छीनि लई।
रूप रसिक लालची कहावत, सो करनी कछु तौ न भई॥
अब काहे सोचत जल मोचत, समय गए नित सूल नई।
सूरदास याही ते जड भए जब तें पलकन दगा दई॥३०८॥

शब्दार्थ—विहगम—पक्षी, यहाँ खजन से तात्पर्य है। मेचक—कालापन लिए।

व्याख्या—अपने शोभाविहीन नेत्रो पर आक्षेप करती हुई गोपियाँ आपस मे कहती हैं कि हे सखी ! आज व्रजराज श्रीकृष्ण के बिछुड जाने पर इन नेत्रो का विश्वास जाता रहा है। ये यदि खजन हैं तो पक्षी होकर भी ये हरि के साथ उडकर क्यों न लग गये ? ये घनश्याममय क्यो न बन गये ? इन दुष्ट कुटिलों ने व्यर्थ ही मछलियो के कालेपन की शोभा को धारण किया है। उन मछलियो की करनी तो इन्होने कुछ भी न कर पायी। व्यर्थ में ही घनश्याम के रूप को प्यार करने वाले कृष्ण रूप के लोभी कहलाने लगे। यदि इन्होंने मछलियों की सुन्दर श्यामलता ली थी तो इन्हे उनके सदृश ही प्रेमी बनकर दिखाना चाहिये था। कृत्रिम प्रेम करने वालो को वस्तुतः यही दण्ड मिलना चाहिये। अब क्यो ये सोच मे मग्न रह कर पानी की वर्षा करते रहते हैं। समय बीत जाने के कारण नित्य नयी व्यथा का अनुभव करते हैं। सूर कहते हैं कि गोपियो ने कहा कि जब से पलकों ने इन्हें धोखा दिया है तब से ये जड बन गये हैं।

विशेष—इस पद मे हीनागरूपक अलकार है।

को कहै हरि सों बात हमारी ?
हम तो यह तब तें जिय जान्यौं जबै भए मधुकर अधिकारी ।।
एक प्रकृति, एकै कैतव गति तेहि गुन मन जिय भावै।
प्रगटत है नव कंज मनोहर, ब्रज किंसुक कारन कत आवै ।।
मन तोर चंपक-रस-चंचल, गति सब ही तें न्यारी।
ता अलि की संगति बसि मधुपुरि सूरदास प्रभु सुरति बिसारी ।।३०६।।

शब्दार्थ—कैतव गति—छल की चाल। चपक—चंपा।

व्याख्या—गोपियाँ निराशात्मक स्वर में परस्पर कह रही हैं कि हमारे मन की बात हरि से कौन कहे ? हमने यह बात तभी से जान ली है जब से उनके यहाँ भ्रमर ने हाथय अधिकारी बने हैं। दोनों का एक सा स्वभाव और एक सी ही विश्वासघात करने की आदत है। उनके गुणों को सोचकर हमारे मन में तो यही निश्चय आता है कि हमारी कहने वाला कोई है ही नहीं। वहाँ मथुरा में नया कमल खिलता है फिर यहाँ ब्रज में वह टेसू के फूल के पास क्यों आने लगा ? ये तो भ्रमर हैं कहीं भी स्थिर होकर नहीं रहते। आज कमल के लिए किंशुक को ही छोड़ा है। कमल के पास रहकर भी मन में चम्पा की भी सोचते रहते हैं, भले ही वह उनके काम का न हो। पर इससे उन्हें क्या ? ऐसे ही भौंरों के निकट रहकर सूर के स्वामी श्रीकृष्ण ने हमें विस्मृत किया है।

विशेष—इस पद में अन्योक्ति अलंकार है।

हमारे स्याम चलन चहत हैं दूरि।
मधुबन बसत आस ही सजनी ! अब मरिहैं जो बिसरि ।।
कौनै कही, कहाँ सुनि आई ? केहि दिसि रथ की धूरि।
संगति सबै चलो माधव के नातरु मरिबो भूरि।।
पच्छिम दिसि एक नगर द्वारका, सिंधु रह्यो जल पूरि।
सूर स्याम क्यों जीवहिं बाला, जात सजीवन मूरि ।।३१०।।

शब्दार्थ—ही—थी। नातरु—नहीं तो। मूरि—जड़ी।

व्याख्या—कृष्ण के द्वारिका जाने का समाचार सुनकर कोई गोपी अन्य गोपियों से कहती है कि सुना है कि अब हमारे प्रियतम श्याम दूर जाना चाहते हैं। हे सखी ! मथुरा रहते हुए तो कुछ मिलन की आशा थी भी पर अब तो बस रो-रोकर ही मर जायेंगी। ऐसा सुनकर सारी सखियाँ व्यग्र हो जाती हैं और पूछने लगती हैं कि यह बात तुमसे किसने कही ? कहाँ से सुनकर आई हो तुम इस बात को ? तुमने रथ की धूल किस ओर उड़ती देखी है ? बिना उत्तर की प्रतीक्षा किए हुए ही तीव्र उत्कण्ठा के साथ वे कह उठती हैं कि चलो आई, सब मिलकर माधव के साथ चलें। नहीं तो हम सब विरहाग्नि में जलकर मर जायेंगी। वह सखी उनके प्रश्न का उत्तर देती हुई कहती है कि

पश्चिम की ओर एक द्वारिका नगरी है जो चारों ओर से समुद्र से घिरी हुई है। यह सुनकर गोपियों ने कहा कि हाय ! ये बालार्य अब कैसे जीवेंगी ? इनकी सजीवनी जड़ी आप तो क्योंकि सदा के लिए बिछुड़ रहे हो।

विशेष—इस पद में रूपकातिशयोक्ति अलंकार है।

उतौ दूर तें को आवैं हो।
जाके हाथ संदेस पठाऊँ सो कहि कान्ह कहाँ पावैं हो॥
सिंधकूल एक देस कहत हैं, देख्यो सुन्यो न मन धावैं हो।
तहाँ रच्यो नव नगर नंद सुत पुरि द्वारका कहावैं हो॥
कंचन के सब भवन मनोहर, राजा रंक न तृन छावैं हो।
ह्याँ के सब बासी लोगन को ब्रज को बसिवो नहिं भावै हो॥
बहु विधि करति विलाप विरहिनी बहुत उपाव न चित लावैं हो।
कहा करौं कहँ जाउँ सूर प्रभु, को मोहि हरि पै पहुँचावैं हो॥३११॥

शब्दार्थ—को—कौन। मन धावैं—कल्पना। तृन छावैं—छप्पर बनाना।

व्याख्या—कृष्ण के द्वारिका चले जाने पर गोपियाँ निराश होकर कहती हैं कि इतनी दूर से भला कोई क्यों आवेगा ? हे कृष्ण ! अपने वियोग का सन्देश भेजने के लिए भी अब हमें कहाँ और कौन मिल सकेगा ? मतलब यह है कि इतनी दूर जाने के लिए तो कोई भी तैयार नहीं होगा। सुना है कि समुद्र के किनारे कोई देश है जिसके बारे में न हमने कभी सुना और न देखा। उसकी दूरी के विषय में केवल कल्पना ही की जा सकती है। वहाँ नन्दनन्दन ने एक नगर बसाया है जिसे द्वारिका कहते हैं। वहाँ सभी के घर सोने के बने हैं। राजा से लेकर रक तक कोई भी घास-फूस का छप्पर नहीं बनाता। वे यह भी कहते हैं कि वहाँ के रहने वालों को ब्रज में रहना नहीं भाता। सूर कहते हैं कि विरहिणी गोपियाँ अनेक प्रकार से विलाप करती हैं और उपाय भी करती हैं पर उनका चित्त नहीं लगता। अतः वे व्यथित होकर कहती है कि कहाँ जायें और क्या करें ? कोई हमें यदि हरि के पास पहुँचा दे तो उसका बड़ा उपकार हो।

विशेष—मथुरा जाने पर ही गोपियों के दुःख का पारावार न था अब वे बेचारी कैसे रहेंगी, वस्तुतः उनकी चिन्ता का विषय है।

हमैं नँदनंदन को गारो।
इंद्र कोप ब्रज बह्यो जात हो, गिरिधारि सकल उबारो॥
रामकृष्न बल बदति न काहू, निडर चरावत चारो।
सगरे बिगरे को सिर ऊपर बल को बीर रखवारो॥
तब तें हम न भरोसो पायो केसि तृनाव्रत मारो।
सूरदास प्रभु रंगभूमि में हरि जीतो, नृप हारो॥३१२॥

को कहै हरि सो बात हमारी ?
हम तो यह तब तें जिय जान्यों जबै भए मधुकर अधिकारी ॥
एक प्रकृति, एक कैतव-गति तेहि गुन अस जिय भावै।
प्रगटत है नव कंज मनोहर, ब्रज किंसुक कारन कत आवै ॥
कंजतोर, चपक-रस-चचल, गति सब ही तें न्यारी।
ता अलि की सगति बसि मधुपुरि सूरदास प्रभु सुरति बिसारी ॥३०६॥

शब्दार्थ—कैतव गति—छल की चाल। चपक—चपा।

व्याख्या—गोपियाँ निराशात्मक स्वर मे परस्पर कह रही हैं कि हमारे मन की बात हरि से कौन कहे ? हमने यह बात तभी से जान ली है जब से उनके यहाँ भ्रमर ने हाशय अधिकारी बने हैं। दोनो का एक सा स्वभाव और एक सी ही विश्वासघात करने की आदत है। उनके गुणों को सोचकर हमारे मन में तो यही निश्चय आता है कि हमारी कहने वाला कोई है ही नही। वहाँ मथुरा मे नया कमल खिलता है फिर यहाँ ब्रज मे वह टेसू क फूल के पास क्यो आने लगा ? ये तो भ्रमर हैं कहीं भी स्थिर होकर नहीं रहत। आज कमल के लिए किंशुक को ही छोडा है। कमल के पास रहकर भी मन मे चम्पा की भी सोचते रहते हैं, भले ही वह उनके काम का न हो। पर इससे उन्हें क्या ? ऐसे ही भौंरे के निकट रहकर सूर के स्वामी श्रीकृष्ण ने हमे विस्मृत किया है।

विशेष—इस पद मे अन्योक्ति अलकार है।

हमारे स्याम चलन चहत हैं दूरि।
मधुबन बसत आस ही सजनी ! अब मरिहैं जो बिसरि ॥
कौनै कही, कहाँ सुनि माई ? केहि दिसि रथ की धूरि।
सगति सबै चलौ माधव के नातरु मरिबो झूरि ॥
पश्चिम दिसि एक नगर द्वारका, सिंधु रह्यो जल पूरि।
सूर स्याम क्यों जीवहिं बाला, जात सजीवन मूरि ॥३१०॥

शब्दार्थ—हो—थी। नातरु—नहीं तो। मूरि—जडी।

व्याख्या—कृष्ण के द्वारिका जाने का समाचार सुनकर कोई गोपी अन्य गोपियों से कहती है कि सुना है कि अब हमारे प्रियतम श्याम दूर जाना चाहते हैं। हे सखी ! मथुरा रहते हुए तो कुछ मिलन की आशा थी भी पर अब तो बस रो रोकर ही मर जायेंगी। ऐसा सुनकर सारी सखियां स्तब्ध हो जाती हैं और पूछने लगती हैं कि यह बात तुमसे किसने कही ? कहाँ से सुनकर आई हो तुम इस बात को ? तुमने रथ की धूल किस ओर उडते देखी है ? बिना उत्तर की प्रतीक्षा किए हुए ही तीव्र उत्कण्ठा के साथ वे कह उठती हैं कि चलो भाई, सब मिलकर माधव के साथ चलें। नहीं तो हम सब विरहाग्नि में जलकर मर जायेंगी। वह सखी उनके प्रश्न का उत्तर देती हुई कहती है कि

ञ्ज, कुंद, कदंब, कोविद, कनिकार, सु कंज।
रकी, करवीर, चिलक बसंत-सम तरु मंजु॥
घन तरु कलिका-अलंकृत, सुकृत सुमन सुबास।
रलि नयनन्ह होत मन माधव-मिलन की आस॥
नुज मृग पसु पच्छि परिमित औ अमित जे नाम।
ुख स्वदेस बिदेस प्रीतम सकल सुमिरत धाम॥
हैं है न चित्त उपाय सोच न कछू परत बिचार।
नाहि ब्रजबासी बिसारत निकट नंदकुमार॥
सुमरि दसा दयाल सुन्दर ललित गति मृदु हास।
चारु लोल कपोल कुंडल डोल बलित-प्रकास॥
वेनु कर कल गीत गावत गोपसिसु बहु पास।
सुदिन कब यहि आँखि देखें बहुरि बाल-बिलास॥
बार बारहि सुधि रहित अति बिरह ब्याकुल होनि।
बात बेग सो लगै जैसी दीन दीपक-ज्योति॥
सुनि बिलाप कृपाल सूरजदास प्रान प्रतीति।
दरस दै दुख दूर करिहैं, सहि न सकिहैं प्रीति॥३१३॥

शब्दार्थ—हित-रुचि—प्रेम का अभिलाष। घोर—बादल की गरज। कोविद—कचनार। कनिकार—कनियारी का पेड। करबीर—कनेर। चिलक—चमक। रमित—तक। बात-बेग—हवा का झोंका। बलित—युक्त। मृग पसु—पशु जाति।

व्याख्या—श्रीकृष्ण-वियोग मे वर्षा के आगमन पर दुखी होती हुई गोपियाँ आपस मे कह रही हैं कि हे सखी! वर्षा ऋतु का आगमन हो गया है। क्या कृष्ण ऐसे समय मे हमारी याद करके पहले की भाँति आवेंगे? रग-बिरगे अनेक बादल सुन्दर वेष धारण किये हुए उठ रहे हैं। इस समय आकाश की शोभा सब ऋतुओं की अपेक्षा अधिक है। बगुले उड रहे हैं, तोतो के झुण्ड के झुण्ड बहुत सुशोभित हैं। मयूर और चातक भी शोर कर रहे हैं। गर्जन करते हुए मेघो मे विद्युतमाला की चमक देखकर अनेक प्रकार की मनोगत अभिलाषायें बढ रही हैं। पृथ्वी के शरीर पर प्रियतम के मिलने के कारण तृणरूपी रोमाच हर्षित हो रहा है। हस, कोयल, तोता-मैना और मधुप-समूह नाना प्रकार का गुजन कर रहे हैं। आनन्द से उमडकर मेघ मगलप्रद जल की वर्षा कर रहे हैं। पक्षी विषाद-रहित दिखाई पडते हैं। अनेक प्रकार के तरु वनस्पति कुञ्ज, कुद, कदम्ब, कचनार, कनियारी का पेड, कमल, केतकी और कनेर आदि की प्रभा बसन्त काल के समान सुन्दर हो रही है। घने-घने वृक्षो पर कलिया अलकृत हो रही हैं तथा सुन्दर पुष्पों की सुगधि फैल रही है। इन सब हृदयहारिणी शोभाओं को देखकर मन मे माधव से मिलने की आशा घर कर रही है। मनुष्य से लेकर पशु-पक्षियों

शब्दार्थ—गारो—गर्व। बीर—भाई। रगभूमि—युद्धभूमि।

व्याख्या—श्रीकृष्ण के विरह मे पश्चात्ताप करती हुई गोपियाँ कहती हैं कि हमे तो नन्दनन्दन पर गर्व है। इन्द्र के क्रोध से जब व्रज बहा जाता था तो उन्होने ही गोवर्धन धारण करके इसकी रक्षा की थी। बलराम और कृष्ण की शक्ति पर भरोसा करके हम किसी की भी चिन्ता नहीं करती थी। निडर होकर अपनी गायें चराती थीं। हमारे सब कार्यों के सम्भालने वाले श्रीकृष्ण हमारे सरक्षक थे। हमे उन पर पूर्ण विश्वास था किन्तु केशी और तृणावर्त्त राक्षसो के वध के बाद उनकी कोई विश्वास बधाने वाली बात न हुई। शायद अब उन्हें हमसे और हमारे व्रज से कोई प्रेम नहीं रहा। हाँ इतना अवश्य सुना गया है कि युद्ध मे कस परास्त हुए और सूर के स्वामी श्याम विजयी बने।

विशेष—(i) एक बार श्रीकृष्ण ने इन्द्र का अभिमान चूर्ण करने के हेतु लोगो से इन्द्र की पूजा करने को मना कर दिया। इन्द्र ने गुस्से मे आकर मूसलाधार वर्षा की। किन्तु श्रीकृष्ण ने गोवर्धन धारण करके व्रज को बचा लिया।

(ii) केशी एक राक्षस था। उसे कस ने कृष्ण को मारने के लिए भेजा था। वह एक बलवान और महान् घोडे के रूप मे नन्द ग्राम मे आया। उसके पैर जमीन मे और मुख आसमान मे था। उसने कृष्ण को अपने पैरों से कुचल कर मार डालना चाहा। किन्तु कृष्ण ने उसे मार गिराया।

(iii) तृणावर्त्त भी एक राक्षस था। वह भी कस द्वारा ही बालकृष्ण को मारने के लिए भेजा गया था। यशोदा कृष्ण को गोदी मे लिए हुए थी कि अचानक वह राक्षस एक महान् बवडर के रूप मे आया और सारे व्रज को धूल से भर दिया। वह कृष्ण को यशोदा की गोदी मे से आकाश मे उडा कर ले गया। किन्तु कृष्ण ने उसे भी मार डाला।

ऐसे माई पावस ऋतु प्रथम सुरति करि माधवजू आवें री।
बरन बरन अनेक जलधर अति मनोहर वेष।
यहि समय यह गगन-सोभा सबन सें सुबिसेष॥
उडत बक, सुक-वृन्द राजत, रटत चातक मोर।
बहुत भाँति चित हित रुचि बाढ़त दामिनी घनघोर॥
धरनि-तनु तृनरोम हर्षित प्रिय समागम जानि।
और द्रुम बल्ली बियोगिनी मिलीं पति पहिचानि॥
हस, पिक, सुक, सारिका अलिपुञ्ज नाना नाद।
मुदित मगल मेघ बरसत, गत बिहग बिषाद॥

कुञ्ज, कुंद, कदंब, कोविद, कनिकार, सु कंजु।
केतकी, करवीर, चिलक बसंत-सम तरु मजु॥
सघन तरु कलिका-अलंकृत, सुकृत सुमन सुवास।
निरखि नयननि होत मन माधव-मिलन की आस॥
मनुज मृग पसु पच्छि परिमित औ अमित जे नाम।
सुख स्वदेस विदेस प्रीतम सकल सुमिरत धाम॥
ह्वै है न चित्त उपाय सोच न कछू परत बिचार।
नाहिं ब्रजवासी बिसारत निकट नंदकुमार॥
सुमरि दसा दयाल सुन्दर ललित गति मृदु हास।
चारु लोल कपोल कुंडल डोल बलित-प्रकास॥
बेनु कर कल गीत गावत गोपसिसु बहु पास।
सुदिन कब यहि आँखि देखें बहुरि बाल-विलास॥
बार बारहिं सुधि रहित अति विरह व्याकुल होति।
बात बेग सो लगै जैसो दीन दीपक-ज्योति॥
सुनि विलाप कृपाल सूरजदास प्रान प्रतीति।
दरस दै दुख दूर करिहैं, सहि न सकिहैं प्रीति॥३१३॥

शब्दार्थ—हित-रुचि—प्रेम का अभिलाष। घोर—बादल की गरज। कोबिद कचनार। कनिकार—कनियारी का पेड़। करबीर—कनेर। चिलक—चमक। परिमित—तक। बात-बेग—हवा का झोंका। बलित—युक्त। मृग पसु—पशु जाति।

व्याख्या—श्रीकृष्ण-वियोग मे वर्षा के आगमन पर दुखी होती हुई गोपियाँ आपस मे कह रही हैं कि हे सखी! वर्षा ऋतु का आगमन हो गया है। क्या कृष्ण ऐसे समय मे हमारी याद करके पहले की भाँति आवेंगे? रग-बिरगे अनेक बादल सुन्दर वेष धारण किये हुए उठ रहे हैं। इस समय आकाश की शोभा सब ऋतुओ की अपेक्षा अधिक है। बगुले उड रहे हैं, तोतो के झुण्ड के झुण्ड बहुत सुशोभित हैं। मयूर और चातक भी शोर कर रहे हैं। गर्जन करते हुए मेघों मे विद्युतमाला की चमक देखकर अनेक प्रकार की मनोगत अभिलाषायें बढ रही हैं। पृथ्वी के शरीर पर प्रियतम के मिलने के कारण तृणरूपी रोमाच हर्षित हो रहा है। हस, कोयल, तोता-मैना और मधुप-समूह नाना प्रकार का गुजन कर रहे हैं। आनन्द से उमडकर मेघ मगलप्रद जल की वर्षा कर रहे हैं। पक्षी विषाद-रहित दिखाई पडते हैं। अनेक प्रकार के तरु वनस्पति कुञ्ज, कुद, कदम्ब, कचनार, कनियारी का पेड, कमल, केतकी और कनेर आदि की प्रभा वसन्त काल के समान सुन्दर हो रही है। घने घने वृक्षो पर कलिया अलकृत हो रही हैं तथा सुन्दर पुष्पों की सुगधि फैल रही है। इन सब हृदयहारिणी शोभाओ को देखकर मन में माधव से मिलने की आशा घर कर रही है। मनुष्य से लेकर पशु-पक्षियो

तक जिनके अनन्त नाम हैं उन सबके प्रियतम जो विदेश प्रवासी हैं इस ऋतु मे स्व
का सुख याद करके अपने घर की ओर जा रहे हैं। सूर कहते हैं कि व्रजवासियों
चित्त मे और कोई उपाय नही दिखाई देता। अन्य कोई विचार कभी उनके दिल
उठता ही नही। यदि कोई उठता है तो केवल कृष्ण की समीपता का। उसे वे क
नही भूल पाते। वे कृपालु कृष्ण की सुन्दर चाल तथा मृदुल हास को सदैव स्मरण क
हैं। उनके सुन्दर कपोल और चचल कुडलो का वृत्ताकार प्रकाश उनके मनो में चु
रहता है। वे मनाती हैं कि श्याम अपने हाथ मे मुरली लिए गाते हुए बहुत से ग्वा
बालो को बटोर कर सग लिए हुए कब आवेंगे? वह सौभाग्यशाली दिन कब आवे
जब हम अपनी इन्ही आँखो से उनकी बाल-लीलायें फिर देखेंगी। उनको बार बा
उनकी याद आती है जिससे वे बहुत व्याकुल हो उठती हैं। वर्षाकाल के हवा के भों
से दीप-ज्योति के समान वे चचल और ज्योतिहीन हो जाती हैं। उनके विलाप को सु
कर परमभक्त सूरदास अपने प्राणो मे श्रीकृष्ण की भक्तवत्सलता पर अत्यधिक विश्वा
करके कह रहे हैं कि वे भक्तवत्सल दर्शन देकर इन दुखियारी गोपियों के कष्ट अवश्य ह
दूर करेंगे। वे भक्त हृदय में इस महान् प्रेम की पीर को कभी भी सहन नही कर सकते
भक्तो की दीनता पर द्रवित होना तो उनकी आदत है।

विशेष—(i) विनय के पदो मे सूर ने कई स्थानो पर भगवान् की भक्तवत्सलत
का वर्णन किया है जैसे एक स्थान पर—

भक्त विरह कातर करुनामय, डोलत पाछै लागे।
सूरदास ऐसे स्वामी कौं देहि पीठि सो अभागे।।

(ii) इस पद मे रूपक और उपमा अलकार की छटा भी देखते ही
बनती है।

चलहु धौं लै आवहिं गोपालै।
पाँय पकरि कै निहुरि बिनति कहि, गहि हलधर की बाँह बिसालै।।
बारक बहुरि आनि कै देखहिं नद आपने बालै।
गैयन गनत गोप गोपी सह सीखत बेनु रसालै।।
जद्यपि महाराज सुख सपति कौन गनै मोतिन अरु लालै।
तदपि सूर आकरषि लियो मन उर घुघचिन की मालै।।३१४।।

शब्दार्थ—धौं—वहाँ। निहुरि—निहोरे करके। हलधर—बलराम।

व्याख्या—गोपियाँ परस्पर विचार करती हैं कि चलो हम सब मिलकर गोपाल
को यहाँ लिवा लावें। उनके चरण पकडकर हम लोग बिनती करेंगी और बलदाऊ जी
की विशाल बाँहे पकडकर यहाँ ले आवेंगी जिससे नन्द फिर एक बार अपने बच्चो को
देख लें। कृष्ण यहाँ आवेंगे और गोप-गोपीसहित गायो को गिनकर तथा सुन्दर सरस
बशी बजाकर अपना समय व्यतीत करेंगे। यद्यपि वे आजकल महाराजा हैं, रत्नों की
उनके यहाँ गिनती नहीं है। पर सूरदास जी कहते हैं कि गोपियों को यह विश्वास है

क वे अवश्यमेव आवेंगे क्योंकि उनका मन अब भी गुंजाओं की मालाओं की ओर
ताकर्षित है।

विशेष—कृष्ण उनके प्रार्थना करने पर अवश्य ही लौट आवेंगे तथा आने पर
गोप-गोपियो को सरस वेणु की तान सुनावेंगे आदि कथनो से गोपियो का उनमे कितना
अटूट विश्वास दिखाई देता है।

बलैया लैहो, हो बीर बादर!
तुम्हर रूप सम हमरे प्रीतम गए निकट जल-सागर।।
पा लागों द्वारका सिधारो विरहिनि के दुखदागर।
ऐसो सग सूर के प्रभु को करुनाधाम उजागर।।३१५।।

शब्दार्थ—दागर—नाशक। बलैया लैहो—बलिहारी जाती हूँ।

व्याख्या—विरहोन्माद मे विरहिणी गोपियाँ मेघ द्वारा सन्देश भेजने के लिए
उत्कठित होकर कहती हैं कि हे भैया बादल! हम तुम्हारी बलिहारी जाती हैं। तुम्हारे
जैसे रूप के हमारे प्रियतम भी हैं जो आजकल समुद्र के किनारे बसी हुई द्वारिका मे
रह रहे हैं। तुम वहाँ जाओ और हम विरहिणियो का दुख दूर करो। सूर कहते हैं कि
गोपियो ने कहा कि करुणानिधि कृष्ण का साथ ऐसा ही है।

विशेष—वस्तुत भगवत प्रेम इसी प्रकार का होता है। तुलसी ने कहा है—
बिछुरत एक प्रान हरि लेहीं। मिलत एक दारुण दुख देहीं।

उपमा न्याय कही अगन की।
गए मधुपुरी क्यों फिरि आवें, सोभा कोटि अनगन की।।
मोर मुकुट सिर सुरधनु की छबि दूरहि ते दरसावै।
जो कोउ करै कोटि कैसेहु नेकहु नेकहु छुवन न पावै।।
अलक-भ्रमर भ्रमि भ्रमत सदा बन बहु बेली रस चाखै।
कमल-कोस-वासी कहियत पै बस बस अपनो मन राखै।।
कुडल मकर, नयन नीरज से, नासा सुक कविकुल गावै।
थिर न रहै, सकुचै निसि बस ह्वै, पजर रहिकै बेनु सुनावै।।
भ्रूधनु प्रान हरन दसनावलि हीरक, अधर सुबिंब।
सहज कठिन, संगति बुधि-हर्ता, तहँ कीन्हों अवलब।।
भुजा प्रचड महा रिपु मारक अस सो क्यों ठहराय।
तामे सप्त-छिद्र युत मुरली मनहर मत्र पढाय।।३१६।।

शब्दार्थ—न्याय—ठीक, उचित। बस बस—बाँसो का कुल या समूह। अस—
था।

व्याख्या—विरहावस्था मे कृष्ण के सौन्दर्य का स्मरण करके कहती हैं कि उनके
अग प्रत्यगों के लिए कवियो ने जो उपमान प्रस्तुत किए हैं वे न्यायसगत ही हैं। वे

कहते हैं कि श्रीकृष्ण के अंगों की उपमाएँ कवियों ने ठीक ही प्रस्तुत की है। व मनगो की शोभा वाले वे मधु-। चले गये। वे अब वहाँ से भला क्यों लौटने लगे ? यह है कि यदि कोई कुरूप होता तो उससे प्रेम करने वाला कोई न होता और वह कर फिर यहीं आ जाता। पर परमात्मा ने हमारे प्रियतम को तो रूपनिधि दी है वे भला लौटकर क्यों आने लगे ? उनके सिर पर विराजमान मयूर मुकुट है जो दू ही इन्द्रधनुष की शोभा दिखा देता है। यह उपमा भी किसी ने ठीक ही दी है क्यों करोड़ों उपाय करने पर भी कोई उस मुकुट को स्पर्श भी नहीं कर सकता। उनके के पाशों को भी भ्रमर की संज्ञा देना नितान्त उचित है क्योंकि वे भौंरे के समान ही चक काट काटकर अनेक वेलों के रस को चखते फिरते हैं और कमल की कलियों में र हुए भी अपने वशरूपी बाँस की ओर ध्यान लगाये रहते हैं। उनके कुण्डलो को मकर उपमा देना भी उचित ही है। क्योंकि मकर के समान वे भी सदा चचल रहते हैं। उन नेत्रो को भी कमल कहना ठीक ही है क्योंकि जैसे कमल रात्रि मे सकुचित रहते हैं उ प्रकार उनके नेत्र भी हमारे बुरे दिन आने पर सकुचित हो रहे हैं। यहाँ रहकर प्रे जताना और अलग हो जाने पर सुध भी न लेना श्रीकृष्ण का तोताचश्म होना ही प्रग करता है। उनकी नासिका को शुक कहना भी यथार्थ ही है क्योंकि जिस प्रकार तोत पिंजडे मे रहकर अपनी मीठी वोली से लोगों को मोहित करता है उसी प्रकार उनक नासिका भी शरीर-पिंजर में निवास करती हुई वेणु को बजाकर लोगो को मोहित करत है। उनकी भ्रूलता प्रेक्षको के प्राण हरण करने के कारण यथार्थ ही है। स्वभावत कठिन होने के कारण उनके दाँतों को हीरा कहना भी युक्तिसगत ही है। उनके अध को विम्बाफल की सज्ञा देना भी न्यायोचित ही है क्योंकि दोनों के सेवन से बुद्धि क नाश ही होता है। ये सब उनके आश्रय में ही निवास करते हैं। उनके उद्दण्ड भुजदण्ड दानुओं के नाशक हैं। फिर भला वे हमारे कन्धों पर किस प्रकार कब तक ठहर सकते हैं। और फिर उन भुजाओं में सात छिद्रों से युक्त मुरली दूसरों के मन को वशीकरण मन्त्र पढ़ाती है। पहले तो उनके अग प्रत्यग ही अत्यधिक मनमोहक हैं फिर उस पर मुरली का सयोग ! सोचो तो फिर कोई किस प्रकार अपने को नियन्त्रण में रख सकेगा ?

विशेष—इस पद मे रूपक, उपमा और श्लेष अलकार है।

> वारक जाइयो मिलि माधौ।
> को जानं कब छूटि जायगो स्वाँस, रहै जिय साधौ।।
> पहुँचेहु नद, यशु. के. आतुर, देति. सेहुँ, पल आधौ।।
> मिल ही में विपरीत करी विधि, होत दरस को बाधौ।।
> सो सुख सिव सनकादि न पावत जो सुख गोपिन लाधौ।
> सूरदास राधा विलपति है, हरि को रूप अगाधौ।।३१७।।

शब्दार्थ—साधौ—उत्कण्ठा। मिल ही में—सब वातें बन जाने पर भी। लाधौ-प्राप्त किया, पाया।

व्याख्या— वियोग-व्यथा से पीडित गोपियाँ तथा राधा श्रीकृष्ण से मिलने की उत्कण्ठा प्रगट करती हुई कहती हैं कि हे माधव ! तुम कम से कम एक बार मिल जाओ। कौन जानता है कि ये प्राण-पखेरू कब उड जाएँगे ? यदि वे हमे न मिले तो हमारे मन की अभिलाषा मन मे ही रह जायगी। और भी नहीं तो तुम नन्द बाबा के यहाँ अतिथि बनकर ही आ जाओ। हम तुम्हें आधे पल के लिए ही देख लें। हाय ! सब बातें बन जाने पर भी भाग्य ने तख्ता ही पलट दिया। हमे तुम्हारे दर्शन ही नही होते। सूर कहते हैं कि जो सुख गोपियो ने प्राप्त किया उसके लिए प्रसिद्ध भगवत-भक्त शिव और सनकादि भी सदा तरसते रहते हैं। राधा आज उनके दर्शनो के लिये विलाप कर रही हैं। वस्तुत कृष्ण की रूपमाधुरी अथाह है जो विश्वविमोहिनी राधा की भी यह दशा बन गई है।

विशेष—कृष्ण की रूप माधुरी की अधिकता की इससे बडी नाप क्या हो सकती है कि राधा भी जो विश्वविमोहिनी कही जाती हैं, विलाप कर रही हैं। उसे भी वे दर्शन नहीं देते।

निसिदिन बरसत नैन हमारे।
सदा रहित पावस ऋतु हम पै जब तें स्याम सिधारे॥
दृग अंजन लागत नहि कबहूँ, उर-कपोल भए कारे।
कचुकि नहि सूखत सुनु सजनी ! उर-बिच बहत पनारे॥
सूरदास प्रभु अबु बढ्यो है, गोकुल लेहु उबारे।
कहँ लौ कहौं स्यामघन सुंदर बिकल होन अति भारे॥३१८॥

शब्दार्थ—निसिदिन—रात-दिन। पनारे—प्रवाह। अबु—जल।

व्याख्या—अपनी विरह-व्यथा का वर्णन करती हुई गोपियाँ कहती हैं कि हमारे नेत्र तो श्रीकृष्ण के वियोग मे रात-दिन बरसते रहते हैं। जब से श्रीकृष्ण गोकुल से गये हैं हमारे यहाँ सदा वर्षा ऋतु लगी रहती है। अविरल आँसुओं की धारा प्रवाहित होने के कारण हमारी आँखों मे कभी अजन ही नही लग पाता। आँसुओं के साथ बहकर उसने हमारे कपोलो और वक्षस्थल को भी काला बना दिया है। हमारे वक्षस्थल पर आँसुओं के प्रवाह सदा प्रवाहित होते रहते हैं जिसके कारण हमारी चोली भी कभी नहीं सूख पाती। सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि आँसुओ की लगातार वर्षा होने के कारण गोकुल में पानी की बाढ आ रही है। हे स्वामिन ! अब आकर इसका उद्धार कर दीजिए। वस्तुत घनश्याम के वियोग मे गोकुल-निवासी बहुत ही व्याकुल हैं।

विशेष—रूपक एव सम्बन्धातिशयोक्ति अलकार की छटा दर्शनीय है।

आछे कमल-कोस रस लोभी द्वै अलि सोच करे।
कनक बेलि मो नवदल के ढिग बसते उझकि परे॥

कबहुँक पच्छ सकोचि मौन ह्वै अश्रुप्रवाह भरे।
कबहुंक कंपित चकित निपट ह्वै लोलुपता बिसरे॥
बिधु-मडल के बीच बिराजत अमृत अग भरे।
एतेउ जतन बचत नहि तलफन बिनु मुख सुर उचरे॥
कीर, कमठ, कोकिला, उरग-कुल देखत ध्यान धरे।
आपुन क्यों न पधारो सूर प्रभु देखे कह बिगरे॥३१६॥

शब्दार्थ—पच्छ—पख। कीर—नासिका। कमठ—मुख। कोकिला—वा
अलि—भौरे अर्थात् नेत्र की पुतलियां। उचकि परे—उचट कर चले गये।
मडल—चन्द्रमण्डल अर्थात् मुख। उरग कुल—सर्प-समूह अर्थात केश।

व्याख्या—कृष्ण वियोग में अपनी दशा का वर्णन करती हुई गोपियाँ कहत
कि एक सुन्दर कमल की कली के आनन्द के लोभी अर्थात् श्रीकृष्ण के मुख-कमल
दर्शनों के लिए उत्कठित ये दो भ्रमर अर्थात् दोनो पुतलियां सदैव चिन्तित रहती
स्वर्णलता और नवीन पखडी के पास रहने वाले ये भ्रमर उचट कर चले गये। स्
लता से गोपियो की गौर शरीर यष्टियाँ और नवीन पखडी से तात्पर्य उनके क
नेत्रों से है। कभी-कभी ये भ्रमर अपने पखों को समेटकर आँसुओं के प्रवाह की
करते रहते हैं। कभी-कभी काँपते हुए नितान्त चकित होकर वे अपनी लोलुपता
विलीन हो जाते हैं। यद्यपि ये चन्द्रमण्डल अर्थात् मुख के बीच में निवास करते
और इनके अग-प्रत्यग अमृत में डूबे हैं किन्तु तो भी इनकी रक्षा सम्भव नहीं हो र
है। य व्यथा से सदा तडफते ही रहते है और मुँह न होते हुए भी ये अपनी व्हा
कहते रहते हैं। इनकी इस प्रकार की व्यथापूर्ण दशा को देखकर नासिका, मुख, वा
तथा केशपाश सभी खोये हुए-से रहते हैं। आँखों के खिन्न होने के कारण हमारी प्रत्ये
अगमाधुरी फीकी हो गई है। सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि हे माधव! आ
स्वय आकर क्यों न देख जाओ? आपका इसमें बिगड ही क्या जाएगा?

विशेष—इस पद मे रूपकातिशयोक्ति तथा विभावना अलकार है।

सबन अबध, सुदरी बध जनि।
मुक्तामाल, अनग! गग नहि, नवसत साजे अर्थ-स्यामघन॥
भाल तिलक उडुपति न होय यह कबरि-ग्रंथि अहिपति न सहस-फन।
नहि बिभूति दधिसुत न भाल जड! यह मृग मद चदन-चर्चित तन॥
न गजचर्म यह असित कचुकी, देखि बिचारि कहाँ नदीगन।
सूरदास प्रभु तुम्हरे दरस बिनु करवत काम करत हठ हम सन॥३२०॥

शब्दार्थ—अबध—अबध्य। नवसत—सोलह श्रृगार। सन—साथ।

व्याख्या—श्रीकृष्ण-विरह मे कामदेव के प्रहारों से पीडित होकर गोपियाँ काम
हती हैं कि स्त्रियां तो सब के लिए अवध्य हैं अत तू उनका वध मत कर। तू हमे
शो न समझ! हमारे सिर पर तो यह मोतियों की माला है, गगा की धारा नही

है। तुम इसे गलती से गगा की धारा समझ कर शिव का धोखा खाकर हम पर निरन्तर वार कर रहे हो। विरहावस्था मे भी सुन्दरियो ने आज सोलह श्रृंगार इसलिए कर रखे हैं क्योंकि आज उन्हें श्रीकृष्ण के आगमन की आशा है। हमारे माथे पर तिलक देखकर तुम शायद इसे चन्द्रमा समझ बैठे हो और हमे मारे डाल रहे हो। हमारे सिर पर जो यह जूडा है इसे आप सहस्रफण वाला शेषनाग मत समझो। हमारे इस कस्तूरी और चन्दन से भूषित शरीर को तुम भभूत और चन्द्र की सफेदी मत समझो। वक्षस्थल पर पहनी हुई यह काली चोली है तुम इसे शिव के हाथी की खाल मत समझो। तनिक सोचो तो यदि हम शिव होती तो हमारे नदी गण न होता। इतना कहने पर भी सूर कहते हैं कि काम उन्हे नहीं छोडता। अत वे व्यथा से पीडित होकर श्याम को पुकारती हैं और कहती हैं कि हे स्वामिन्! तुम्हारी अनुपस्थिति मे कामदेव हमे तंग कर रहा है।

विशेष—(1) इस पद का मूलभाव निम्न श्लोक से लिया गया है—

जटा नेयं वेणी कृतक्च कलापोनगरलं,
गले कस्तूरीयं शिरसिशशिलेखा न कुसुमम्।
इयं भूतिर्नाङ्गे प्रिय विरह जन्मा धवलिमा,
पुराराति भ्रान्त्या कुसुमशर! किं मां व्यथयसि॥

(ii) इस पद मे अपह्नुति अलकार है।

कोकिल! हरि को बोल सुनाव।
मधुवन तें उपटारि स्याम कहँ या ब्रज लै कै आव॥
जाचक सरनहि देत सयाने तन, मन, धन, सब साज।
सुजस बिकात बचन के बदले, क्यों न बिसाहत आज॥
कीजै कछु उपकार परायो, यहै सयानो काज।
सूरदास प्रभु कहु या अवसर बन बन बसंत बिराज॥३२१॥

शब्दार्थ—उपटारि—उचाट कर। सरनहि—शरण मे आये याचक को।

व्याख्या—वियोगावस्था मे उद्दीपक कोकिल की वाणी सुनकर गोपियाँ उससे प्रार्थना करती हैं कि तुम श्रीकृष्ण के निवास स्थान के निकट जाकर बोलो। सभवतः उनमे भी उत्कण्ठा का जागरण हो जाय और वे यहाँ आ जावें। हे कोकिल! तुम अपनी स्वरमाधुरी कृष्ण को ही जाकर सुनाओ और उन्हें मथुरा से उचाट कर ब्रज मे ले आओ। हम तुम्हारी शरण मे आकर याचक बन गई हैं। ऐसी अवस्था में तुम्हारा यह कर्तव्य हो जाता है कि तुम सब प्रकार से हमारी रक्षा करो क्योंकि चतुर लोग याचक को अपना तन, मन, धन सब कुछ दे डालते हैं और उसकी रक्षा करते हैं। तुम्हे तो आज अपनी बोली के बदले में दुष्प्राप्य यश मिल रहा है, उसे तुम क्यों नहीं खरीद लेती? हीरो के मूल्य की वस्तु आज कौडियों में मिल रही है फिर तुम ऐसा अवसर क्यो खो रही हो? जहाँ तक बन सके परोपकार करना ही ठीक

है। सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि तुम जाकर श्रीकृष्ण को बताओ कि आज व
में ऋतुराज बसन्त विराजमान है।

विशेष—प्रस्तुत पद में गोपियों ने कोकिल के सामने जो याचना प्रस्तुत क
वह वस्तुतः अत्यधिक मर्मस्पर्शी है।

कहाँ रह्यो, माई ! नंद को मोहन।
वह मूरति जिय तें नहिं बिसरति गयो सकल-जग सोहन॥
कान्ह बिना गोसुत को चारै, को ल्यावै भरि दोहन ?
माखन खात संग ग्वालन के, और सखा सब गोहन॥
ज्यों-ज्यों सुरति करति हौं सखि री! त्यौं त्यौं अधिक मनमोहन।
सूरदास स्वामी के बिछुरे क्यों जीवहिं इन छोहन॥३२

शब्दार्थ—गोहन—साथ। छोहन—क्षोभ से। सोहन—शोभा।

व्याख्या—श्रीकृष्ण को स्मरण करती हुई वियोग व्यथित गोपियाँ क
कि हाय री मैया ! नन्दनन्दन कहाँ रह रहे हैं ? हमारे चित्त से उनकी वह मना
मूर्ति क्षण-भर को भी नहीं भूलती। हा ! वह सारे संसार की शोभा के केन्द्र हमें छो
चले गये। अब कृष्ण के बिना इन बछड़ों को कौन चरायेगा तथा दूध दुहाकर
लायेगा ? हमें स्मरण हो उठता है कि वे किस प्रकार अपने ग्वाल मित्रों को साथ ले
माखन खाते डोलते थे। कोई गोपी किसी अन्य गोपी से कहती है कि अरी सखी !
जैसे जैसे उनकी याद करती हूँ तैसे तैसे मेरा मन और भी अधिक मोहित हो जाता है
सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि श्रीकृष्ण के बिछुड़ जाने पर इन क्षोभों से पीड़ित
होकर भला हम किस प्रकार जीवित रह सकेंगी ?

विशेष—गोपियों को कृष्ण की जितनी भी याद सताती है उतना ही उनका
मन और भी अधिक मोहित होता जाता है, यह वस्तुत प्रेमी हृदय का एक अनिवार्य
लक्षण है।

परमचतुर सुंदर सुख-सागर तन को प्रिय प्रतिहार।
रूप-लकुट रोके रहतो, सखि ! अनुदिन नंदकुमार॥
अब ता बिनु उर-भवन भयो है सिव-रिपु को संचार।
दुख आवत मन, हटक न मानत, सूनो देखि अगार॥
असु स-उसास जात अंतर तें करत न सकुच बिचार।
निसा निमेष-कपाट लगे बिनु ससि सात सत सर मार॥
यह गति मेरी भई है हरि बिनु नाहिं कछू परिहार।
सूरदास प्रभु वेगि मिलहु तुम नागर नंदकुमार॥३२३॥

शब्दार्थ—प्रतिहार—पहरेदार। रूप लकुट—अपने सुन्दर रूप की लाठी से।
रपु—काम। हटक—मना करना। असु—प्राण। स-उसास—साँस के साथ।
कपाट—पलक रूपी किवाड़।

व्याख्या—श्रीकृष्ण वियोग मे उत्पन्न संकटो पर प्रकाश डालती हुई कोई गोपी किसी दूसरी गोपी से कहती है कि हे सखी ! श्रीकृष्ण की उपस्थिति मे हमे कोई दुःख नहीं था पर आज अनेक दुःख हैं। कारण यह कि परम चतुर, अत्यन्त सुख और शोभा के केन्द्र तथा विश्वविमोहन रूप की छडी लेकर हमारे शरीर के सुन्दर पहरेदार थे। अब उनके वियोग मे इस सूने हृदय-भवन मे काम का आना-जाना आरम्भ हो गया है। मन मे दुःख प्रवेश कर जाता है वह किसी से भी नही रुकता। माने भी कैसे, घर तो सूना है। अत: उसे डर भी किसका ? हमारे तो प्राण भी अब निरंकुश हो गये। वे उच्छ्वासो के साथ निशक होकर भीतर से निकल जाते हैं। रात्रि मे पलक-कपाटों से खुले रहने के कारण चन्द्रमा सैकडो बाण मारता है। श्रीकृष्ण के बिना मेरी यह दशा हो गई है। इससे छुटकारा पाने की कोई तरकीब ही नही है। अत. सूर कहते हैं कि व्यथित गोपियाँ कृष्ण को पुकारती हुई कहती हैं कि हे चतुर रसिक नन्दकुमार ! तुम हमारे स्वामी हो। हमारी ऐसी अवस्था मे तुम हमें तुरन्त आकर दर्शन दो।

विशेष—इस पद मे रूपक तथा अतिशयोक्ति अलकार है।

ऐसो सुनियत है द्वै सावन !
वहै बात फिरि फिरि सालति है, स्याम कह्यो है आवन ॥
तब तो प्रीति करी, अब लागीं अपनो कीयो पावन।
यहि दुख सखी निकसि उत जैये जित सुनै कोउ नाँव न ॥
एकहि बेर तजो हम्है, लागे मथुरा नेह बढावन।
सूर सुरति क्त होति हमारी, लागीं नीकी भावन ॥३२४॥

शब्दार्थ—नीकी—अच्छी या सुन्दरी स्त्रियाँ। पावन—पा रही है।

व्याख्या—गोपियाँ परस्पर कह रही हैं कि सुना है कि अब की साल दो श्रावण हैं। हमे वही बात बार-बार दुखित कर रही है कि श्रीकृष्ण ने तो आने को कहा था पर अब तक नही आये। हम बिना सोचे-विचारे उनसे प्रेम कर बैठीं और अब उसी का यह फल भुगत रही हैं। इस दुख के मारे तो हम कही ऐसे स्थान पर पहुँच जाती जहाँ कहीं कोई हमारा नाम भी न सुन पाता तो अच्छा होता। उन्होने तो एक ही बार मे वहाँ जाकर हमे सदैव के लिए विस्मृत कर दिया और मथुरा से प्रेम बढाने लगे ! सूर कहते है कि गोपियो ने कहा कि भला अब उन्हे हमारी याद क्यों आने लगी ! अब तो उन्हे हम से भी कहीं अधिक रूपवती स्त्रियाँ प्रेम करने को मिल गई हैं न।

विशेष—सूर ने एक अन्य स्थान पर भी यही बात कही है—
स्याम विनोदी रे मधुवनियाँ।
अब हरि गोकुल काहे को आवहि चाहत नव जोवनियाँ ॥

कहा होत अब के पछताने ?
खेलत खात हँसत अग-सग रहि, हम न स्याम-गुन जाने ॥

को वसुदेव, कौन की थाती, को है साखि जर्याह उन आने।
सो बतराय देहु, ऊधो ! हमें तुमहूँ तौ अति निपट सयाने।।
यह नहिं कथा काक कोकिल की, कपट रंग मन माँहि समाने।
सूर, समय ऋतुराज बिराजे मिले जाय निज कुल पहिचाने।।३२५।।

शब्दार्थ—थाती—धरोहर। सयाने—चतुर। ऋतुराज—वसन्त।

व्याख्या—श्रीकृष्ण की निष्ठुरता का वर्णन करती हुई गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि अब पश्चात्ताप से क्या लाभ ? हमने तो खेलते-खाते तथा हँसते हुए उनके संग रहकर भी उनके गुण न जाने। हम नहीं जानतीं कि वसुदेव कौन हैं और वे कृष्ण को धरोहर रूप में यहाँ कब लाये थे। जब वे लाये थे क्या उस समय का कोई उनका गवाह है ? हे ऊधो ! तुम तो अत्यन्त चतुर हो, तुम्हीं बताओ कि यह कहाँ तक ठीक है ? सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि श्याम ने हमसे छलपूर्ण व्यवहार किया है। जिस प्रकार कोयल बचपन में कौओं से प्रेम करती है परन्तु पल कर पुष्ट होने पर वसन्तागमन पर अपने कुल को पहचान लेती है और जाकर उसमें मिल जाती है। इसी प्रकार कृष्ण भी बचपन में यहाँ रहकर हमसे कपट स्नेह दिखाते रहे और बड़े होकर अपने कुल में जा मिले।

विशेष—कोयल की तुलना कृष्ण से करना वस्तुतः सार्थक है। बचपन में दोनों ही पराधीन हैं और बड़े होने पर दोनों ने ही धोखा दिया है।

बिनु माधव राधा तन, सजनी ! सब बिपरीत भई।
गई छपाय छपाकर की छबि, रही कलकमई।।
लोचनहू तें सरद-सारस सुछबि निचोय लई।
आँच लगे च्योनो सोनो ज्यों त्यों तन-धातु हई।।
कदली-दल सी पीठि मनोहर, सो जनु उलटि गई।
सपंति सब हरि हरी, सूर प्रभु, बिपदा दई दई।।३२६।।

शब्दार्थ—च्योनो—रसायनी की धारया। हई—मारी गई, भस्म हो गई। छपाकर—चन्द्रमा अर्थात् मुख। सारस—कमल।

व्याख्या—विरह में क्षीण हुई राधा की दशा पर प्रकाश डालती हुई कोई गोपी अपनी सखी से कह रही है कि हे सखी ! माधव के वियोग में राधा के शरीर की दशा बिल्कुल उल्टी हो गई है। उसके तन की चन्द्रकान्ति अब दृष्टिगोचर नहीं होती। अत्यन्त कृशता के कारण कालिमा छा गई है जिससे वह केवल कलंकमयी ही दिखाई देती है। विरह कृशता के कारण राधा के नेत्र ज्योतिविहीन हो गये हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि उसके नेत्रों से शरदकालीन कमल की शोभा को किसी ने बिल्कुल निचोड़ लिया है। जिस प्रकार अग्नि के सन्ताप से सोना पिघलकर बह जाता है उसी प्रकार विरहाग्नि के ताप में राधा के शरीर का स्वर्ण पिघलकर बह गया। स्वस्थ दशा में केले के पत्ते के ऊर्ध्व-भाग के समान सुन्दर पृष्ठ भाग अब कृशता के कारण उलटी होकर उसके अधोभाग के

समान बन गई है। सूर कहते हैं कि गोपी ने कहा कि राधा के शरीर की सम्पत्ति तो सब भगवान् कृष्ण ने हर ली तथा उसके बदले मे विपत्ति दे दी है।

विशेष—इस पद मे उत्प्रेक्षा, उपमा एव परिवृत्ति अलकार है।

कराव रे, सारग ! स्यामहिं सुरति कराव।
प्रौढे होहिं जहाँ नँदनदन, ऊँची टेर सुनाव॥
गयो ग्रीषम पावस ऋतु आई, सब काहू चित चाव।
उन बिनु ब्रजवासी यों सोहत ज्यों करिया बिनु नाव॥
तेरो कह्यो मानिहैं मोहन, पाँय लागि लै आव।
अबकी बेर सूर के प्रभु को नैनन आनि दिखाव॥३२७॥

शब्दार्थ—सारग—पपीहा। करिया—मल्लाह। कराव—कराओ।

व्याख्या—चातक से कृष्ण को मिलाने की विनम्र प्रार्थना करती हुई गोपियाँ कहती हैं कि हे पपीहे ! तुम श्याम को हमारी याद दिला दो। जिस स्थान पर श्रीकृष्ण लेटे हो वहाँ जाकर उन्हें अपनी ऊँची पुकार सुना दो जिससे कि उन्हें ज्ञात हो जाय कि ग्रीष्म ऋतु समाप्त हो गई और वर्षा ऋतु आ गई है और फलस्वरूप सबके चित्त में उत्कठा का जागरण हो गया है। जो दशा बिना कर्णधार के नाव की हो जाती है बिलकुल वैसी ही दशा श्रीकृष्ण के बिना ब्रजवासियो की हो गई है। चातक ! हमें पूर्ण विश्वास है कि व तुम्हारा कहना अवश्य मानेंगे। तुम उन्हें निहोरे करके लिवा लाओ। सूर के स्वामी कृष्ण का एक बार दर्शन और करा दो।

विशेष—दृष्टान्त अलकार है।

सखी री ! हरि आवें केहि हेत ?
वे राजा तुम ग्वाल, बुलावत यहै परेखो लेत॥
अब सिर छत्र कनक-मनि राजै, मोरचद नहिं भावत।
सुनि ब्रजराज पीठि दै बैठत, जदुकुल-बिरद बुलावत॥
द्वारपाल प्रति पौरि बिराजत, दासी सहज अपार।
गोकुल गाय दुहन दुख कब लौं, सूर, सहै सुकुमार॥३२८॥

शब्दार्थ—मोरचद—मोर की चन्द्रिका। परेखो—सोच। पौरि—द्वार।

व्याख्या—श्रीकृष्ण के वर्तमान वैभव पर व्यग्य करती हुई गोपियाँ परस्पर कह रही हैं कि अरी सखी ! कृष्ण भला अब यहाँ क्यो आने लगे ? वे राजा हैं और तुम ठहरे ग्वाल। तुम उसे बुलाने का साहस कैसे कर रही हो, हमे तो यही सोच है। तुम शायद उन्हें अब भी पहले जैसा ही जानती हो किन्तु अब तो उन्होंने सिर पर छत्र धारण कर रखा है तथा स्वर्ण और मणियो के मुकुट सज हुए हैं। अब उन्हें अपना वह पुराना मोर-मुकुट नहीं भाता। क्या तुम्हे ज्ञात नहीं है कि अब वे पुरानी उपाधि ब्रजराज सुन कर पीठ फेर लेते हैं। वे अब तो यदुकुल सम्बन्धी उपाधियाँ कहलवाते हैं। यदि तुम्हारी वहा जाने की इच्छा हो तो तुम्हारे मार्ग मे अनेक बाधायें हैं। उनके महल के प्रत्येक द्वार

पर द्वारपाल रहते हैं और उनके यहाँ अनेक सहस्र दासियां हैं। सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि ऐसे वैभव में रहकर वे अब बहुत सुकुमार हो गये हैं। गोकुल में गायों के दुहने की पीड़ा को वे कहां तक सहन कर सकेंगे ?

विशेष—इस पद में कृष्ण की पहले की दशा से वर्तमान वैभव की तुलना बड़ी उपयुक्त बन पड़ी है। प्रेम वस्तुतः बराबर वालों में ही ठीक होता है—'सम ही सं कीजिये ब्याह, वैर और प्रीति'।

परम सुखद सिसुता को नेहु।
सो जनि तजहु दूर के बासे, सुनहु, सुजान ! जानि गति येहु ॥
भँवर, भुजंग, काक अरु कोकिल जनि पतियाहु चितै तुम देहु।
ऊधो अरु अक्रूर क्रूरकृत उपवन कुटिल किए रचि गेहु ॥
ये द्वै बिनती लिखी कृपानिधि सो आदर करि लेहु।
सूरदास प्रभु क्यों न मिलहु अब तौ तन मन फागुन के मेहु ॥३२९॥

शब्दार्थ—येहु—यह। फागुन के मेहु—न रहने वाला, बिना जल या जीवन वाला।

व्याख्या—कृष्ण को सम्बोधित करती हुई गोपियां कहती हैं कि हे कृष्ण ! आपको ज्ञात होना चाहिये कि बचपन का स्नेह बड़ा सुखदायी होता है। हे सुजान ! तुम इसे जानकर भी दूर चले जाने के कारण छोड़ रहे हो किन्तु यह उचित नहीं है। भ्रमर, सांप तथा काक और कोकिल की प्रेम-पद्धति को तुम मत अपनाओ। उद्धव और अक्रूर के कार्य अत्यन्त क्रूर हैं जिनके कारण घर-वन सब ऊजड़ हो गये हैं। तुम इन्हें बढ़ावा देकर हमारा सत्यानाश न करो। हम तुमसे दो प्रार्थनायें लिखित रूप में कर रही हैं, आप इन पर सावधानी से ध्यान दीजिये। सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि हे प्रभु ! किसी प्रकार आकर दर्शन दे दो नहीं तो तन-मन सभी निर्जीव हो जायेंगे।

विशेष—उपर्युक्त दो प्रार्थनायें ये हैं—(१) जनि तजहु दूर के बासे। (२) क्यों न मिलहु अब।

बिनु धर वह उपराग गह्यो।
ना जानौं अब राहु उमापति कित ह्वै सोघ सह्यो ॥
ताके बीच नीच नयनन में अंजन-रूप रह्यो।
बिरह-सिपु-बल पाय प्रगट भयो नाहिन ,परत कह्यो ॥
दुसह दसन-दुख दलि नैनन जल परस न परत सह्यो।
मानहुँ स्रवत सुधा अंतर तें, उर पर जात बह्यो ॥
अब मुखससि ऐसो लागत ज्यों बिन माखनहि मह्यो।
सूरदास-हरि दान दिए बिनु सुख-प्रकास निबह्यो ॥३३०॥

शब्दार्थ—घर—घड। उपराग—ग्रहण, राहु। परस—स्पर्श। निबह्यो—नष्ट हो गया है। उमापति—शिव।

व्याख्या—विरह-व्यथित राधा की क्षीण कान्ति को देखकर गोपिया कहती हैं कि इस राहु (कामदेव) ने घड (ग्रंग) न होते हुए भी उस मुखचन्द्र को डस लिया है। न जाने इस राहु ने अपने शत्रु शिव (मुख) को कहां से खोज निकाला। शायद यह उसी के मध्य नेत्रों मे अंजन के रूप मे पहले से ही रहता रहा है। आज विरहरूपी सागर से बल पाकर इतनी तीव्रता से प्रगट हुआ है कि कुछ कहते नही बनता। यह आज असह्य वेदना देकर अपने दातो से उस मुख को कुछ ऐसा काट रहा है कि नेत्रो से आसू प्रवाहित होने लगते हैं जिन्हे स्पर्श भी नहीं किया जा सकता। आसुओ के रूप मे मानो मुखचन्द्र का अमृत भीतर स निकल-निकलकर वक्षस्थल पर प्रवाहित हो रहा है और इस प्रकार अमृत के निकल जाने से क्षीण हुआ मुखचन्द्र मक्खनरहित मट्ठे के समान सारहीन हो गया है। सुर कहते हैं कि इस प्रकार की ग्रहणावस्था मे हरि-दर्शन का दान किये विना इसका सुखमय प्रकाश नष्ट हो गया है। भाव यह है कि यदि हरिदर्शन का दान किया जाय तो ग्रहण से छुटकारा हो जाय तथा इस मुखचन्द्र को सुखदायी प्रकाश फिर से मिल जावे।

विशेष—इस पद मे ग्रहण का सागरूपक दर्शनीय है। साथ ही रूपकातिशयोक्ति तथा उत्प्रेक्षा अलकार भी है।

गोपालहि बालक ही तें टेव।
जानति नाँहि कौन पै सीखे चोरी के छल-छेव॥
माखन-दूध घरचो, जब खाते सहि रहती करि कानि।
अब क्यों सही परति, सुनि सजनी! मनमानिक की हानि॥
कहियो, मधुप! सँदेस स्याम सों राजनीति समुझाय।
अजहुँ तजत नाँहि वा लोभैं, जुगुत नहीं जदुराय॥
बुधि बिवेक सरवस या ब्रज को लै जो रहे मुसकाय।
सूरदास प्रभु के गुन अवगुन कहिए कासो जाय॥३३१॥

शब्दार्थ—जुगुत—उचित। टेव—आदत। छेव—दावपेंच।

व्याख्या—कृष्ण द्वारा मन चुरा लेने की शिकायत उद्धव से करती हुई गोपिया कहती हैं कि चोरी करना तो गोपाल की बचपन की आदत है। न मालूम ये चोरी के दावपेंच किससे सीखे हैं? पहले तो ये माखन और दूध ही चुराया करते थे और हम उनकी इस चोरी को सहन कर लिया करती थी किन्तु हे सखी! अब जब ये मनरूपी मणि चुराने लग गये तो हम इतनी बडी क्षति कैसे सहन कर सकती हैं? हे मधुप! श्याम से हमारा सदेश राजनीति को समझाकर कह देना कि तुम यदुराज होकर भी अपनी पुरानी आदत नही छोडते। अब तुम व्रजवासियों के बुद्धि-विवेकादि सर्वस्व को चुराकर उन्हें चकमा देकर मुस्करा रहे हो। हे मधुप! तुम्ही बताओ हम प्रभु के गुण-

अवगुणों की शिकायत किससे जाकर करें ?

विशेष—(i) इस पद मे रूपक अलंकार है।

(ii) जब राजा ही चोरी करने लगे तो न्याय के लिए किसके पास जावे ! ठीक ही है—"राजा ह्वै चोरी करे न्याय कौन पै जाय।"

जदपि मैं बहुतं जतन करे।
तदपि मधुप ! हरि-प्रिया जानि कै काहु न प्रान हरे॥
सौरभ-युत सुमनन लै निज कर संतत सेज धरे।
सनमुख होति सरद-ससि, सजनी ! तऊ न अंग जरे॥
चातक, मोर, कोकिला मधुकर सुर सुनि स्रवन भरे।
सादर ह्वै निरखति रतिपति को नेंक न पलक परे॥
निसिदिन रटति नँदनंदन, या उर तें छिन न टरे।
अति आतुर चतुरंग चमू सजि अनग न सर सँचरे॥
जानति नाहिं कौन गुन या तन जातें सबै डरे।
सूरदास सकुचन श्रीपति के सुभटन बल बिसरे॥३३२॥

शब्दार्थ—सँचरे—चलाये। रतिपति—कामदेव। चमू—सेना। अनग—कामदेव।

व्याख्या—राधा उद्धव से कह रही है कि मैंने बडे-बडे उपाय किये कि मेरा मरण हो जाय किन्तु मैं अपने इस कार्य मे सफल नही हुई। हे मधुप ! मुझे हरि की प्रियतमा समझकर किसी ने मेरे प्राण ही नहीं लिये। उन्हीं उपायों की चर्चा करती हुई वे कहती है कि मैंने अपने हाथों से सुगन्धित पुष्पों को अपनी शय्या पर रखा था। अब वह अपनी सखी से कह रही है कि हे सखी ! शरद काल के चन्द्रमा से मेरे अंग नहीं जले। चातक, मयूर कोकिल और भ्रमर की स्वर-माधुरी को मैंने अनेक बार अपने कानों में उंडेला तथा अपलक नेत्रों से सावधानी के साथ कामदेव के प्रहारों को परखती रही किन्तु फल तब भी कुछ न निकला। शायद इसका कारण यही रहा कि मैं रात-दिन नन्दनन्दन को रटती रही। वे इस हृदय से क्षणभर को भी पृथक् न हो सके। इसीलिए यद्यपि कामदेव ने आतुरता के साथ अपनी चतुरंगिणी सेना सजाकर मेरे ऊपर चढाई की आयोजना कर दी किन्तु वह एक बाण भी न चला सका। मुझे नहीं मालूम कि इस शरीर में ऐसी कौनसी विशेषता है जिससे सब डरते हैं। सूर कहते हैं कि राधा ने कहा कि मेरी समझ मे तो इसका बस एक ही कारण आता है कि बडे-बडे भारी योद्धा श्रीकृष्ण के भय से ही मेरा कुछ न कर सके।

विशेष—(i) इस पद मे काव्यलिंग अलंकार है।

(ii) इस पद का मूलभाव भवभूति के निम्न श्लोक से लिया गया है—

धत्तेचक्षुर्मुकुलिनि रणत्कोकिले बालचूते;
मार्गेगात्र क्षिपति बकुलामोदगर्भस्यवायो;

दायप्रेम्णा सरसविततीपद्ममात्रोत्तरीय,
ताम्यन्मूर्तिः श्रयतियहुशो मृत्यवेचन्द्र पादान्

माधव सों न बनै मुख मोरे।
जिन्ह नयनन्ह ससि स्याम बिलोक्यो तें क्यों जात तरनि सों जं
मुनि-मन-रमन ये जोग, कमठ तन मदर-भार सहै क्यों श्रोरे।
तरनी हृदय-कुमुद के बधन कुंजर क्यों न रहत बिनु तोरे॥
नीलांबर-घनस्याम नीलमनि पंचत है क्यों धूम के भोरे।
सूर भृंग कमलन के बिरही चपक मन लागत कहूँ थोरे॥३३॥

शब्दार्थ—तरनि—सूर्य। क्यो—कैसे। भोरे—धोखे में। कुंजर—हाथी।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हमारा कार्य माधव से मुख मोड़कर नहं बन सकता। जिन नेत्रों ने चन्द्र के समान आह्लादकारी श्रीकृष्ण का दर्शन किया है वे नत्र सूर्य से किस प्रकार मिलाय जा सकते हैं? योग तो मुनियों के मन मे रहा करता है। भला सोचो मन्दराचल के भार को कछुए के शरीर के अलावा भला और कौन सहन कर सकता है? तरुणियों के हृदय मे कुमुद जैसे सुकुमार बन्धनो को हाथी बिना तोड़े कैसे रहेगा? घनश्याम और धूम्र में वर्णसाम्य है किन्तु घनश्याम के स्थान पर धुएँ से मिलकर श्याम के भक्तो को सन्ताप नहीं हो सकता। सूर कहते है कि गोपियों ने उद्धव से कहा कि कमल से प्रेम करने वाले भौंरों का मन चपक के पुष्पो से नहीं बहल सकता।

विशेष—इस पद मे निदर्शना अलकार की छटा दृष्टव्य है।

और सकल अगन तें, ऊधो! अँखियाँ अधिक दुखारी।
अतिहि पिराति, सिराति न कबहूँ, बहुत जतन करि हारी॥
एकटक रहति, निमेष न लावति, बिथा बिकल भइ भारी।
भरि गईं बिरह-बाय बिनु दरसन चितवति रहति उघारी॥
रे रे अलि! गुरु ज्ञान सलाकहिं क्यों सहि सकति तुम्हारी।
सूर सुअंजन आनु रूप-रस आरति हरन हमारी॥३४॥

शब्दार्थ—उघारी—खुली। सलाका—सलाई। आरति—दुख।

व्याख्या—अपने नेत्रो की व्याकुलता का कथा कोई गोपी उद्धव से कह रही है कि हे ऊधो! मेरे सारे अगों मे नेत्र ही सबसे अधिक दुखी हैं। मैंन अनेक उपाय किये परन्तु ये नेत्र बहुत व्यथित रहते है। इनका सन्ताप कभी भी शान्त नही होता है। ये सदा निर्निमष रूप म व्यथा से अत्यन्त व्याकुल रहते हैं। श्रीकृष्ण के दर्शनो के अभाव मे ये विरह की वायु से भर गये हैं और फलत वे खुले के खुले रह गये हैं और निर्निमेष देखते रहते हैं। अरे भौंरे! ये व्यथित नेत्र तुम्हारी इस भारी ज्ञान की शलाका को कैसे सहन कर सकते हैं? सूर कहते हैं कि गोपी ने कहा कि तुम हमारे नेत्रो को

व्यथा हरण करने वाले श्रीकृष्ण के रूप रूपी अजन को लाकर दे दो जिससे ये शीतल हो जावें।

विशेष—दर्दे-दिल हुस्न की ही सेंक से अच्छा होगा,
आओ पहलू मे जो दवाए-मसीहाई है।

भूलति हो कत मीठी बातन।
ये अलि है उनहीं के संगी, चचल चित, सांवरे गातन॥
वे मुरली धुनि कै जग मोहत, इनकी गुंज सुमन-मन पातन।
वे उठि आन आन मन रजत, ये उडि अनत रग-रस-रातन॥
वे नवतनु मानिनि-गृह-बासी, ये निसिदिवस रहत जलजातन।
ये षटपद, वे द्विपद चतुर्भुज, इनमे नाहिं भेद कोउ भाँतन॥
स्वारथ-निपुन सर्वरस-भोगी जाने पतियाहु विरह-दुख-दातन।
वे माधव, ये मधुप, सूर सुनि, इन दोउन कोऊ घटि घाट न॥३३५॥

शब्दार्थ—मन पातन—मन आकर्षित करने वाले। दुख-दातन—दुख देने वाले। घटि घाट—घट कर।

व्याख्या—कोई गोपी अन्य गोपियो से कहती है कि अरी तुम इनकी चिकनी-चुपडी बातो के भुलावे मे मत आओ। ये भ्रमर महाशय उन्ही के साथी हैं। देखते नहीं ये वैसे ही चचल चित्त और श्यामल शरीर हैं। वे मुरली के नाद से ससार को अपने वश में करते हैं और य भ्रमर महाशय अपने मधुर गुजन से पुष्पो का मन हरते हैं। वे नित्य उठकर दूसरों के मन को प्रसन्न करते हैं तथा ये उडकर अन्यत्र रगरेलियां करते हैं। वे नयी नवेली मानिनियों के घर में रहत हैं तो ये दिन-रात कमलों में रहते हैं। इनके छः पैर हैं तो कृष्ण के भी दो पैर और चार भुजायें मिलकर छ हो जाते हैं। इन दोनो मे इस प्रकार किसी प्रकार का भी भेद नहीं है। दोनों ही अपनी स्वार्थसिद्धि मे बडे चतुर है। सभी के साथ रगरेलियां करके आनन्द उडाते हैं। विरह मे तडपाने वाले इन दोनों का तनिक भी विश्वास मत करो। सूर कहते हैं कि गोपी ने कहा कि वे माधव और ये मधुप दोनो मे कोई भी किसी से कम नही है।

विशेष—यहा दो अनुरूप वस्तुओं का सम्बन्ध है अत सम अलकार है।

हरि सों कहियो, हो, जैसे गोकुल आवैं।
दिन दस रहे सो भलो कीन्ही, अब जनि गहरु लगावैं॥
नाहिन कछू सुहात तुम्हहिं बिनु, कानन भवन न भावैं।
देखे जात आपनी आँखिन्ह हम कहि कहा जनावैं?
बाल बिलख, मुख गउ न चरति तृन, बछरा पीवत पय नाहिं धावैं।
सूर स्याम बिनु रटत रैनि दिन, मिलेहि भले सचु पावैं॥३३६॥

शब्दार्थ—गहरु—विलम्ब। सचु—सुख। जनावैं—बतावैं।

व्याख्या—गोपिया उद्धव से निवेदन करती हुई कहती है कि हे ऊधो ! श्रीकृष्ण से जाकर यह देना कि जैसे भी बने गोकुल चले आवें। दस दिन अर्थात् कुछ दिन वहा रह लिये, अच्छा किया। परन्तु अब देर न लगाओ। तुम्हारे बिना हमे कुछ भी अच्छा नही लगता। न तो हमे घर ही सुहाता है और न वन ही अच्छा लगता है। यह सब तो तुम अपनी आखो से देख रहे हो। हम अपने मुख से इस बात का कथन क्या करें ? तुम तो स्पष्ट देख रहे हो कि ये बच्चे बिलख रहे हैं, गाएँ मुह से घास नही चरतीं और बछड़े दूध पीने के लिए नही दौडते। सूर कहते हैं कि गोपियो ने उद्धव से कहा कि कृष्ण के बिना हम सब रात-दिन विलाप करती फिरती हैं। ऐसी अवस्था मे उनके दर्शन से ही सुख प्राप्त हो सकता है।

विशेष—(i) इस पद मे अतिशयोक्ति अलकार है।

(ii) इसी भाव का एक पद पहले भी आ चुका है—'ऊधो ! तुम कहियो ऐसे गोकुल आवें'।

सखी री ! मथुरा मे द्वै हस।
एक अक्रूर और ये ऊधो, जानत नीके गस॥
ये दोउ छीर नीर पहिचानत, इनहिं बधायो कस।
इनके कुल ऐसी चलि आई, सदा उजागर बस॥
अजहूँ कृपा करौ मधुबन पर जानि आपनो अस।
सूर सुयोग सिखावत अबलन्ह, सुनत होय मन ग्रस॥३३७॥

शब्दार्थ—गस—गाँठ, मन की कुटिलता। मन ग्रस—व्याकुलता। हस-—परमहस, ब्रह्मज्ञानी।

व्याख्या—उद्धव की हँसी उडाती हुई कोई गोपी अन्य गोपियो से कह रही है कि हे सखी ! मथुरा मे दो हस हैं एक तो अक्रूर तथा दूसरे ये उद्धव। दोनो ही मन के सशयो को भली भाति पहचानन वाले हैं। क्षीर नीर विवेक मे भी ये दोनो बहुत निपुण है। इन्होने ही कस को मरवाया है। यह इनके कुल की तो परम्परा बन गई है। इनका वश सदा से ही इसके लिए प्रसिद्ध है। महाराज ! मथुरा पर तो कृपा करो। वहा भी आखिर तुम्हारा ही वश है। सूर कहते है कि गोपी ने कहा कि गोपियो ! देखा तुमने, ये अबलाओ को योग की पाटी पढाने आय हैं। भला इनके इस योगोपदेश को सुन कर ऐसा कौन होगा जिसका मन खिन्न न हो।

विशेष—इस पद मे काकु वक्रोक्ति अलकार है।

बारक कान्ह करौ किन फेरो ?
बरसन दै मधुबन को सिधारो, सुख इतनो बहुतेरो॥
भलेहि मिले बसुदेव देवकी जननि जनक निज कुटुब घनेरो।
केहि अवलब रहैं हम ऊधो ! देखि दुख नद-जसुमति केरो॥

तुम बिनु को अनाथ-प्रतिपालन, जाजरि नाव कुसल सवेरों।
गए सिंधु को पार उतारे, अब यह सूर थक्यो ब्रज-बेरो ॥३३८॥

शब्दार्थ—जाजरि—जर्जर, जीर्ण। सवेरो—सब। गए—श्रीकृष्ण के चले जाने पर।

व्याख्या—विरह व्यथित गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि श्रीकृष्ण इधर एक बार भी क्यों नहीं आ जाते ? हमें दर्शन देकर आप शौक से फिर मथुरा चले जाना। हमारे लिए इतना ही सुख पर्याप्त होगा। श्याम यहाँ से जाकर वहाँ अपने माँ-बाप देवकी और वसुदेव तथा अन्य बहुत स परिवार के लोगों से मिल गये। यह तो चलो ठीक हुआ किन्तु यह तो बताओ, हे ऊधो, कि नन्द और यशोदा वे दुःख को कैसे सहन करें ? इन अनाथों का हे श्रीकृष्ण, तुम्हारे बिना है ही कौन ? हमारी यह नाव जर्जर हो गई है और सब के सब यहाँ कुसल ही हैं। सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि तुम्हारे चले जाने पर हमें दुःख सागर से कौन पार उतारेगा ? यह ब्रज का बेड़ा बहुत शिथिल है।

विशेष—मथुरा से एक बार तनिक आकर भी कृष्ण यदि दर्शन दे दें तो बेचारी गोपियों का मन कुछ सन्तोष तो प्राप्त कर ही लेगा !

मानों ढरे एक ही साँचे।
नखसिख कमल नयन की सोभा एक भृगुलता-बाँचे ॥
दारजात कैसे गुन इनमें, ऊपर अंतर स्याम।
हमको धूम गयद बतावत, बचन कहत निष्काम ॥
ये सब असित देह धरे जेते ऐसेई, सखि ! जानि।
सूर एक ते एक आगरे वा मथुरा की खानि ॥३३९॥

शब्दार्थ—कैसे—समान। आगरे—बढ़ कर। भृगुलता-बाँचे—भृगु की लात के चिन्ह छोड़कर। दारजात—भौंरा। धूम गयद—धुएँ का हाथी, धोखे की वस्तु अर्थात् निर्गुण ब्रह्म।

व्याख्या—गोपियाँ व्यग्य करती हुई उद्धव से कहती हैं कि हे उद्धव ! कृष्ण और तुम दोनों एक ही साँचे मे ढालकर बनाये गये हो। एक भृगु की लात के चिन्ह के अतिरिक्त और सारे गुण तुम में हैं। तुम दोनों मे ही भौंरे के समान गुण विद्यमान हैं। भौंरे के समान तुम लोग तन के ही काले नहीं हो अपितु दोनों हृदय से भी उसी के समान काले हो। दोनों ही हमें निर्गुण ब्रह्म का उपदेश देते हैं जो कोरी बकवास है तथा स्पष्ट धोखा है। अपनी किसी सखी से गोपियाँ कहती हैं कि हे सखी ! ये सब जितने भी काले शरीर वाले हैं उन्हें तू ऐसा ही समझ। सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि मथुरा मे इन कालों की खान है। वहाँ एक से एक बढ़ कर हैं।

विशेष—इस पद में उत्प्रेक्षा अलंकार है।

बातें बहुत सयाने की सी।
कपट तिहारो प्रगट देखियत ज्यों जल नाए सीसी॥
हौं तो बहुत तिहारे हित की काहे को तू भरमत।
हमहूँ मया तिहारी हैं कछु, थोरी सी है मैमत॥
छाय बसाय गए सुफलकसुत नेकहु लागी बार न।
सूर कृपा करि आए ऊधो लाएँ ढेवा डारन॥३४०॥

शब्दार्थ—मैमत—ममता, स्नेह। ढेवा—लेप। भरमत—भ्रम मे फँसा हुआ है।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हे ऊधो! बात तो तुम चतुर मनुष्यो की भाँति करते हो। तुम्हारा इस प्रकार का कपटपूर्ण व्यवहार स्पष्ट रूप से वैसा ही थोथा ज्ञात हो रहा है जैसा कि जल मे शीशी डालने पर बुलबुले उठते हैं और स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि शीशी खाली है। हे उद्धव! हम तो ये सारी बात तुम्हारी भलाई के लिए ही कह रही हैं पर तुम भ्रम मे फँस हुए हो। आखिर हमे भी तो तुम्हारा कुछ माया-मोह है। पहले तो यहाँ अक्रूर जी महाराज आय और अपनी करतूतों की झोपडी छा दी और अब हे उद्धव! तुम उस झोपडी की दीवाल उठाने के हेतु मिट्टी की एक लेप और ले आये हो।

विशेष—इस पद मे उत्प्रेक्षा अलकार है।

आए नँदनदन के नेव।
गोकुल आय जोग बिस्तारयो, भली तुम्हारी टेव॥
जब वृदावन रास रच्यो हरि, तबहि कहाँ तू हेव।
अब जुवतिन को जोग सिखावत, भस्म अधारी सेव॥
हम लगि तुम क्यों यह मत ठान्यो ज्यों जोगिन को भोग।
सूरदास प्रभु सुनत अधिक दुख, आतुर बिरह बियोग॥३४१॥

शब्दार्थ—नेव—नायब, मन्त्री। हेव—तू था। सेव—सेवन।

व्याख्या—उद्धव को ताना देती हुई गोपियाँ परस्पर कह रही हैं कि उद्धव जी कृष्ण के मन्त्री बनकर यहाँ आये हैं। गोकुल आकर उन्होने जो योग की चर्चा फैलायी है, वह भी एक विचित्र बात है। हे उद्धव! उस समय तुम कहाँ थे जब कृष्ण ने वृन्दावन मे हमारे साथ रास-लीलायें की थी। हटो यहाँ से अब तो तुम हमसे भस्म और अधारी के सेवन को कह रहे हो, तुम हमे जोग की शिक्षा दे रहे हो। तुमने हमारे सामने यह दुष्कर मत क्यो फैलाया है? यह तो हमारे लिए ऐसा ही है जैसा जोगियो के लिए भोग। सूर कहते हैं कि गोपियो न कहा कि हे उद्धव! हमे यह चर्चा सुनकर अधिक दुःख हो रहा है। इसे सुनकर तो हम वियोग की वेदना से और भी व्याकुल हो जाती हैं।

विशेष—इस पद मे उपमा अलकार है।

मनो दोउ एकहि मते भए।
ऊधो अरु अक्रूर बधिक दोउ ब्रज आखेट ठए॥
बचन पास बाँध माधव मृग, उनरत घासि लए।
इनहीं हती मृगी गोपीजन सायक ज्ञान हए॥
बिरह ताप को दवा देखियत चहुँ दिसि लाय दए।
अबधौं कहा कियो चाहत हैं, सोचत नाहिन ए॥
परमारथी ज्ञान उपदेसत बिरहिन प्रेम-रए।
कैसे जियहि स्याम बिनु सूरज चुबक मेघ गए॥३४२॥

शब्दार्थ—पास—पाश। सायक—बाण। दवा—दावानल। ठए—ठाना। उनरत—उछलते हुए। परमारथी ज्ञान—ब्रह्मज्ञान। रए—रग।

व्याख्या—गोपियाँ व्यग्य करती हुई उद्धव से कहती हैं कि हे उद्धव ! तुम्हारी और अक्रूर की दोनो की सलाह एक-सी ही है। तुम दोनों बहेलिये हो और तुम दोनों ने परस्पर मन्त्रणा करके ब्रज मे शिकार की ठान ली है। तुम दोनों ने ही अपनी बातो के जाल मे माधव रूपी मृग को फसा लिया है और उसके उछलते ही उस पर चोट कर दी है। तुम्ही ने ज्ञान के बाणों की चोट से गोपी रूपी हिरणियो को मारा है। तुम्हारी ही लगायी हुई विरह की तापाग्नि रूपी दावानल चारो ओर दृष्टिगोचर हो रही है। किन्तु इतने पर भी आप लोगो को सन्तोष नही है। न जाने अब आप और क्या करना चाहते हैं। आपको किसी बात का सोच तो है नही इसीलिए निर्भय रूप अत्याचार करने के आदी बने हुए हो। आप अपने उल्टे ढग तो देखो। आप प्रेम मे रगे हुओ को ज्ञानोपदेश दे रहे हैं। सूर कहते हैं कि गोपियो न कहा कि हम बिना श्याम के कैसे जी सकती हैं ? क्या मेघो के नष्ट हो जाने से चातक जीवित रह सकता है ?

विशेष—(i) अन्तिम पक्ति मे चुम्बक के स्थान पर चातक करने से ही अर्थ स्पष्ट होता है।

(ii) इस पद में रूपक एव निदर्शना अलकार है।

(iii) लै गये अक्रूर क्रूर तब सुख सूर कान्ह।
आये तुम आज प्रान ब्याज उगहन को॥ (रत्नाकर)

या ब्रज सगुन-दीप परगास्यो।
सुनि ऊधो ! भृकुटी त्रिवेदी तर निसिदिन प्रगट अभास्यो॥
सब के उर-सरस्वति सनेह भरि सुमन तिली को बास्यो।
गुन अनेक ते गुन कपूर सम परिमल बारह मास्यो॥
बिरह-अगिनि अगन सब के, नहिं बुझत परे चौमास्यो।
ताके तीन फुर्कना हरि से, तुम से, पचसरा स्यो॥
आन-भजन तृन सम परिहरि सब करती जोत उपास्यो।
साधन भोग निरजन तें रे अधकार तम नास्यो॥

जा दिन भयो तिहारो आवन बोलत हौ उपहास्यो।
रहि न सके तुम, सौंच रूप हूँ निगुर काज उकास्यो॥
बाढ़ी जोति सो केस-देस लौं, टूट्यो ज्ञान-मवास्यो।
दुरवासना-सलभ सब जारे जे छं रहे अकास्यो॥
तुम हौ निपट निकट के बासी, सुनियत हुते सवास्यो।
गोकुल कछु रस-रीति न जानत, देखत नाहिं समास्यो॥
सूर, करम की खीर परोसी, फिरि फिरि चरत जवास्यो॥३४३॥

शब्दार्थ—प्रभास्यो—प्रकाशित हुआ। सुमन—सुगंधित तेल। रहि—न ठहरे। निरञ्जन—निलिप्त। त्रिवेदी—तिपाई, चौकी। उर-सरवनि—हृदय रूपी शराब या पात्र। गुन—धागा, बत्ती। चौमास्यो—चौमासे या वर्षा में। फुकैया—फूँककर आग दहकाने वाले। पचसरा—कामदेव। उकास्यो—उकसाया। केस देस—ब्रह्मांड, मस्तक। मवास्यो—गढ़, किला। सवास्यो—मन्त्री।

व्याख्या—व्रज में निर्गुण के लिए कोई स्थान न बताती हुई गोपियाँ कहती हैं कि हे ऊधो ! इस व्रज में तो सगुणभक्ति के दीपक प्रकाशित हो रहे हैं। हमारी भृकुटि की तिपाई पर दिन-रात इसी का प्रकाश चमकता रहता है। यहाँ सभी के हृदय रूपी शरावों अर्थात् सकोरों में स्नेह रूपी तिली या सुगन्धित तेल भरा है। प्रियतम के अनेक गुण इस दीप की बत्ती के समान हैं जिनके जलने से सदा कपूर की-सी सुगन्ध चारों ओर फैल रही है। भाग्य की बात है कि अब सबके अंगों में विरह की अग्नि ऐसी लगी है कि वर्षाकाल के आगमन पर भी यह नहीं बुझती। इस आग को फूंक फूंककर तीव्र करने वाले तुम तीन व्यक्ति हो—कृष्ण, कामदेव और आप। भला जब आप तीन फूंक मारने वाले हैं तो फिर यह बुझ भी कैसे सकती है ? अन्य सब भजनों को तिनके के समान तुच्छ समझ कर हमने छोड़ दिया और इसी सगुण दीप की ज्योति की उपासना की। हमने निर्लिप्त भोगों के साधन से अन्तस के अन्धकार को नष्ट कर दिया। जब से आपने यहाँ आकर अपने उपहासास्पद प्रवचन का प्रारम्भ किया है उसी दिन से यह ज्योति और भी तीव्र हो गई है। निर्गुण के लिए प्रेरणा देने वाले आप उस दीपक के लिए उकसाने वाले बन गये हैं जिससे बत्ती ऊपर को बढ़ गई है। वह इतनी ऊपर बढ़ी कि सिर तक पहुँच गई जिससे मस्तिष्क का ज्ञान-गढ़ भस्ममात हो गया। इसकी इस प्रचण्ड लौ से गगन में आच्छादित दुर्वासना रूपी पतंगे नष्ट हो गये। भाव यह है कि तुम्हारे उपदेशों ने हमारे प्रेम को वासनाओं से मुक्ति दिलाकर शुद्ध बना दिया है। आप तो उनके बिल्कुल निकट के रहने वाले हैं। सुना है आप तो उन महाराज (कृष्ण) के मन्त्री हैं। फिर भी आपने गोकुल की प्रेममार्गीय पद्धति को न पहचाना। सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि हे ऊधो ! तुम भाग्यहीन हो। पता नहीं कि किन पुण्यों के बल से तुम्हें खीर परसी हुई मिली पर तुम बार बार जवासे चरने के लिए लपकते रहते हो। भाव यह कि तुम्हें कृष्ण का सान्निध्य तथा गोकुलवासियों का सम्पर्क प्राप्त हुआ। यदि तुम चाहते तो आनन्ददायक भक्ति-पथ को ग्रहण करके अपने जीवन को सफल बना लेते। परन्तु नहीं

तुम तो बार-बार फीके निर्गुण पर ही मुग्ध हुए जा रहे हो।

विशेष—रूपक एव विभावना अलकार की छटा देखते ही बनती है। रूपक के तो सूरदास जी राजा कहे जा सकते हैं।

सब जल तजे प्रेम के नाते।
तऊ स्वाति चातक नहि छाँडत प्रकट पुकारत ताते॥
समुझत मीन नीर की बातें तऊ प्रान हठि हारत।
सुनत कुरग नादरस पूरन, जदपि ब्याध सर मारत॥
निमिष चकोर नयन नहि लावत, ससि जोवत जुग बीते।
कोटि पतग जोति वपु जारे, भए न प्रेम घट रीते॥
अब लौं नहि बिसरीं वे बातें सग जो करीं ब्रजराज।
सुनि ऊधो! हम सूर स्याम को छाँडि देहिं केहि काज?॥३४४॥

शब्दार्थ—रीते—खाली। ताते—उसको। कुरग—हिरण। जोवत—निहारते हुए।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हम प्रेम-पथ को छोडकर प्रेम के देवता का अपमान नही कर सकतीं। देखो, चातक अपने प्रेम की एकाग्रता के कारण सब जलो को त्याग देता है और स्वाति के जल के लिए ही मरता रहता है। वह रात-दिन उसी को पुकारता रहता है। मीन जल की उदासीनता को समझती हुई भी अपने को उसी पर बलिदान किये रहती है। उसके बिछोह मे वह अपने प्राणो को त्याग देती है। हिरण बाजे की स्वरमाधुरी से मतवाला होजाता है यद्यपि उसी दशा मे शिकारी उसे बाणो से मार डालता है। चकोर चन्द्रमा से प्रेम करता है और युगो से निर्निमेष उसी की ओर देखता रहता है यद्यपि चन्द्रमा ने उसके प्रेम की महिमा आज तक नही पहचानी। असख्य पतगों ने दीपक की प्रेम वेदी पर अपने आपको बलिदान कर दिया और उनके प्रेम-घट आज तक भी खाली नही हुए। प्रियतम की कठोरता उसके प्रेम को शिथिल न कर सकी। सूर कहते हैं कि गोपियो ने उद्धव से कहा कि श्रीकृष्ण ने यहाँ रह कर जो वार्तालाप हम से किया था उसे हम आज तक नही भूलीं। तुम्ही बताओ हम श्याम को क्यों त्याग दें? क्या हम इन कीट-पतगो-जैसी भी नही हैं। जब ये ही विरह के सकट से घबडा कर अपने प्रेम का परित्याग नहीं करते तो फिर हम ही कैसे कर दें?

विशेष—प्रस्तुत पद मे चातक मीन, मृग, चकोर तथा पतगे का एक ही धर्म बताया गया है अत यहाँ तुल्ययोगिता अलकार है।

ऊधो! मन की मन ही माँझ रही।
कहिए जाय कौन सो, ऊधो! नाहिन परति सही॥
अवधि अधार आवनहि की तन, मन ही बिथा सही।
चाहति हुती गुहार जहाँ तें तहहि तें धार बही॥

अब यह दसा देखि निज नयनन सब मरजाद ढ़ही।
सूरदास प्रभु के बिछुरे तें दुसह बियोग-दही ॥३४५॥

शब्दार्थ—धार वही—तलवार चली। गुहार—रक्षा के लिए दौड़ना। देखि—
... ।

व्याख्या—प्रेम के कष्टों को अवर्णनीय बताती हुई गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हे उद्धव ! हमारी व्यथा मन की मन में ही रही है। यद्यपि यह हमसे नहीं सही जाती किन्तु हम इसका वर्णन भी किसके सामने करें ? अपने प्रियतम के आगमन की अवधि के आश्रय से ही हम इन दैहिक और मानसिक सन्तापों को सहन करती रही हैं। आश्चर्य की बात तो यह हुई कि जहाँ से हम रक्षा की आशा करती थीं वहीं से संकट की धारा बह निकली। हे उद्धव ! आज तुम अपने ही नेत्रों से यहाँ की दशा देख रहे हो। व्यथा ने उमड़कर सारी सीमाओं को ढा दिया है और अब यह असीमित बन गई है। अब सूर के स्वामी कृष्ण के चले जाने से हम दु.सह विरह में जल रही हैं।

विशेष—गोपियाँ अपने मन की व्यथा को अपने मन में ही छिपाये हुए हैं। रहीम के मतानुसार उन्होंने ठीक ही किया है—

'रहिमन निज मन की व्यथा, मन ही राखो गोय।
सुनि अठिलैहे लोग सब बाँट न लैहे कोय ॥

वस्तुत. मन की व्यथा को सहन करके मुस्कराते रहना बड़ा कठिन है—

हम अपना राजे मुहब्बत छिपाये जाते हैं।
बला का गम है मगर मुस्कराये जाते हैं॥

स्याम को यहै परेखो आवै।
कत वह प्रीति चरन जावक कृत, अब कुब्जा मन भावै ॥
तब कत पानि धरयो गोवर्धन, कत ब्रजपतिहि छुड़ावै ?
कत वह वेनु अधर मोहन धरि लै लै नाम बुलावै ?
तब कत लाड़ लड़ाय लड़ते हँसि हँसि कंठ लगावै ?
अब वह रूप अनूप कृपा करि नयनन हू न दिखावै।
जिन मुख-संग समीप रैनि-दिन सोई अब जोग सिखावै ॥
जिन मुख दए अमृत रसना भरि सो कैसे विष प्यावै ?
कर मीडति पछताति हियो भरि, क्रम क्रम मन समुझावै।
सूरदास यह भाँति बियोगिनी तातें अति दुख पावै ॥३४६॥

शब्दार्थ—परेखो आवै—ख्याल आना। कृत—किया। रैनि—रात।

व्याख्या—गोपियाँ कृष्ण की निष्ठुरता पर प्रकाश डालती हुई उद्धव से कहती हैं कि हमें तो श्याम का यही सोच आता है कि कहाँ तो उन्होंने यहाँ रहकर हमसे इतना प्रेम किया था कि अपने हाथों से हमारे पाँवों में महावर लगाते थे और कहाँ अब कुब्जा ऐसी मन भायी है कि हमें बिल्कुल ही विस्मृत कर दिया। वे तो ब्रजपति कहलाते हैं,

यदि उन्हे अपनी इस सत्ता को स्थिर नही रखना था तो फिर गोवर्धन पहाड को उठा कर इस ब्रज की रक्षा उन्होने क्यो की थी ? उस समय मुरली अधरो पर रखकर बजा-बजाकर वे नाम ले-लेकर क्यों पुकारा करते थे ? उस समय तो यहाँ रह कर हमारे साथ इतना लाड प्यार करते थे और अब इन नेत्रों को अपना वह अनूपरूप दिखाते तक नहीं। रात-दिन जिस मुख से प्रेम की बातें करते थे उसीसे आज योग का उपदेश दे रहे हैं। जिस मुख ने हमारी रसनाओ को अमृत का आस्वादन कराया वही आज विष का पान क्यो करा रहे है ? सूर कहते है कि गोपियाँ हाथ मल मलकर पछताती हैं और धीरे-धीरे अपने मन को समझाती हैं किन्तु इससे वे वियोग से और भी सन्तप्त हो जाती हैं।

विशेष—इस पद मे प्रतिवस्तुपमा अलकार है।

सखी री ! मो मन धोखे जात।
ऊधो कहत, रहत हरि मधुपुरि, गत आगत न थकात॥
इत देखौं तौ आगे मधुकर मत्त-प्याय सतरात।
फिरि चाहौं तौ प्राननाथ उत सुनत कथा मुसकात॥
हरि साँचे ज्ञानी सब झूठे जे निर्गुन-जस गात।
सूरदास जेहि सब जग डहक्यो तें इनको डहकात॥३४७॥

शब्दार्थ—गत-आगत—आतेजाते। सतरात—बडबडाना। फिरि चाहौं—फिरकर जो मथुरा की ओर देखती हूँ। जस—यश। डहक्यो—ठगा।

व्याख्या—निर्गुणोपदेश की हँसी उडाती हुई कोई गोपी अपनी सखी से कहती हैं कि अरी सखी ! मेरा मन यो ही धोखे से उस मथुरा की ओर चला जाता है। वहीं पर ऊधो के कहने के अनुसार हरि रहते हैं। वहा से यह मन फिर इधर आ जाता है। और इस प्रकार आते-जाते यह थकता नहीं है। इधर आकर देखने पर तो ये मधुकर महाशय पागलो की भाँति बडबडाते दीखते हैं और जब उधर देखते हैं तो दिखाई देता है कि श्रीकृष्ण इनके भाषण को सुनकर मुस्करा रहे हैं। वास्तविकता यह है कि केवल हरि ही सत्य हैं और निर्गुण के यशोगान करने वाले सब झूठे हैं। सूर कहते हैं कि गोपी ने कहा कि जिस मायावी ने इस ससार को ठगा है वही इन्हें भी बहका रहे हैं।

विशेष—वस्तुत कृष्ण ने बहकाकर ही ऊधो को गोपियों के पास भेजा है। वे तो इनका ज्ञान-गर्व चूर-चूर करवाना चाहते थे न !

ब्रज तें द्वै ऋतु पै न गई।
पावस अरु ग्रीषम प्रचड, सखि ! हरि बिनु अधिक भई॥
ऊरध स्वास समीर, नयन घन, सब जलजोग जुरे।
बरषि जो प्रगट किए दुख-दादुर हुते जे दूरि दुरे॥

विषम वियोग दुसह दिनकर सम दिन प्रति उदय करे।
हरि विधु विमुख भए कहि सूरज को तनताप हरे ॥३४८॥

शब्दार्थ—द्वै—दो। पावस—वर्षा। दुरे—दिये। विधु—चन्द्रमा।

व्याख्या—अपनी वियोग दशा का वर्णन करती हुई गोपियाँ परस्पर कह रही हैं कि हे सखी! कृष्ण जी के चले जाने के कारण दोनो ऋतुओ ने ऐसा अड्डा जमाया है कि जाने का नाम भी नही लेती। एक तो ग्रीष्म और दूसरी वर्षा ऋतु हरि के बिना बड़ा प्रचण्ड रूप धारण किये रखती हैं। लम्बी-लम्बी साँसो का झंझावात तथा नयनो के बादलो का उमडना ये सभी वर्षा के योग जुड रहे हैं। इन्होने वर्षा करके पीडा रूपी मेढ़क लाकर खडे कर दिये हैं। ये मेढक पहले कही दूर छिपे थे। प्रचण्ड दिनकर की भाँति सन्तापदायी असह्य वियोग दिन-प्रतिदिन असह्य रूप मे उदय होता है। सूर कहते हैं कि गोपियो ने कहा कि चन्द्र श्रीकृष्ण के अतिरिक्त भला अब कौन हमारे इस शारीरिक सन्ताप को दूर कर सकता है?

विशेष—इस पद मे रूपक अलकार है।

तुमहिं मधुप! गोपाल-दुहाई।
कबहूँक स्याम करत ह्याँ को मन, किधौं निपट चित सुधि बिसराई?
हम अहीरि मतिहीन बापुरी हटकत हू हठि करहिं मिताई।
वै नागर मथुरा निरमोही, अंग अंग भरे कपट चतुराई॥
साँची कहहु देहु स्रवनन सुख, छाँडहु जिया कुटिल धूताई।
सूरदास प्रभु बिरद-लाज मेटहु ह्याँ को नेकु हँसाई॥३४९॥

शब्दार्थ—हटकत हू—मना करते हुए भी। धूताई—धूर्तता। दुहाई—शपथ। बापुरी—बेचारी। मिताई—मित्रता। बिरद—कीर्ति।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से पूछती हैं कि हे मधुप! तुम्हें श्रीकृष्ण की ही शपथ है। सच-सच बताना कि वे कभी यहाँ आने के लिए कहते भी हैं या हमे बिल्कुल विस्मृत ही कर दिया है? हम तो निर्धन अहीरिन हैं। मना करते हुए भी बरबस उनसे प्रेम करने लगी हैं। परन्तु वे मथुरा के रहने वाले शहरी आदमी ठहरे। बडे निर्मोही हैं, इसके अंग-अंग में कपट और चतुरता भरी पडी है। हे उद्धव! तुम बिल्कुल सच बताना और हमारे मन की बात कहकर हमारे कानो को सुख दो। अब बहुत हो चुका, अपने हृदय की कुटिलता तथा शठता को दूर कर दो। सूर कहते हैं कि गोपियों ने व्यथित होकर कहा कि स्वामी अपनी कीर्ति की लज्जा रखकर यहाँ जो हमारी लोक हँसी हो रही है उसे समाप्त कर दो।

विशेष—हे प्रभो! हम भक्त हैं और भक्तवत्सल आप हैं।
भक्तवत्सलता विरद अपना निभाते क्यों नहीं॥

बिरही कहँ लौं आपु सँभारे ?
जब तें गग परी हरिपद तें बहियो नाहिं निवारे ॥
नयनन तें रवि बिछुरि, भँवत रहै, ससि अजहूँ तन गारे।
नाभि तें बिछुरे कमल कट भए, सिधु भए जरि खारे ॥
बैन तें बिछुरी बानि अविधि भई विधि हो, कौन निवारे।
सूरदास सब अग तें बिछुरी केहि बिधा उपचारे ॥३५०॥

शब्दार्थ—तन गारे—शरीर को क्षीण करता है। कट—कटक। अविधि भई विधि हो—ब्रह्मा की पुत्री होकर विधि के विरुद्ध उनकी स्त्री हो गई। परी—गिरी।

व्याख्या—भगवन् वियोगी की असाध्य दशा का वर्णन करती हुई गोपियां उद्धव से कहती हैं कि भगवान् के विरही भला अपने को कैसे सभाल सकते हैं ? देखो, गगाजी ही जब से विष्णु के चरणो से अलग हुई हैं तब से इधर-उधर बहती फिर रही हैं। उसे अब तक भी कोई ठहरने के लिए स्थान न मिल सका। भगवान् की नेत्र-ज्योति से अलग होकर सूर्य और चन्द्र जैसे प्रतापशाली भी अपनी स्थिति को सभाल नही सके हैं। सूर्य प्रतिदिन भटकता रहता है और शशि अपने शरीर को क्षीण करता रहता है। हरि की नाभि से निकलकर कमल काँटो से भर गया तथा उनके वियोग मे समुद्र का जल बडवानल से खारा हो गया। उनकी वाणी से अलग होकर श्री शारदा भी इतनी दीवानी बन गइ कि विधि के विरुद्ध अपने पिता ब्रह्मा की पत्नी बन गई। सूर कहते हैं कि गोपियो ने कहा कि हे उद्धव ! जब एक एक अग से बिछुडने वालों की ऐसी दशा बन गई तो उनके सर्वांगीण आलिगन से अलग होने वालो की औषधि हो ही क्या सकती है ?

विशेष—(1) इस पद मे अर्थान्तरन्यास तथा हेतुत्प्रेक्षा अलकार है।

(ii) इस पद की कल्पनायें वैदिक वचनों और पौराणिक गाथाओं पर आश्रित हैं। वेदानुसार सूर्य और चन्द्र ईश्वर के नेत्र है। गगा भी विष्णु पद से निकली है, यह भी एक पौराणिक तथ्य है। विष्णु की नाभि से कमल की उत्पत्ति हुई, इसीलिए उनका नाम पद्मनाभ है। सागर मे विष्णु का शयन तथा सरस्वती का मूल रूप मे भगवान् की वाणी म निवास, ब्रह्मा से उसकी उत्पत्ति एव विवाह आदि ये सब अत्यन्त प्रसिद्ध पौराणिक गाथायें हैं। अत ये सब कल्पनायें सगत हैं।

(iii) कबीर के मतानुसार भी रामवियोगी का जीवित रहना बडा कठिन है—

राम बियोगी न जियें, जिएँ तो बौरा हो़हि। (कबीर)

(iv) प्रस्तुत पद की कल्पनाओ से मिलती-जुलती कल्पनायें तुलसी के निम्न पद मे भी दर्शनीय है—

सुन मन मूढ़ सिखावन मेरो।
हरिपद विमुख लह्यो न काहु सुख सठ, यह समुझ सबेरो॥

बिछुरे ससि रविमन नैननि तें, पावत दुख बहुतेरो।
भ्रमित भ्रमित निस दिवस गगन महँ तहँ रिपुराहु बडेरो॥
यद्यपि अति पुनीत सुर सरिता, तिहुँ पुर सुजस घनेरो।
तजे चरन अजहूँ न मिटत नित बहिबो ताहू केरो॥

गोपाल गोकुल के वासी।
ऐसी बातें सुनि सुनि ऊधो ! लोग करत हैं हाँसी।
मथि मथि सिंधु-सुधा सुर पोषे संभु भए विष-ग्रासी॥
हमि हति कंस, राज दै औरनि, आपु चाहि लई दासी।
बिसरचो सूर बिरह-दुख अपनो सुनत चाल औरासी॥३५१॥

शब्दार्थ—ग्रासी—खाने वाले। पोपे—दे दिया। औरासी—बेढगी, विचित्र।

व्याख्या—श्रीकृष्ण के चचल चित्त का वर्णन करती हुई गोपिया उद्धव से कहती हैं कि हे ऊधो तथा गोपाल, तुम्हारे लच्छनो को सुन-सुनकर लोग यहाँ तुम्हारी हँसी उडाते हैं। पहले समय मे तुमने सागर का मथन करके अमृत निकाला और सुरो का पालन किया। बेचारे भोले बाबा को विष देकर लक्ष्मी को स्वय हडप लिया। इसी प्रकार तुमने अब भी वैसा ही कार्य किया है। कस को मार कर राज्य तो दूसरो को दे दिया तथा स्वय कुब्जा को हथिया लिया। सूर कहते हैं कि गोपियो ने कहा कि हम तो आपकी विचित्र बातों को सुन सुनकर अपने विरह के दुःख को भी भूल जाती हैं।

विशेष—सागर मथन, शिव द्वारा विषपान तथा स्वय लक्ष्मी को हडपने की बात के उदाहरण से गोपियों के इस कथन के प्रमाण के लिए कि श्रीकृष्ण चचल चित्त हैं तथा उन्होने कुब्जा को भी इसी प्रकार हडप लिया है, बहुत बल मिला है।

बदले को बदलो लै जाहु।
उनकी एक हमारी द्वै, तुम सबै जनैया आहु॥
तुम तो हमे जानि कै भोरो, सोई सारो दाँव।
हमरो वेर मुकरि कै भागत, हिये चौगुनो चाव॥
अब तुम सखा बेगी ही जैयो, मेटहु उनको दाहु।
सूरदास ब्योहार भए तें हम तुम दोऊ साहु॥३५२॥

शब्दार्थ—द्वै—दो। सारो दाँव—चाल चलना। मुकरि कै—इन्कार करके। आहु—हो। भोरो—ठगते हो। साहु—साधु, महाजन।

व्याख्या—ईंट का उत्तर पत्थर से देती हुई गोपिया ऊधो से कहती हैं कि अपनी बातो के बदले मे हमारी बातें भी सुन लो। उनकी ओर से तो तुम एक ही (निर्गुणोपदेश) लाये हो। इसके बदले मे हमने तुम्हे कितनी ही सारी बातें सुना दी हैं अत मय सूद के उन्हें दे देना। तुम बहुत समझदार हो और सब बातें जानते हो। हमे भोला समझकर तुमने तो अपनी चाल चलने मे कोई कसर रखी ही नही है। अब जब हमारा

नम्बर आया तो इस प्रकार मना करके तीव्र गति से क्यों भागे जा रहे हो ? ठहरो, बदले में ये हमारी वस्तुएँ लेकर शीघ्र ही अपने मित्र (कृष्ण) को जाकर दे देना जिससे उनकी छाती ठंडी हो जाय। सूर कहते है कि गोपियों ने कहा कि हे ऊधो! यह व्यवहार की बात है। तुमने एक बात कह दी और हमने उसके बदले मे अनेक खरी-खोटी कह दी। हम और तुम दोनों महाजन हैं, अब किसी का किसी पर कुछ नहीं चाहिये।

विशेष—इस पद में परिवृत्ति अलंकार है।

ऊधो! सूधे नेकु निहारो।
हम अबलनि को सिखवन आए, सुन्यो सयान तिहारो॥
निर्गुन कह्यो ; कहा कहियत है ! तुम निर्गुन अति भारो।
सेवत सगुन स्यामसुदर को लई मुक्ति हम चारो॥
हमें सालोक, सरूप, सयुज्यो रहत समीप सदाई।
सो तजि कहत और की ओरें, तुम अलि! बड़े अताई॥
हम मूरख तुम बड़े चतुर हो, बहुत कहा कहिए।
बे ही काज सदा भटकत हो, अब मारग गहिए॥
अहो अज्ञान! ज्ञान उपदेसत ज्ञान रूप हम ही।
निसिदिन ध्यान सूर प्रभु को अलि! देखत जित तितहीं॥३५३॥

शब्दार्थ—सयान—चतुराई। अताई—दुष्ट। बे—बिना। चारो—चारों मुक्ति।

व्याख्या—उद्धव को झेंपता हुआ देखकर गोपिया उनसे कहने लगी कि हे ऊधो! झेंपते क्यों हो ? तनिक हमसे आँखें मिलाकर बातें करो। आपके ज्ञान का अनुमान तो इसी बात से लग गया है कि आप हम अबलाओ को ज्ञान की शिक्षा देने आय हो। आपने यहा आकर जो निर्गुण पर भाषण दिया है, क्या कहने हैं आपके ? आप तो बड़े भारी निर्गुणोपासक हैं। पर हमने तो सगुण श्याम की सेवा करके चारों प्रकार की मुक्ति (सालोक्य, सारूप्य, सायुज्य तथा सामीप्य) प्राप्त कर ली है। तब भी आप कुछ और की ओर कह रहे हो। अरे मधुप ! तुम तो बड़े दुष्ट हो। हम मूर्ख हैं भाई अब तो आप बड़े बुद्धिमान हैं। खैर अब हम अधिक क्या [illegible]? आप सदा बिना कार्य के ही इधर-उधर भटकते रहते हो, अब तो आप अपना [illegible] का मार्ग पकड़ो। हाय ! इससे बड़ा अज्ञान और क्या हो सकता है कि ज्ञान की [illegible]म सीमा पर पहुँचे हुए हमें तुम ज्ञान की बारहखड़ी सिखाने आ गये हो। हम तो [illegible]र भी देखती हैं उधर ही हमे तो सूर के स्वामी श्याम की मूर्ति दिखाई देती है। [illegible]रे लिए तो सब कुछ श्याममय है।

विशेष—जिस प्रकार ज्ञान की चरमावस्था मे ज्ञाता और ज्ञेय का कोई भेद [illegible] रहता उसी प्रकार प्रेम या भक्ति की चरमावस्था मे उपास्य और उपासक का

कोई भेद नही रहता है। इसीलिए गोपियो ने अपने-आपको ज्ञान-रूप कहा है।

जा जा रे भौंरा ! दूर दूर !
रंग रूप औ एकहि मूरति, मेरो मन कियो चूर चूर॥
जौ लौं गरज निकट तौ लौं रहै, काज सरे पै रहै घूर।
सूर स्याम अपनी गरजन कौं कलियन रस लै घूर घूर॥३५४॥

शब्दार्थ—घूर—ऊपर, ऊँचे। लै—लेय, लेता है। घूर-घूर—घूम-घूमकर।

व्याख्या—कृष्ण की निष्ठुरता पर व्यंग्य करती हुई गोपियाँ भौंरे को सम्बोधन करके ऊधो से कहती हैं कि अरे मधुप ! तू जा यहाँ से कही बहुत दूर चला जा। तेरा रगरूप और आकार भी उन्ही के समान है। तूने मेरा मन तोडकर चूर-चूर कर दिया है। जब तक स्वार्थ रहता है तब तक तो निकट रहते हो और स्वार्थ-पूर्ति होने पर ऊँचे उड जाते हो। सूर कहते हैं कि गोपियो ने कहा कि हे भौंरे, तुम अपने स्वार्थ से कलियो का रस चूसने के लिए ही चक्कर काटते हो।

विशेष—(i) आधुनिक प्रसिद्ध कवयित्री महादेवी वर्मा ने भी भौंरे की स्वार्थ-युक्त प्रीति पर, देखिये, निम्न पक्तियो में कितना सुन्दर तुलनात्मक प्रकाश डाला है—

जिसको मरुभूमि समुद्र हुआ उस मेघव्रती की प्रतीति नहीं।
जो हुआ जल दीपकमय उससे कभी पूँछी निबाह की नीति नहीं॥
मतवाले चकोर से सीखी कभी उस प्रेम के राज्य की नीति नहीं।
तु अकिंचन भिक्षुक है मधु का, अलि, तृप्ति कहाँ जब प्रीति नहीं॥

(ii) प्रस्तुत पद मे अन्योक्ति अलकार है।

ऊधो ! धनि तुम्हरो व्यवहार।
धनि वे ठाकुर, धनि वै सेवक, धनि तुम बर्तनहार॥
आम को काटि बबूर लगावत, चदन को कुरवार।
सूर स्याम कैसे निबहैगो अधधुंध सरकार॥३५५॥

शब्दार्थ—कुरवार—खोदकर। धनि—धन्य है। ठाकुर—स्वामी।

व्याख्या—व्यग्य करती हुई गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि तुम्हारा व्यवहार धन्य है। तुम्हारे सेवक और स्वामी सब धन्य हैं। आप जैसे भी उनकी नीतियो को कार्य रूप देते हैं धन्यवाद के पात्र हैं। आप तो आम को कटवाकर तथा चन्दन के वृक्षो को खुदवाकर उनके स्थान पर बबूल लगाने का प्रयत्न कर रहे हो। सूर कहते हैं कि गोपियाँ इस अनरीति को देखकर उद्धव से कहती हैं कि आखिर यह निरकुश सरकार कैसे निभेगी ?

विशेष—इस पद मे अन्योक्ति अलकार है।

जाहु जाहु ऊधो ! जाने हो पहिचाने हो।
जैसे हरि तैसे तुम सेवक, कपट-चतुराई-साने हो॥
निर्गुन ज्ञान कहाँ तुम पायो, केहि सिखए ब्रज आने हो।
यह उपदेस देहु लै कुबजहि जाके रूप सुमाने हो॥
कहँ लगि कहौं योग की बातें, बाँचत नैन पिराने हो।
सूरदास प्रभु हम हैं खोटी तुम तो बारह बाने हो॥३५६॥

शब्दार्थ—साने—युक्त। सिखए—सिखाने से आकर। आने—लाये हो। बारह बाने—बारह बानी के अर्थात् खरे।

व्याख्या—निर्गुण पर व्यंग्य करती हुई गोपियाँ कहती हैं कि हे उद्धव ! आप यहाँ से चले जाओ। हम तुम्हें खूब जानती और पहचानती हैं। जैसे श्रीकृष्ण हैं वैसे ही तुम उनके सेवक हो। दोनों ही छल और कपट से युक्त हो। अच्छा यह बताओ कि तुम्हें यह निर्गुण ज्ञान कहाँ से मिला। तुम इसे किसके सिखाने से यहाँ लाये हो। इसे तुम कुब्जा को जाकर दे दो, उसके रूप पर तो तुम्हारे स्वामी अर्थात् श्रीकृष्ण निछावर हो रहे हैं। हम तुमसे योग की बातें कहाँ तक करती रहें। योग का सन्देश पढ़ते पढ़ते तो हमारे नेत्र दुखने लगे हैं। पर इतने पर भी हम बुरी हैं। पर चलो तुम तो बारह बाना के हो अर्थात् खरे हो।

विशेष—गोपियों का उद्धव से यह कहना कि जिस कुब्जा के रूप पर उपदेशक महोदय (श्रीकृष्ण) मोहित हैं, उसी को उनका उपदेश देना चाहिये, सार्थक एवं उपयुक्त है।

मधुबन सब कृतज्ञ धर्मीले।
अति उदार परहित डोलत हैं, बोलत बचन सुसीले॥
प्रथम आप गोकुल सुफलकसुत लै मधुपुरिहि सिधारे।
उहाँ कंस हर्यो हम दीनन को दूनो काज सँवारे॥
हरि को सिखै सिखावन हमको अब ऊधो पग धारे।
ह्वाँ दासी-रति की कीरति कै, यहाँ जोग बिस्तारे॥
अब या बिरह-समुद्र सबै हम बूडी चहति नहीं।
लीला सगुन नाव ही, सुनु अलि, तेहि अवलंब रहीं॥
अब, निर्गुनहि गहे जुवतीजन पारहि कहौ गई को।
सूर अक्रूर छपद के मन में नाहिन त्रास दई को॥३५७॥

शब्दार्थ—हीं—थी। छपद—भ्रमर। दई—ईश्वर। नहीं—जुती हुई।

व्याख्या—गोपियाँ योगोपदेश पर व्यंग्य करती हुई उद्धव से कहती हैं कि भाई ! मथुरा में तो सभी धर्मात्मा और कृतज्ञ हैं। वे सभी बड़े दयालु हैं। परोपकार में इधर-उधर भटकते फिरते हैं और अत्यन्त सुशील वचन कहते हैं। पहले तो अक्रूर जी महाराज गोकुल आये और कृपा करके उन्हें मथुरा लेकर चले गये। किन्तु वहाँ जाकर उधर कंस

का और इधर हमारा दोनो का काम तमाम कर दिया। अब हरि की सीख लेकर हमे योग की शिक्षा देने के लिए महाराज उद्धव जी यहाँ आये हैं। वे वहाँ कुब्जा के साथ प्रेम की कीर्ति का विस्तार करके यहाँ योग का प्रचार कर रहे हैं। अब हम विरह के समुद्र मे निरवलम्ब डूबना चाहती हैं। आज तक तो हम लोगो के लिए सगुण की लीला रूपी नाव थी। उसी का आश्रय लेकर अब तक हम समुद्र को पार करती रहीं किन्तु आज तुम उसे छुडाकर हमे निर्गुण थमा रहे हो। बताओ फिर यह समुद्र किस प्रकार पार किया जायगा? सूर कहते हैं कि गोपियो ने कहा कि हाय अक्रूर और इन भ्रमर महाशय (उद्धव) को दैव का भय भी तो नही है।

विशेष—चौथी पक्ति मे काकुवक्रोक्ति तथा कस और गोपियो को एक ही धर्म 'सँवारे' कहा गया है इसलिए तुल्ययोगिता अलकार है। इसके अतिरिक्त इस पद मे अत्यन्त तिरस्कृत वाच्यध्वनि तथा रूपक अलकार है।

ऊधो! भूलि भले भटके।
कहत कही कछु बात लडैते तुम ताही अटके॥
देख्यो सबल सयान तिहारो, लिन्हें छरि फटके।
तुर्माहि दियो बहराय इतै को, वै कुबजा सो अटके॥
लीजो जोग सभारि आपनो जाहु तहाँ टटके।
सूर स्याम तजि कोउ न लैहे या जोगहि कटुके॥३५८॥

शब्दार्थ—सयान—चतुराई। छरि फटके—झाड-फटक कर अर्थात् खूब जाँच कर। कटुके—कटु जोग को।

व्याख्या—उद्धव को बनाती हुई गोपियाँ कहती हैं कि हे ऊधो! तुम भी खूब भूलभुलैयो मे भटक रहे हो। उन प्रियतम ने कुछ बात वैसे ही प्रसगवश कह दी थी पर तुम उसी मे अटक गये। बस, हमने तुम्हारी चतुरता भी देख ली। खूब झाड फटक कर अर्थात् जाँच कर देख ली। उन महाशय ने तुम्हें तो योग देकर इधर को बहका कर भेज दिया और स्वय उधर कुब्जा से अटक रहे हैं। खैर, अब भी सम्भल जाओ, अपना यह योग लेकर ठीक ठाव घर चले जाओ। सूर कहते हैं कि गोपियो ने कहा कि यहाँ श्याम को त्यागकर इस कडुवे योग को कोई ग्रहण नहीं करेगा।

विशेष—श्याम ने ऊधो को खूब बनाया, नीरस योग सिखाने उन्हे तो यहाँ व्रज में भेज दिया और स्वय कुब्जा के साथ आनन्द म फँसे रहे।

जोग सँदेसो ब्रज मे लावत।
थाके चरन तिहारे, ऊधो! बार बार के धावत॥
सुनिहै कथा कौन निर्गुन की, रचि पचि बात बनावत।
सगुन सुमेरु प्रगट देखियत, तुम तृन की ओट दुरावत॥

हम जानत परपंच स्याम के, बातन ही बहरावत।
देखी सुनी न अबलों कबहूँ, जलमथे माखन आवत।।
जोगी जोग-अपार सिंधु में ढूँढ़े हू नहिं पावत।
ह्याँ हरि प्रगट प्रेम जसुमति के ऊखल आप बंधावत।।
चुप करि रहौ, ज्ञान ढँकि राखौ; कत हौ विरह बढ़ावत।
नंदकुमार कमलदल लोचन कहि को जाहि न भावत?
कहि को विपरीत बात कहि सबके प्रान गँवावत?
सो है सो कित सूर अबलनि जेहि निगम नेति कहि गावत?।।३५६।।

शब्दार्थ—पचि—हैरान होकर। दुरावत—छिपाते हो। बहरावत—बहकाते हो।

व्याख्या—योगोपदेश की निरर्थकता पर प्रकाश डालती हुई गोपियाँ ऊधो से कहती हैं कि हे उद्धव ! तुम योग का सन्देश ब्रज मे लाये हो। बार-बार के दौड़ने से तो तुम्हारे पैर थक गये होंगे। तुम जो बड़े हैरान होकर गढ़-गढ़कर बातें बना रहे हो किन्तु तुम्हारे इस निर्गुण की कथा यहाँ कौन सुनेगा ? यहाँ तो सगुण सुमेरु पर्वत की भाँति प्रत्यक्ष रूप मे दिखाई दे रहा है किन्तु तुम उसे निर्गुण के तिनके की ओट मे छिपाना चाहते हो। हम श्याम के सब दाँव-पेचों को जानती हैं। वे तो यों ही बातों मे बहलाया करते हैं। हमने तो आज तक पानी को मथकर नवनीत निकालने की बात न तो देखी है और न सुनी है। योगी योग के अथाह समुद्र मे बैठकर आजन्म खोजते रहने पर भी जिसे प्राप्त नहीं कर सके वही सगुणोपासना से प्रसन्न होकर तथा यशोदा के प्रेम के वशीभूत होकर अपने को ऊखल मे बँधवा लेता है। अतः अब तुम चुप रहो और ज्ञान को ढँके रखो। इसको व्यर्थ मे ही खोलकर हमारी विरह-वेदना को तुम क्यो बढ़ाते हो ? तुम्हीं बताओ, कमलनयन नन्दलाल भला किसे अच्छे नही लगते ? तुम उल्टी-उल्टी बातें करके हम सबको क्यों मारे डालते हो ? सूर कहते हैं कि गोपियो ने उद्धव से कहा कि तनिक सोचो तो जिसे उपनिषद् आदि शास्त्र नेति-नेति कहकर वर्णन करते हैं वह हम अबलाओं के लिए कैसे उपयुक्त हो सकता है ?

विशेष—(i) इस पद मे रूपक एव निदर्शना अलकार है।

(ii) भेद पा सके हैं नहीं वेद औ पुरान वाले,
श्रुति और स्मृति जिसही के गुन गाती हैं।
[illegible]ों की कन्दरों मे मुनि लोग ढूंढते हैं,
जिसकी कहानियाँ सब ज्ञानियों को भाती हैं।
वि' सुजान और निपट गवारों को भी,
जिसे याद कर आँखें आँसू ढलकाती हैं।
है कसम तुझे तू भी चल देख आज,
चुटकी बजाके उसे गोपियाँ नचाती हैं।।

कहा भयो हरि मथुरा गए।
अब, अलि ! हरि कैसे सुख पावत तन द्वै भाँति भए॥
यहाँ अटक अति प्रेम पुरातन, ह्याँ अति नेह नए।
ह्याँ सुनियत नृप-बेष, यहाँ दिन देखियत बेनु लए॥
कहा हाथ परचो सठ अक्रूरहिं यह ठग-ठाट ठए।
अब क्यों कान्ह रहत गोकुल बिनु जोगन के सिखए॥
राजा राज करौ अपने घर माथे छत्र दए।
चिरजीव रहो, सूर नंद सुत, जीजत मुख चितए॥३६०॥

शब्दार्थ—द्वै भाँति भए—दो रूपों का एक ही साथ निर्वाह करना पड़ता है। दिन—प्रतिदिन, सदैव।

व्याख्या—श्रीकृष्ण-कुब्जा प्रेम पर कटाक्ष करती हुई गोपियाँ कहती हैं कि हे ऊधो ! कृष्ण ने मथुरा जाकर क्या लाभ कर लिया ? हे मधुकर ! अब तो उन्हें दो शरीरों का एक साथ ही निर्वाह करना पड़ता है। अतः उन्हें अब सुख ही क्या प्राप्त होता होगा ? यहाँ का वह पुरातन प्रेम और वहाँ की यह नयी प्रीति भला दोनों का निर्वाह कैसे होता होगा ? और फिर यह भी सुना है कि वे राजवेष में रहते हैं और यहाँ हम उन्हें प्रतिदिन वेणु लिए देखती हैं। पता नहीं ठगने का यह जाल रचने से उस अक्रूर को क्या मिल गया ? अब भला वे बिना योग सिखाये गोकुल में क्यों रहेंगे ? सूर कहते हैं कि गोपियों ने निराश होकर श्रीकृष्ण के लिए शुभकामनायें प्रगट करते हुए कहा कि वे राजा हैं, अपने घर पर सिर पर छत्र धारण करके राज्य करें। हमारे तो नन्दसुत ही यहाँ चिरंजीवी हों जिनका मुख देखकर हम जी रही हैं।

विशेष—देखिये, कवि पद्माकर ने भी कुछ ऐसा ही कहा है—

ऊधो वे गोविन्द कोई और मथुरा में यहाँ।
मेरो तो गोविन्द मोहि मोहि में रमत है॥

तुम्हारी प्रीति, ऊधो ! पूरब जनम की अब तो भए मेरे तनहू के गरजी।
बहुत दिनन तें बिरमि रहे हो, संग तें बिछोहि हमहिं गए बरजी॥
जा दिन तें तुम प्रीति करी हो घटति न, बढ़ति तूल लेहु नरजी।
सूरदास प्रभु तुम्हरे मिलन बिनु तन भयो ब्योंत, बिरह भयो दरजी॥३६१॥

शब्दार्थ—करी हो—की थी। तूल—लम्बाई। लेहु नरजी—नाप लो।

व्याख्या—उद्धव को उपालम्भ देती हुई गोपियाँ कहती हैं कि हे उद्धव ! कृष्ण से जो हमारा प्रेम हुआ है वह हमारे पूर्व जन्म का संस्कार है। किन्तु अब तो वे हमारे प्राणों के ग्राहक बन रहे हैं। हाय ! वे तो जाकर वहीं रमे रहे। हमारा तो साथ छोड़कर चल दिये और हमें वहाँ चलने के लिए मना कर दिया। इतना होने पर भी जिस दिन से उन्होंने प्रेम किया है वह प्रेम घटने का नाम नहीं लेता, बढ़ता ही रहता है। यदि विश्वास न हो तो गज लेकर नाप लो। सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि हे कृष्ण

जी ! तुम्हारे विरह में यह शरीर तो एक माप बन गया है और विरह दर्जी।

विशेष—प्रस्तुत पद में सांगरूपक अलंकार है।

गोपालहि लै आवहु मनाय।
अब की बेर कैसेहु करि, ऊधो ! करि छल बल गहि पाय।।
दीजो उनहिं सुसारि उरहनो सौंपि सधि समुझाय।
जिनहिं छाँडि वढ़िया महँ आए ते बिकल भए जदुराय।।
तुमसों कहा कहौं, हो मधुकर! बातें बहुत बनाय।
बहियाँ पकरि सूर के प्रभु को नंद की सौंह दिवाय।।३६

शब्दार्थ—सुसारि—समझाकर कहकर। वढ़िया—बाढ़, विरह-प्रवाह बाढ।

व्याख्या—विरहातुर होकर ऊधो से प्रार्थना करती हुई गोपियाँ कहती हैं हे उद्धव ! तुम गोपाल को मनाकर लिवा लाओ। अबकी बार किसी न किसी प्र उन्हें छल-बल से लिवा ही लाओ। तुम उन्हें खूब समझा-समझाकर हमारा उलाहना देना कि तुम जिन्हें विरह की बाढ में छोड़ आये थे वे गोपियाँ आज व्याकुल हो गई हैं। हे उद्धव ! बस हम तुमसे अधिक बातें बना-बनाकर क्या कहें, तुम भगवान् कृष्ण का हाथ पकड़कर तथा नन्द की शपथ दिलाकर यहाँ लिवा ही लाओ।

विशेष—रूपकातिशयोक्ति अलंकार है।

कै तुम सों छूटै लरि, ऊधो, कै रहिए गहि मौन।
एक हम जरें जरे पर जारत, बोलहु कुबची कौन?
एक अंग मिले दोऊ कारे, काको मन पतियाए?
तुम सी होय सो तुम सो बोलै, लोने जोगहि आए।।
जा काहू कों जोग चाहिये सो लै भस्म लगावै।
जिन्ह उर ध्यान नंदनंदन को तिन्ह क्यों निर्गुन भावै?
कहौ सँदेस सूर के प्रभु को, यह निर्गुन अँधियारो?
अपनो बोयो आप लूनिए, तुम आपुहि निरवारो।।३६३।।

शब्दार्थ—कुबची—बुरी बात कहने वाला। निरवारो—सुलझाओ। लूनिए—काटो।

व्याख्या—उद्धव के निराकार ब्रह्म के उपदेश से परेशान होकर गोपियाँ कहती हैं कि हे उद्धव ! इस समय हम तुमसे या तो लड़कर या मौन धारण करके ही छुटकारा पा सकती हैं। हम तो पहले ही विरह में जल रही हैं और फिर ऊपर से तुम यह निर्गुण ब्रह्म का उपदेश दे रहे हो, जले पर और जला रहे हो। तुम्हीं सोचो कि बुरे तुम हो या हम ! तुम दोनों ही (उद्धव और कृष्ण) काले हो और अंगों में समानता है तो बताओ हमारा मन किसका विश्वास करे? जो तुम्हारे जैसी ही हो वही तुमसे बातें कर

सकती है। तुम्हारे इस योग को तुम जैसा ही समझ सकता है। जिनके हृदय मे नन्द-नन्दन बसे हुए हैं उन्हे भला निर्गुण ब्रह्म की उपासना क्यो अच्छी लगेगी ? सूर के प्रभु से हमारा यह सन्देशा कह देना कि यह निर्गुण ब्रह्म कोरा अन्धकारमय है, इससे अज्ञान दूर नही हो सकता। अत. तुम अपना बोया हुआ अपने आप ही काटो। इस उलझन को अपने आप ही सुलझाओ।

विशेष—उद्धव के निराकार के उपदेश से गोपियो को कितनी परेशानी हुई होगी, इसका अनुमान कोई सगुणोपासक ही लगा सकता है !

ऐसो माई ! एक कोद को हेतु।
जैसे वसन कुसुंभ-रग मिलि कै नेकु चटक पुनि सेत॥
जैसे करनि किसान बापुरो नौ नौ बाहैं देत।
एतेहू पै नीर निठुर भयो उमगि आय सब लेत॥
सब गोपी भाखें ऊधो सो, सुनियो बात सचेत।
सूरदास प्रभु जन तें बिछुरें ज्यों कृत राई रेत॥३६४॥

शब्दार्थ—माई—सखी। कोद—ओर, तरफ। बाहै देत—कई बाँह जोतना। ज्यो कृत राई रेत—जैसे रेत या बालू मे राई कर दी गई हो। कुसुभ—हल्का लाल। करनि—अपने हाथो।

व्याख्या—कोई गोपी अपनी सखी से कहती है कि हे सखी ! एक तरफ का प्रेम इस प्रकार का है जैसा कि वस्त्र हल्के लाल रग मे रगते समय थोड़े मे ही चटक और थोड़े ही मे सफेद हो जाता है और जैसा कि कृषक अटूट परिश्रम द्वारा अपने खेत को कई बार जोतता है ताकि कुछ उत्पन्न हो जाय, किन्तु जल की घोर वृष्टि उसके सब कार्य पर पानी फेर देती है। गोपियो ने ऊधो से कहा कि तनिक सावधानी से सुनो कि सूर के प्रभु से बिछुरकर मनुष्य अपने मन को ठीक उसी प्रकार अलग नही कर सकता जिस प्रकार कि रेत मे मिली हुई राई अलग नही हो सकती।

विशेष—इस पद मे उदाहरण अलकार है।

मधुकर, मन सुनि जोग डरै।
तुमहू चतुर कहावत अति ही इतो न समुझि परै॥
और सुमन जो अनेक सुगधित, सीतल रुचि सो करै।
क्यों तू कोकनद बनहिं सरै औ और सबै अनरै ?
दिनकर महाप्रतापपुंज-वर, सबको तेज हरै।
क्यो न चकोर छाँडि मृग-अकहि वाको ध्यान करै ?
उलटोइ ज्ञान सबै उपदेसत, सुनि सुनि जीय जरै।
जबू-वृक्ष कहौ क्यों, लपट ! फलवर अब फरै॥
मुक्ता अवधि मराल प्रान है जौं लगि ताहि चरै।
निघटत निपट, सूर, ज्यो जल बिनु व्याकुल मीन मरै॥३६५॥

शब्दार्थ—सरै—जाता है। भनरै—अनादर करता है। मृग-अंक—चन्द्रमा।

व्याख्या—उद्धव की निराकारोपासना को तर्क की कसौटी पर रखती हुई गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हे मधुकर! तुम्हारा यह योग सुनकर हमें मन में डर लग रहा है। ठीक है कि तुम अत्यन्त चतुर और विद्वान् कहलाते हो परन्तु हमारी समझ में कुछ बात नहीं आ रही है। शीतलता उत्पन्न करने वाले दूसरे भाँति-भाँति के पुष्पों को त्यागकर हे भ्रमर! तू कमल के वन में ही क्यों जाता है? ज्योति के सभी श्रेष्ठ समूहों में ज्योतिर्मान सर्वश्रेष्ठ सूर्य जो सबके तेज को हरने वाला है, चन्द्रमा को छोड़कर चकोर उसका ध्यान क्यों नहीं करता? हे ऊधो! तुम सबको जो यह उल्टा उपदेश दे रहे हो उसे सुनकर हमारा हृदय जल उठता है। हे धूर्त भ्रमर! हमें तनिक बता तो दे कि जामुन के वृक्ष में आम का श्रेष्ठ फल कैसे लग सकता है? कृष्ण की उपासना करने वाली गोपियों को योग का नीरस उपदेश भला कैसे भा सकता है? हंस जीवित रहते हुए बस मोतियों को ही चुगता है, अन्यथा मरना अच्छा समझता है। सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा, मछली भी निष्ठुर जल की समाप्ति पर व्याकुल होकर अपने प्राण त्याग देती है। भाव यह है कि हम भी कृष्ण के बिना मर जाना ही उचित समझती हैं।

विशेष—(i) कबीर ने भी कुछ ऐसा ही कहा है, देखिए—

विरहिन देय संदेसरा, सुनो हमारे पीव।
जल बिन मच्छी क्यों जिये, पानी में का जीव॥

(ii) इस पद में निदर्शना अलंकार है।

बिरचि मन बहुरि राच्यो आय।
टूटी जुरै बहुत जतनन करि तऊ दोष नहिं जाय॥
कपट हेतु की प्रीति निरंतर नोइ चोखाई गाय।
दूध फटे जैसे भइ काँजी, कौन स्वाद करि खाय?
केरा पास ज्यों बेर निरंतर हालत दुख दै जाय।
स्वाति-बूँद ज्यों परे फनिक-मुख परस बिषै ह्वै जाय॥
ऐसी केती तुम जो उनकी कही बनाय बनाय।
सूरजदास दिगंबर-पुर में कहा रजक-ब्योसाय॥३६६॥

शब्दार्थ—बिरचि—विरक्त होकर। राच्यो—अनुरक्त हुआ। नोइ—पैर रस्सी से बाँधकर। चोखाई—दुही। दोष—जोड़ की त्रुटि। काँजी—खट्टा। दिगंबर—नंगे लोग। रजक—धोबी।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि एक बार विरक्त होकर फिर अनुरक्त होने में कुछ आनन्द नहीं रहता। टूटी हुई रस्सी बहुत परिश्रम करने से जुड़ तो जाती है किन्तु रहती है फिर गाँठ-गठीली ही। कपटपूर्ण स्नेह और रस्सी बाँधकर दुही हुई गाय या खटाई से फटे हुए दूध को खाने में भला किसे स्वाद आता है? जिस प्रकार केले के लिए बेर की निकटता दुःखदायी होती है उसी प्रकार हे उद्धव! तुम्हारी निकटता हमें

दु खदायी हो रही है। 'वेर तो बार-बार हिल-हिलकर आनन्द लेती है किन्तु केले के अग जीर्ण हो जाते हैं। इसी प्रकार तुम भी बार-बार निर्गुण का उपदेश देकर आनन्द ले रहे हो पर हम दग्ध हुई जा रही हैं। सर्प के मुख मे स्वाति की बूंद पडकर विष हो जाती है। इसी प्रकार तुम्हारे अमृत के समान वचन भी हमारे अन्तस मे जाकर घातक बन जाते हैं। तुम जितनी भी बातें कृष्ण के विषय मे बना-बनाकर कह रहे हो वे सब निरर्थक हैं। सूर कहते हैं कि गोपियो ने कहा कि तनिक सोचो तो नगे रहने वालो की नगरी मे धोबी का धन्धा कैसे चल सकता है ?

विशेष—(1) देखिए, केले और बेर के सग के विषय मे रहीम ने भी यही कहा है—

कहु रहीम कैसे निभे, बेर केर को संग।
वे डोलत रस आपने, उनके फाटत अंग॥

(ii) इस पद मे समुच्चय, प्रतिवस्तूपमा तथा विषम अलकार है।

कहत कत परदेसी की बात ?
मदिर-अरध-अवधि बदि हम सों, हरि-अहार चलि जात॥
ससि-रिपु बरष सूर-रिपु युग वह, हर-रिपु किए फिरै घात।
मघ पचक लै गए स्यामघन, आय बनी यह बात॥
नखत, बेद, ग्रह जोरि अर्ध कार को बरजै हम खात।
सूरदास प्रभु तुर्मांहे मिलन कौं कर मीडति पछितात॥३६७॥

शब्दार्थ—मदिर-अरध-अवधि—मन्दिर, घर, उसका आधा भाग पाख अर्थात् एक पक्ष की अवधि। हरि-अहार—शेर का भोजन मास अर्थात् माह। ससि-रिपु—दिन। सुर-रिपु—रात। हर-रिपु—कामदेव। मघ पचक—मघा से लेकर पाँचवाँ नक्षत्र चित्रा अर्थात् चित्त। नखत, वेद, ग्रह जोरि अर्ध करि—नक्षत्र २७, वेद ४, ग्रह ६, योग हुआ ४० इसका आधा बीस अर्थात् विष।

व्याख्या—निराश होकर गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि तुम हम से उस परदेशी की बातें क्यों कह रहे हो ? उन्होने तो जाते समय एक पक्ष की अवधि बतायी थी पर अब तो मास बीत गये। हमारे लिए यहाँ दिन वर्ष के समान तथा रात्रियाँ युगो के समान हो रही हैं। कामदेव हमे मारने के लिए घूम रहा है। हमारा चित्त घनश्याम अपने साथ ले गये हैं अतः अब हम विष खाने को तैयार हैं। देखें भला हमे ऐसा करने से कौन रोकता है ? सूर कहते हैं कि हे स्वामी, तुमसे मिलने के लिए गोपियाँ हाथ मल-मलकर पछता रही हैं।

विशेष—यह कवि का दृष्टकूट पद है। जहाँ सीधे-सादे ढग से अर्थ न निकलकर पहेली के ढग से अर्थ निकलता है, वहाँ वह पद दृष्टकूट कहलाता है। काव्य मे इसकी गणना अधम काव्यों में की जाती है।

ऊधो ! मन माने की बात।
दाख छुहारा छाँड़ि अमृत-फल विष-कीरा विष खात ।।
जौ चकोर को दै कपूर कोउ तजि अगार अघात ?
मधप करत घर कोरि काठ में बँधत कमल के पात ।।
ज्यों पतंग हित जानि आपनो दीपक सों लपटात।
सूरदास जाको मन जासों सोई ताहि सुहात ।।३६८।।

शब्दार्थ—दाख—किसमिस। कीरा—कीड़ा। कोरि—कुरेदकर।

व्याख्या—गोपियाँ ऊधो से कहती हैं कि यह तो अपने मन के मानने की बात है। देखो, विष का कीड़ा दाख, छुहारे आदि अमृत फलों को त्याग कर विषपान ही करता है। यदि कोई चकोर को कपूर खिलाये तो वह उससे तृप्त नहीं हो सकता, वह तो अगार खाकर ही सन्तुष्ट होगा। भौंरा काठ को कुरेद कर अपना घर बनाता है परन्तु कमल के पत्तों में बँध जाता है। पतंगा अपना हित दीपक से आलिंगन करने में ही समझता है। सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि हे उद्धव ! जिसका मन जिससे लगा होता है, उसे वही सुहाता है। भाव यह है कि हमें तो सगुण भाता है, निर्गुण नहीं अतः आपको बुरा मानने की आवश्यकता नहीं।

विशेष—हुआ लैला पै मजनूं, कोहकन शीरीं पे शैदाई।
मोहब्बत दिल का सौदा है कि जिसकी जिससे बन आई।।

कर कंकन ते भुज टाड़ भई।
मधुबन बसत स्याम मनमोहन आवन-अवधि जो निकट दई।।
जोहति पथ मनावति संकर बासर निसि मोहिं गनत गई।
पाती लिखत बिरह तन व्याकुल कागर ह्वै गयो नीरमई।।
ऊधो ! सुख के बचमन कहियो हरि सों सूल नितप्रतिहि नई।
सूरदास प्रभु तुम्हरे दरस को बिरह बियोगिनि बिकल भई।।३६६।।

शब्दार्थ—कंकन—कंकण (आभूषण)। टाँड—वरा। गनत—गिनते हुए।

व्याख्या—अपनी विरहकृशता का वर्णन करती हुई उद्धव से कोई गोपी निवेदन करती है कि हम विरह के कारण इतनी दुर्बल हो गई हैं कि हाथ का कंकण बाँहों के लिए बरा का कार्य देता है। मथुरा जाते समय कृष्ण ने शीघ्र ही वापिस लौटने को कहा था, परन्तु इतना लम्बा समय बीत गया, उन्होंने आने का नाम तक न लिया। मैं प्रतिदिन उनका मार्ग देखती रहती हूँ। शंकर की मनौती मनाते और दिन तथा रात गिनती गिनने में व्यतीत करती हूँ। यदि कभी उन्हें पत्र लिखने बैठ गई तो वियोग में इतनी अधीर हो उठती हूँ कि कागज आँसुओं के पानी में भीग जाता है। अतः हे उद्धव ! मैं तुम्हें लिखित सन्देश देने में भी असमर्थ हूँ। अतः तुम मेरा सन्देश मौखिक रूप में यही कह देना कि हमें यहाँ प्रतिदिन नयी व्यथा भोगनी पड़ रही है। हे सूर के स्वामी स्याम ! तुम्हारे दर्शनों के लिए यह आपकी विरह-वियोगिनी बहुत ही व्याकुल है।

विशेष—(i) 'कर-कंकन ते भुज टांड भई' में सम्बन्धातिशयोक्ति अलंकार है।

(ii) राम की अगूठी भी सीता के वियोग से कंकण का काम देने लगी थी। देखिये, तुलसी ने हनुमान द्वारा सीता से क्या कहलवाया है—

तुम पूछत कहि मुद्रिके मौन होत यहि नाम।
कंकन की पदवी दई तुम बिन या कहँ राम॥

(iii) इस विषय मे फारसी-शैली की अस्वाभाविकता भी उर्दू में दर्शनीय है—

हुआ हूँ इस कदर बेज़ार मैं तेरी जुदाई से।
कि चींटीं खींच ले जाती है मुझको चारपाई से॥

फूल बिनन नहिं जाउँ सखी री! हरि बिन कैसे बीनौं फूल।
सुन री, सखी! मोंहि राम दोहाई फूल लगत तिरसूल॥
वे जो देखियत राते राते फूलन फूली डार।
हरि बिन फूल झार से लागत झरि झरि परत अँगार॥
कैसे के पनघट जाउँ सखी री! डोलौं सरिता तीर।
भरि भरि जमुना उमडि चली है इन नैनन के नीर॥
इन नैनन के नीर सखी री! सेज भई घर नाउँ।
चाहति हौं याही पै चढ़ि कै स्याम-मिलन को जाउँ॥
प्रान हमारे बिन हरि प्यारे रहे अधरन पर आय।
सूरदास के प्रभु सों सजनी कौन कहै समुझाय॥३७०॥

शब्दार्थ—झार—अग्नि की ज्वाला। घर नाउ—बाँस में उलटे घड़े बाँधकर बनाई हुई नाव।

व्याख्या—राधा अपनी सखी से वियोग-दशा का वर्णन करती हुई कहती है कि हे सखी! मैं फूल बीनने कैसे जाऊँ। हरि के बिना मैं फूल कैसे बीन सकती हूँ? मैं राम की सौगन्ध खाकर कहती हूँ कि मुझे फूल त्रिशूल की भाँति दुखदायक प्रतीत होते है। वे जो सामने लाल-लाल फूल डालियो पर दिखाई दे रहे हैं, हरि के वियोग मे ये मुझे ज्वाला के समान लग रहे हैं और जब ये गिरते हैं तो ऐसा लगता है जैसे अंगारे गिर रहे हों। मैं तो उनके वियोग मे पनघट पर भी नहीं जाती। यदि मैं नदी के किनारे घूमने जाती हूँ तो मेरे नेत्रों के आँसुओं से यमुना मे बाढ़ आ जाती है। और तो क्या कहूँ सखी! आँसुओं के प्रवाह से मेरी शय्या भी घडनई बन जाती है। उस समय मेरे मन मे इच्छा होती है कि इसी पर चढ कर श्याम से मिलने जाऊँ। प्रिय कृष्ण के विरह में मेरे प्राण ओठो पर आ गये हैं। किन्तु हे सखी! मेरी इस असाध्य अवस्था को सूर के प्रभु से कौन समझाकर कहेगा?

विशेष—इस पद में विरहासक्ति है।

ऊधो जू! मैं तिहारे चरनन लागौं बारक या ब्रज करवि भाँवरी।
निसि न नींद आवै, दिन न भोजन भावै, मग जोवत भई दृष्टि झाँवरी॥

वहै वृंदावन स्याम सघन वन, वहै सुभग सरि सांवरी
एक स्याम बिनु स्याम न भावै सुधि न रही जैसे वक्त बावरी
लाज छाँड़ि हम उतहि आवतीं चलि न सकति भावै विरह-तांवरी।
सूरदास प्रभु बेगि दरस दीजै होय है जग मे कीरति रावरी॥

शब्दार्थ—तांवरी—ताप, बुखार। वारक—एक वार। सरि—नदी यमुना।

व्याख्या—व्यथित एवं निराश राधा दीनता से उद्धव से निवेदन कर रही है ऊधो। हम तुम्हारे पैर छूती हैं। कोई ऐसा उपाय करो जिससे प्रियतम व्रज का फेरा अवश्य लगा दें। रात को तो हमें नींद नहीं आती और दिन मे भोजन नहीं लगता। उनका मार्ग देखत देखते हमारी दृष्टि धुंधला गई है। यद्यपि वृन्दा भी बादलों और वनो से भरा हुआ है तथा यमुना भी वही श्यामल है किन्तु श्याम बिना हमें कोई श्याम वस्तु अच्छी ही नहीं लगती। बावलो की भाँति बकती फिरती हूँ। मैं तो लज्जा को त्यागकर उधर ही चल देती पर क्या करूँ विरह के कारण चलने में असमर्थ हूँ। हे सूर के स्वामी! आप हमें शीघ्र ही दर्शन दे दो। इस कार्य से आपको हमारे प्राण-रक्षक होने का यश प्राप्त होगा।

विशेष—दिल ही बुझा हुआ हो तो लुत्फे बहार क्या।
इस गुलशने जहाँ की खिज़ाँ क्या बहार क्या॥

ऊधो! जबहि जाव गोकुलमनि आगे पैंयाँ लागन कहियो।
अब मोंहि विपत परी दर्सन बिनु, सहि न सक्त तन दरसन दहियो॥
सरदचंद मोंहि बैरि महा भयो, अनिल सहि न परै किहि बिधि रहियो?
सूर स्याम बिनु गृह बन सूनो, बिन मोहन काको मुख चहियो॥३

शब्दार्थ—जाव—जाओ। पैं याँ—चरण। लागन—स्पर्श करना।

व्याख्या—राधा उद्धव से प्रार्थना कर रही है कि हे उद्धव! जब तुम मथुरा जाओ तो गोकुलमणि कृष्ण से मेरा चरण स्पर्श कह देना। फिर यह देना कि तुम्हारे दर्शन के बिना मेरे ऊपर सकंट का पहाड़ टूट पड़ा है। मेरा शरीर विरह के इस कठोर ताप को सहन नहीं कर सकता। जाड़े का यह चन्द्रमा मेरा बैरी हो गया है। शीतल वायु का स्पर्श भी मुझसे सहन नहीं हो पा रहा है। फिर कहो कि रहा कैसे जाय? सूर के श्याम के बिना क्या घर और क्या वन, सभी सूना है। मोहन के बिना मैं किसका मुख देखकर जीवित रहूँ?

विशेष—इस पद मे अतिशयोक्ति अलंकार है।

मेरे मन इतनी सूल रही।
वे बतियाँ छतियाँ लिखि राखीं जे नंदलाल कही॥

एक दिवस मेरे गृह आये मैं ही मथति दही।
देखि तिन्हें मैं मान कियो सखि सो हरि गुसा गही॥
सोचत अति पछितात राधिका मूर्च्छित धरनि ढही।
सूरदास प्रभु के बिछुरे तें बिथा न जाति सही॥३७३॥

शब्दार्थ—ही—थी। ढही—गिर पड़ी।

व्याख्या—सयोग के दिनो का स्मरण कर पश्चात्ताप करती हुई राधा कहती है मेरे मन मे एक बात का बहुत दुःख है। कृष्ण ने उस समय जो बातें कही थी वे अब मेरी छाती पर लिखी हुई हैं। एक दिन की बात मुझे याद आ रही है कि जब मैं बिलो रही थी तो वे मेरे घर आये। उन्हें देखकर मैं रूठ गई तो बस श्रीकृष्ण क्रुद्ध गये। आज वियोग के दिन उस बात को स्मरण करके राधा मूर्च्छित होकर पृथ्वी गिर पड़ीं। सूर कहते हैं कि श्याम के वियोग में जो व्यथा होती है, वह असहनीय है।

विशेष—प्रस्तुत पद मे विप्रलम्भ शृगार रस का परिपाक सुन्दर ढंग से हुआ है। हाँ राधा प्रोषितपतिका नायिका है। रति स्थायी भाव है। कृष्ण आलम्बन है। नके गुणो का स्मरण उद्दीपन विभाव है। आँसुओं का प्रवाह आदि अनुभाव हैं तथा रण संचारी भाव है।

देखौ माधव की मित्राई।
आई उघरि कनक-कलई ज्यों दै निज गए दगाई॥
हम जाने हरि हितू हमारे उनके चित्त ठगाई।
छांडी सुरति सबै ब्रज कुल की निठुर लोग बिलमाई॥
प्रेम निवाहि कहा वै जानै सांचेई अहिराई।
सूरदास बिरहिनी बिकल-मति कर मींजै पछिताई॥३७४॥

शब्दार्थ—मित्राई—मित्रता। उघरि—खुलना। निज—केवल, बिल्कुल। बिलमाई—फँसा दिया। मींजै—मल-मलकर।

व्याख्या—कृष्ण की निष्ठुरता पर उपालम्भ करती हुई गोपियाँ कह रही हैं कि माधव की मित्रता तो देखो। वह पहला सारा प्रेम बनावटी था। उसकी सोने-सी चमकदार कलई आज खुली है। जब वे यहाँ थे तो उस समय उनका स्नेह वास्तविक तथा अत्यन्त उच्च दिखाई देता था परन्तु यहाँ से जाते ही उन्होंने सब सुध-बुध भुला दी। हम तो हरि के इस प्रेम को देखकर उन्हें अपना सच्चा प्रेमी समझती थीं। किन्तु आज मालूम हुआ है कि उनके मन मे कपट था। हमसे दूर क्या गये, हम सभी ब्रज-वासियो को भूल गये। निष्ठुर लोगों ने उन्हें फँसा लिया। वस्तुतः वे प्रेम-निर्वाह क्या जानें? वे तो सच्चे अहीर रहे। सूर कहते हैं कि इस प्रकार की विरह से व्यथित गोपियाँ हाथ मल-मलकर पछताने लगीं।

विशेष—प्रेमिका को जब उसका प्रेमी बहुत दिनों तक स्मरण नहीं करता और करता भी है तो निष्ठुरता के साथ तो वे उसके प्रेम को बनावटी समझें तो इसमें

अस्वाभाविकता कुछ नहीं।

> मैं जान्यो मोको माधव हित है कियो।
> अति आदर अलि ज्यों मिलि कमलहिं मुख-मकरंद लियो॥
> वरु यह भली पूतना जाको पय-संग प्रान पियो।
> मनमधु अँचे निपट सूने तन यह दुख अधिक दियो॥
> देखि अचेत अमृत अवलोकनि, चालि जु सींचि हियो।
> सूरदास प्रभु या अधार के नाते परत जियो॥३७५॥

शब्दार्थ—पय-संग—दूध पीने के साथ-साथ। हियो—हृदय।

व्याख्या—श्रीकृष्ण के प्रेम का उपालम्भ देती हुई राधा कहती है कि मैंने तो यह समझा था कि वे मुझसे प्रेम करते हैं। परन्तु उन्होंने तो मेरे साथ भ्रमर जैसा व्यवहार किया है। जैसे भौंरा कमल का मधु पीकर उसे छोड़ देता है उसी प्रकार मेरे मुख मकरन्द का पान करके उन्होंने मुझे त्याग दिया है। इस विरह व्यथा से तो अच्छा यही होता कि हमारा यह जीवन उसी आनन्द का अनुभव करते-करते समाप्त हो जाता। हमसे तो वह पूतना ही अच्छी रही जिसके स्तनपान करते-करते ही प्राणों को भी श्रीकृष्ण पी गए थे। हमारे मन रूपी मधु का पान करके उन्होंने हमारा तो यह शून्य शरीर छोड़ दिया और इस प्रकार हमारे लिए यह अत्यन्त दुःखदायी हो गया। जाते समय हमें अचेत देखकर तुमने अपनी अमृत रूपी दृष्टि से जो हमारे हृदय को सिक्त किया था उसीसे अभी तक हम जीवित चल रही हैं।

विशेष—दूसरी पंक्ति में उपमा, चौथी-पाँचवीं पंक्ति के 'मनमधु' तथा अमृत अवलोकनि में निरंगरूपक और जीवित रहने का युक्ति-सहित कारण बताने के कारण काव्यलिंग अलंकार है।

> अब या तनहिं राखि का कीजै?
> सुनि री सखी! स्यामसुंदर बिन बाटि विषम विष पीजै॥
> कै गिरिए गिरि चढ़ि कै, सजनी, कै स्वकर सीस सिव दीजै।
> कै दहिए दारुन दावानल, कै तो जाय जमुन धँसि लीजै॥
> दुसह वियोग विरह माधव के कौन दिनहिं दिन छीजै?
> सूरदास प्रीतम बिन राधे सोचि सोचि मन ही मन खीजै॥३७६॥

शब्दार्थ—बाटि—घिसकर। का—क्या। खीजै—खीजती है।

व्याख्या—वियोग की असह्य व्यथा से पीड़ित राधा अपनी सखी से कहती है कि इस शरीर को रखकर क्या करूँगी? श्रीकृष्ण-वियोग से पीड़ित होकर तो मेरे मन में ऐसा कुछ आ रहा है कि विष घिसकर पी जाऊँ या पर्वत से गिरकर मर जाऊँ या अपना सिर अपने हाथों से काटकर शिवजी पर चढ़ा दूँ। या कठोर दावानल में जलकर प्राणान्त कर लूँ अथवा यमुना में डूब मरूँ। माधव के असह्य वियोग में दिन

ात क्षीण होकर मरना तो बहुत दु:खदायी है। सब दिन की व्यथा को एक बार ही क्यों न सहन कर लिया जाय? सूर कहते हैं कि प्रिय कृष्ण के वियोग मे राधा मन ही मन इन बातों को सोचकर खीझती रहती है।

विशेष—अब न पहला वलवला है औ' न अरमानों की भीड़।
'अब फकत मिटने की ख्वाहिश यक दिले-बिस्मिल में है॥

यशोदा का वचन उद्धव-प्रति

सँदेसो देवकी सों कहियो।
हौं तो धाय तिहारे सुत की कृपा करत ही रहियो॥
उबटन तेल और तातो जल देखत ही भजि जाते।
जोइ जोइ माँगत सोइ सोइ देतो करम करम करि न्हाते॥
तुम तो टेव जानतिहि ह्वै हौ तऊ मोंहि कहि आवै।
प्रात उठत मेरे लाल लडैतेहि माखन-रोटी भावै॥
अब यह सूर मोंहि निसिबासर बड़ो रहत जिय सोच।
अब मेरे अलक-लडैते लालन ह्वै हैं करत सकोच॥३७७॥

शब्दार्थ—तातो—गरम। करम करम—क्रमशः। धाय—दाई। अलक-लडैते—लाड़ले।

व्याख्या—देवकी के पास सन्देश भेजती हुई यशोदा उद्धव से कह रही हैं कि हे ऊधो! तुम देवकी से मेरा यह सन्देश कह देना कि मैं तो तुम्हारे पुत्र की धाय हूँ, मुझ पर सदैव कृपादृष्टि रखना। कृष्ण की आदत है कि वे उबटन, तेल और गर्म जल को देखते ही स्नान के भय से दूर भाग जाते थे। मैं फिर जो-जो वे माँगते थे वही देकर उन्हें नहाने के लिए तैयार करती थी। तुम तो माँ होने के नाते उनकी आदतो से परिचित होगी ही किन्तु मेरा हृदय इन बातों को कहने मे सन्तोष पा रहा है। सवेरे उठते ही उन्हें माखन-रोटी अच्छी लगती है। सूर कहते हैं कि यशोदा ने उद्धव से कहा कि मेरे मन मे तो अब दिन-रात यही चिन्ता रहती है कि अब मेरे लाडले कृष्ण को वहाँ ये वस्तुएँ मागने मे सकोच होता होगा।

विशेष—स्वभावोक्ति अलकार के साथ वात्सल्य रस की सुन्दर अभिव्यक्ति देखते ही बनती है।

यद्यपि मन समुझावत लोग।
सूल होत नवनीत देखि कै मोहन के मुख-जोग॥
प्रात-समय उठि माखन रोटी को बिन माँगे दैहै?
को मेरे बालक कुंवर कान्ह को छन-छन आगो लैहै?
कहियो जाय पथिक! घर आवैं राम स्याम दोउ भैया।
सूर वहां कत होत दुखारी जिनके मो सी मैया॥३७८

शब्दार्थ—आगो लै है—सेवा की। राम—बलराम। नवनीत—माखन।

व्याख्या—यशोदा उद्धव जी से कह रही हैं कि यद्यपि सभी लोग मेरे मन को समझा रहे हैं किन्तु जब मैं दही बिलोकर माखन निकालती हूँ तो उसे मोहन-मुख के योग्य समझकर मेरे मन में पीड़ा हो उठती है। पता नहीं प्रातःकाल उठते ही बिना मांगे उन्हें कोई माखन-रोटी देता होगा या नहीं ? अब मेरे कुंवर कन्हैया की क्षण क्षण में कौन सेवा करता होगा ? अरे पथिक, तुम जाकर कह देना कि बलराम और श्याम दोनों भाई घर चले आवें। सूर कहते हैं कि यशोदा ने उद्धव से कहा कि जब मुझ जैसी माता अभी तक जीवित है तो वे व्यर्थ में ही वहाँ दुखी क्यों हो रहे हैं ?

विशेष—प्रस्तुत पद में मातृ हृदय की सुन्दर व्यंजना देखने योग्य है।

जो पै राखति हौ पहिचानि।
तौ बारेक मेरे मोहन को मोहिं देहु दिखाई आनि।।
तुम रानी वसुदेव गिरहिनी हम अहीर ब्रजवासी।
पठै देहु मेरो लाल लडैतो बारौं ऐसी हाँसी।।
भली करी कंसादिक मारे अवसर काज कियो।
अब इन गैयन कौन चरावै भरि-भरि लेत हियो।।
खान, पान, परिधान, राजसुख के तोउ लाड लड़ावै।
तदपि सूर मेरो यह बालक माखन ही सचु पावै।।३७६।।

शब्दार्थ—गिरहिनी—पत्नी (देवकी)। परिधान—वस्त्र। बारौं—जला दो।

व्याख्या—यशोदा देवकी को सन्देश भेजते हुए कह रही हैं कि हे ऊधो ! उस कह देना कि यदि वे मेरे और अपने परिचय को सुरक्षित रखना चाहती हैं तो केवल एक बार मेरे मोहन को मुझे दिखाकर ले जायँ। आप ठहरीं वसुदेव जी की गृहलक्ष्मी और हम हैं ब्रज के रहने वाले अहीर। हम आपसे विग्रह या आग्रह कर ही कैसे सकती हैं ? किन्तु बस अब आप दुलारे कृष्ण को भेज दो। हमारे तो प्राण निकल रहे हैं और तुम्हें हँसी सूझ रही है। ऐसी हँसी चूल्हे में जाय। उन्होंने कंस को मारा था, बड़ा अच्छा किया था। यह कार्य तो समयानुरूप रहा। परन्तु अब वे वहाँ क्यों रह रहे हैं, क्या काम है अब उन्हें वहाँ ? यहाँ तो काम बहुत सारे हैं। यहाँ इन गायों को कौन चरायेगा ? ये गायें भी उनके वियोग में हृदय भर लेती हैं। सूर कहते हैं कि यशोदा ने कहा कि ठीक है कि वहाँ किसी वस्तु का अभाव नहीं है परन्तु कृष्ण की तो आदत ही विचित्र है। चाहे उन्हें खाने-पहनने को कितना ही भी मिल जाय और राजवैभव के सुख तथा लाड प्यार मिल जावें किन्तु मेरा बेटा तो माखन से ही चैन एवं सन्तोष प्राप्त करेगा।

विशेष—इस पद में मातृ हृदय की कोमल भावनाओं की देखने योग्य व्यंजना

मथुरा लौटने पर उद्धव-वचन कृष्ण-प्रति

माधव जू! मैं अति सचु पायो।
अपने जानि संदेस-ब्याज करि ब्रजजन-मिलन पठायो॥
छमा करौ तौ करौं बीनती जो उत देखि हौं आयो।
श्रीमुख ज्ञानपंथ जो उचरयो तिन पै कछु न सुहायो॥
सकल निगम-सिद्धांत जन्म स्रम स्यामा सहज सुनायो।
नहिं स्रुति, सेष, महेस, प्रजापति जो रस गोपिन गायो॥
कटुक कथा लागी मोहिं अपनी, वा रस-सिंधु समायो।
उत तुम देखे और भाँति मैं, सकल तृषाहि बुझायो॥
तुम्हरी अकथ-कथा तुम जानो हम जन नाहिं बसायो।
सूरदास सुंदर पद निरखत नयनन नीर बहायो॥३८०॥

शब्दार्थ—सचु—सुख। स्यामा—राधा। ब्याज—बहाने से।

व्याख्या—गोपियों की प्रेम भक्ति से प्रभावित उद्धव मथुरा आकर कृष्ण से कहते हैं कि हे कृष्ण! गोकुल में मुझे बहुत सुख मिला है। आपने मुझे अपना समझकर संदेश ने के बहाने ब्रजवासियों से भेंट करने भेजा था। क्षमा करें, मैं उसे तुमसे निवेदन रना चाहता हूँ जो कुछ मैंने वहाँ देखा। आपने अपने मुख से जिस ज्ञानमार्ग का उप-श दिया था उसका उन पर तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ा। जीवन भर परिश्रम करने के श्चात् वेद के जो सिद्धान्त समझ में आ सकते हैं उन्हें राधा ने यों ही सुना दिया। जिस आनन्द का वेद वर्णन नहीं कर सकते, शेषनाग, शिव तथा ब्रह्मा प्राप्त नहीं कर सकते, वहाँ गोपियाँ उसका गान कर रही हैं। मैं वहाँ उस आनन्द के सागर में डूब गया तथा उसके सामने मुझे अपनी कथा अर्थात् ज्ञानोपदेश कड़ुवा प्रतीत हुआ। वहाँ तो मैंने आपका कुछ और ही रूप देखा जिससे मेरी सारी ज्ञान-पिपासा शान्त हो गई। हे भगवान्! आपकी कथा अकथनीय है। उसे तो बस आप ही जान सकते हैं। हम जैसे व्यक्तियों की समझ से वह बाहर की वस्तु है। सूर कहते हैं कि इस प्रकार कहते-कहते भगवान् के सुन्दर चरणों को देखते ही उद्धव की आँखों से जल की वर्षा होने लगी।

विशेष—श्री जगन्नाथदास रत्नाकर ने भी इस अवसर पर ऊधो के मुख से कुछ इसी प्रकार के वचन कहलवाये हैं, देखिये—

रावरे पठाए जोग देन कौं सिधाए हुते,
ज्ञान गुन गौरव के अति उद्‌गार में।
कहै रत्नाकर पै चातुरी हमारी सबै,
कित धौं हिरानी दसादारुन अपार में।
उडि उधिरानी किधौं ऊरध उसासनि में,
बहिधौं बिलानी कहूँ आँसुनि की धार में।

चूर ह्वै गई धौं मूरि दुख के दरेरनि मैं,
छार ह्वै गई धौं बिरहानल की झार मे ॥

दिन दस घोष चलहु गोपाल ।
गंयन को अवसेर मिटावहु भेंटहु भुज भरि ग्वाल ॥
नाचत नहीं मोर या दिन तें आए बरषा-काल ।
मृग दूवरे दरस तुम्हरे बिनु सुनत न बेनु रसाल ॥
बृंदावन भावतो तुम्हारो देखहु स्याम तमाल ।
सूरदास मैया जसुमति के फिरि आवहु नंदलाल ॥३८१॥

शब्दार्थ—अवसेर—हैरानी, दु ख । घोष—ग्वालो के गाँव । दूवरे—दुवले ।

व्याख्या—उद्धव जी कृष्ण से कह रहे हैं कि हे गोपाल ! दस दिन के लिए ग्वालो के गाँव चलिए । वहाँ चलकर आप गायो के कष्ट को दूर कर दो और ग्वालो से भुजा फैला कर भेंट करो । जिस दिन से आप वहाँ से आये हो उसी दिन से वर्षा आने पर भी मयूर नृत्य नही करते । वहाँ आपके दर्शनों के विना मृग भी क्षीण हो गये हैं ।वे अब वशी को मधुर ध्वनि भी नही सुनते । हे तमाल के समान श्याम अग वाले कृष्ण ! आप अपने प्रिय वृन्दावन को चलकर देख लो । सूर कहते हैं कि हे यशोदानन्दन ! आप पुन. व्रज को लौट ही चलो ।

विशेष—गोप गोपियों के सच्चे प्रेम का उद्धव पर कितना प्रभाव पड़ा है कि वे स्वय कृष्ण को व्रज लौट जाने की शिक्षा देने लगे ! गये थे ज्ञान सिखाने और सीख आये भक्ति ! गुरू जी शिष्य बनकर चले आये ।

कहँ लौं कहिए ब्रज की बात ।
सुनहु स्याम ! तुम बिनु उन लोगन जैसे दिवस बिहात ॥
गोपी, ग्वाल, गाय गोसुत सब मलिन बदन, कृसगात ।
परमदीन जनु सिसिर हेम-हत अम्बुजगन बिनु पात ॥
जो कोउ आवत देखति हैं सब मिलो बूझति कुसलात ।
चलन न देत प्रेम-आतुर उर, कर चरनन लपटात ॥
पिक, चातक बन बसन न पावहिं, बायस बलिहिं न खात ।
सूर स्याम संदेसन के डर पथिक न वा मग जात ॥३८२॥

शब्दार्थ—हेम-हत—हिम या पाले के मारे हुए । कहँ लौं—कहाँ तक । बायस —कौआ ।

व्याख्या—उद्धव जी कृष्ण से कह रहे हैं कि मैं तुमसे व्रज की दशा का वर्णन कहाँ तक करूँ । हे श्याम ! सुनो, तुम्हारे बिना उन लोगो के दिन बडी कठिनता से बीते हैं । व्रज मे गोपियाँ, ग्वाले, गो और बछड़े सभी तुम्हारे बिना मलिन मुख और कृश शरीर हो गये हैं । उनकी इस परमाधिक दीनता को देखकर ऐसा लगता है मानो

कमलो के सुन्दर समूह पर शिशिर ऋतु मे पाला पड गया हो और अब वे बिना पत्तो के रह गये हैं। जो कोई ब्रज की ओर आता-जाता है वे गोपियाँ उसकी ओर बहुत उत्सुकता से देखती हैं और सभी मिलकर उससे तुम्हारी कुशलता का समाचार पूछती हैं। प्रेम मे वशीभूत होने के कारण वे उस राहगीर को आगे नही चलने देती, उसके पैरों को अपने हाथो से जकडकर पकड लेती हैं। कोयल और चातक अब ब्रज मे अच्छी दशा मे नही हैं और कौआ भी अन्न बलि को नही खाता है। सूर कहते हैं कि उद्धव ने कृष्ण से कहा कि गोपियो द्वारा बार-बार तुम्हारे सन्देशो को पूछने के भय से अब पथिक ब्रजमार्ग पर भी नहीं जाते हैं।

विशेष—प्रस्तुत पद मे उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति अलकार है।

उनमे पाँच दिवस जो बसिये।
नाथ ! तिहारी सौं जिय उमगत, फेरि अपनपो कस ये ?
वह लीला बिनोद गोपिन के देखे ही बनि आवै।
मोको बहुरि कहाँ वैसो सुख, बडभागी सो पावै॥
मनसि, बचन, कर्मना, कहत हौं नाहिन कछु अब राखी।
सूर काढ़ि डार्यो हौं ब्रज तें दूध माँझ को माखी॥३८३॥

शब्दार्थ—माखी—मक्खी। कस—कैसा। अपनपो—अपनापन।

व्याख्या—उद्धव कृष्ण जी से कह रहे हैं कि यदि ब्रज की गोपिकाओं के बीच पाँच दिन भी रह लिया जावे तो हे नाथ ! मैं आपकी सौगन्ध खाकर कहता हूँ कि हृदय आनन्द मे विभोर हो जाता है और अपनापन नष्ट हो जाता है। उनकी अनेक प्रकार की लीलायें तथा मनोविनोद देखते ही बनते हैं। मुझे भला अब फिर वह सुख कहाँ मिल सकता है ? वह सुख तो बडे भाग्यशाली व्यक्तियों को प्राप्त होता है। मन, वचन और कर्म से अब मैं सत्य ही कहूँगा और कुछ गुप्त नही रखूगा। सूर कहते हैं कि उद्धव ने श्रीकृष्ण से कहा कि ब्रजवासियो ने मुझे ब्रज से इस प्रकार निकाल कर फेंक दिया जैसे दूध से मक्खी को निकालकर फेंक दिया जाता है।

विशेष—उपमा एव लोकोक्ति अलकार है।

चित्त दै सुनो, स्याम प्रबीन !
हरि तिहारे बिरह राधे मैं जो देखी छीन।
कहन को सँदेस सुदरि गवन मो तन कीन॥
छुटी छुद्रावलि, चरन अरुझे, गिरी बलहीन।
बहुरि उठी सँभारि, सुभट ज्यों परम साहस कीन॥
बिन देखे मनमोहन मुखरो सब सुख उनको दीन।
सूर हरि के चरन अबुज रहीं आसा लीन॥३८४॥

शब्दार्थ—छुद्रावलि—क्षुद्र घटिका, करधनी। गवन—जाना। छीन—क्षीण।

अरुझे—फँस गये।

व्याख्या—उद्धव जी कृष्ण से कह रहे हैं कि हे चतुर कृष्ण ! अब तनिक आपके विरह से व्यथित राधा की क्षीण दशा सुनो। जब वह सुन्दरी आपके लिए मेरे निकट अपना सन्देश लेकर आई तो उनकी करधनी गिर पड़ी और व्याकुलता में चरण फँस गये तथा वह शक्तिहीन होकर गिर पड़ी। उन्होंने अपनी इस दशा को उसी प्रकार सम्भालने का यत्न किया जिस प्रकार कि कोई योद्धा रण मे थक कर फिर लड़ने का साहस एकत्रित करता है। सूर कहते हैं कि उद्धव ने कहा कि हे कृष्ण ! आपने उन्हें अपने सुदर मुख के दर्शन नहीं दिये और अन्य सारे सुख उनके पास हैं। अत बस अब वह आपके कमलरूपी चरणों के दर्शन पाने की आशा मे डूबी हुई हैं।

विशेष—प्रस्तुत पद में रूपक, उपमा एव अतिशयोक्ति अलकार है।

माधव ! यह व्रज को व्योहार।
मेरो कह्यो पवन को भुस भयो, गावत नदकुमार॥
एक ग्वारि गोधन लै रेंगति, एक लकुट कर लेति।
एक मडली करि बैठारति, छाक बाँटि कै देति॥
एक ग्वारि नटवर बहु लीला, एक कर्म-गुन गावति।
कोटि भाँति कै मैं समुझाई नेकु न उर मे ल्यावति॥
निसिबासर ये ही व्रत सब व्रज दिन-दिन नूतन प्रीति।
सूर सकल फीको लागत है देखत वह रस रीति॥१८५॥

शब्दार्थ—व्योहार—व्यवहार। लकुट—लाठी। नेकु—तनिक। नूतन—नयी।

व्याख्या—व्रजवासियों की दशा पर प्रकाश डालते हुए उद्धव कृष्ण जी से कहते हैं कि हे कृष्ण ! व्रज मे मेरे साथ बहुत ही विचित्र व्यवहार हुआ। मैंने उन्हें जो कुछ उपदेश सुनाया वह पवन मे उड़ते भूसे के समान व्यर्थ हो गया और सारी गोपियाँ कृष्ण की ही गाथा गाती रहीं। एक ग्वालिनी को मैंने दही हाथ मे लेकर धीरे-धीरे चलते देखा और एक को हाथ में लाठी लिए हुए। कोई ग्वालिनी अन्यो को घेरे में बैठाकर छाक की रोटी बाँट रही थी। कोई-कोई तो हे कृष्ण ! आपकी नाना प्रकार की लीलायें कर रही थी और कोई आपके गुण कर्मों के गीत गा रही थी। मैंने उन्हें अनेक प्रकार से समझाया परन्तु वे तनिक भी न समझी। व्रज बालाओं का हे कृष्ण ! यही व्रत है कि व आपसे प्रतिदिन नयी-नयी प्रीति करें। सूर कहते हैं कि उद्धव ने कृष्ण से कहा कि हे कृष्ण, उनकी प्रेमयुक्त लीलाओं तथा सरस व्यवहारों को देखकर ससार में हमे अन्य सभी कुछ फीका लगता है।

विशेष—प्रस्तुत पद मे लोकोक्ति अलकार है।

कहिबे में न कछू सक राखी।
बुधि विवेक अनुमान आपने मुख आई सो भाखी॥

हौं पचि कहतो एक पहर में, वै छन माहिं अनेक।
हारि मानि उठि चल्यों दीन ह्वै छाँडि आपनी टेक॥
कंठ वचन न बोलि आयो, हृदय परिहस-भीन।
नयन भरि जो रोय दीन्हों ग्रसित-आपद दीन॥
श्रीमुख की सिखई ग्रथन की कथि सब भई कहानी।
एक होय तेहि उत्तर दीजै सूर उठी अबुहानी॥३८६॥

शब्दार्थ—भाखो—कहा। परिहस—खेद। उठी अबुहानी—प्रेत-सा सवार हो गया अर्थात् सब की सब एक साथ बोलने लगी।

व्याख्या—उद्धव कृष्ण से कह रहे हैं कि हे कृष्ण ! मैंने गोपिकाओं से अपनी-सी कहने में कुछ कमी न रखी। उनसे मैंने अपनी बुद्धि, ज्ञान तथा अनुमान के अनुसार जैसे मेरे मुख मे आया वैसा मैंने कहा। मैं तो थक-थककर उनसे एक पहर मे थोड़ा बहुत ही कह पाता था किन्तु वे एक क्षण मे कितनी ही बातें कह जाती थी। अन्त मे उनके इस व्यंगात्मक व्यवहार से तंग होकर तथा हार मानकर वहाँ से उठकर चला आया। उस समय मेरा गला रूँध गया और मेरे मुख से कोई वचन न निकला तथा मेरा हृदय उनके वश मे हो गया। वे मेरे सामने अपनी आँखों मे आँसू भर कर इस प्रकार रोने लगी जैसे बड़ी भारी आपत्ति मे फस कर कोई दीन रोने लगता है। हे कृष्ण ! तुम्हारे द्वारा सिखाये हुए सारे ग्रंथ उनके सामने कहानी बन गये। सूर कहते है कि उद्धव ने कृष्ण से कहा कि हे कृष्ण ! वहाँ पर कोई एक होता तो उसे उत्तर देकर समझा भी देते किन्तु वहाँ तो सब थी और सभी एक साथ बोलती थी। मुझे तो उस समय ऐसा लगता था कि जैसे कोई प्रेत उन पर चढ़ गया हो।

विशेष—उद्धव जी कृष्ण के सम्मुख गोपियो के प्रेम की महानता का प्रगटीकरण जिस सुन्दर ढंग से कर रहे हैं उससे यही स्पष्ट होता है कि उन पर गोपियो का रंग पक्का ही चढ़ा है।

अब अति पगु भयो मन मेरो।
गयो तहाँ निर्गुन कहिबे को, भयो सगुन को चेरो॥
अति अज्ञान कहत कहि आयो दूत भयो वहि केरो।
निज जन जानि जतन तें तिनसों कीन्हो नेह घनेरो॥
मैं कछु कह्यो ज्ञान गाथा ते नेकु न दरसति नेरो।
सूर मधुप उठि चल्यो मधुपुरी बोरि जोग को बेरो॥३८७॥

शब्दार्थ—नेरो—निकट। बेरो—बेड़ा, नाव। चेरो—शिष्य।

व्याख्या—गोपियों के प्रेम से प्रभावित ऊधो श्रीकृष्ण से मथुरा आने पर कह रहे हैं कि मेरा मन अब पगु हो गया है। मैं गया था वहाँ निर्गुण ब्रह्म का उपदेश देने किन्तु हो गया सगुण का सेवक। कहने को तो अपनी अज्ञानता के कारण उनसे मैं ज्ञान-गाथा कह ही आया। किन्तु थी मेरी यह गलती ही। मैंने उन्हे अपना ही समझकर

उनसे अपार स्नेह किया। मैंने उनसे जो कुछ ज्ञान चर्चा की, उन्होंने उसे अपने निकट तक भी नहीं आने दिया। सूर कहते है कि ज्ञान का बेड़ा डुबाकर उद्धव जी मथुरा चले आये।

विशेष—उद्धव जी के कहने का तात्पर्य यह है कि गोपियों की प्रेम-दशा अत्यन्त प्रभावशालिनी थी। उसे देखकर बुद्धिमान व्यक्ति को चुप ही रहना चाहिये था। मैंने तो व्यर्थ ही उन्हे ज्ञानोपदेश दिया।

माधव ! सुनो ब्रज को नेम।
बूझि हम षट मास देख्यो गोपिकन को प्रेम॥
हृदय तें नहिं टरत उनके स्याम राम समेत।
अलु-सलिल प्रवाह उर पर अरघ नयनन देत॥
चीर अचल, कलस कुच, मनो पानि पदुम चढाय।
प्रगट लीला देखि, हरि के कर्म, उठतीं गाय॥
देह गेह-समेत अर्पन कमललोचन-घ्यान।
सूर उनके भजन आगे लगै फीको ज्ञान॥३८॥

शब्दार्थ—पानि—हाथ। षट—छ। पदुम—कमल।

व्याख्या—मथुरा वापिस आने पर उद्धव ने कृष्ण से कहा कि मैंने ब्रज के नियम को देखा और प्रश्नोत्तर द्वारा छः माह गोपियों के प्रेम को समझने का यत्न किया है। गोपियों के हृदय से बलराम और कृष्ण की याद नहीं मिटती। इसी स्मृति को ताजी बनाये रखने के हेतु वे अपने हृदय पर आँसुओं का जल प्रवाहित करती रहती हैं। उनके सजल नेत्र उस पर अर्घ्य चढ़ाया करते हैं। अचल के चीर, कुचों के कलश तथा हाथों के कमल उस हृदय में स्थित स्मृति की मंगल-कामनायें करती रहती हैं। व्यथा मे विभोर होकर वे आपकी लीलाओं को प्रगट रूप में देखती हैं और फिर आपके कार्यों का ध्यान करके आपकी कीर्ति के गीत गाने लगती हैं। अपने कमल रूपी नेत्रों मे आपका ध्यान करके वे अपने शरीर और घर-बार सभी कुछ बलिदान कर देती हैं। सूर कहते हैं कि उद्धव ने कृष्ण से कहा कि उनकी आपके प्रति भक्ति को देखकर यह ब्रह्मज्ञान की चर्चा हमे फीकी ज्ञात होती है।

विशेष—इस पद मे उत्प्रेक्षा तथा वाचक लुप्तोपमा अलंकार है।

सुनो स्याम यह बात और कोउ क्यों समुझाय कहै।
दुहुँ दिसि की रति बिरह बिरहिनी कैसे कै जु सहै।
जब राधे तबहीं मुख माधो माधो रटति रहै।
जब माधो ह्वै जात सकल तनु राधा बिरह दहै।
उभय अग्र दौ दारु कीट ज्यों सीतलताहि चहै।
सूरदास अति बिकल बिरहिनी कैसेहु सुख न लहै॥३८९॥

शब्दार्थ—उभय—दोनो। अग्र—अगो। लहै—प्राप्त करे।

व्याख्या—राधा के विरहोन्माद का वर्णन करते हुए उद्धव कहते हैं कि हे कृष्ण! इस बात को भला और कोई किस प्रकार समझा कर बता सकता है कि प्रेम की विरह-वेदना की दो भिन्न भिन्न दशाओं को विरहिणी राधा किस प्रकार सहन करती है? विरह की एक दशा मे तो उसे इस बात का ज्ञान है कि वह राधा है और वह कृष्ण-कृष्ण रटती रहती है। किन्तु जब विरह की दूसरी दशा होती है अर्थात् वह कृष्णमय हो जाती है तो वह कृष्ण होने पर राधा के विरह मे जलने लगती है। उसकी दशा ठीक उसी प्रकार की है कि जैसे किसी लकडी के दोनों छोरो मे आग लग जाने पर उसके अन्दर बैठा हुआ कोई कीट शीतलता प्राप्त करने के लिए इधर-उधर भडभडाता है। सूर कहते हैं कि उद्धव ने श्रीकृष्ण से कहा कि विरहिणी राधिका को इस प्रकार किसी भी ढग से सुख प्राप्त नही होता।

विशेष—सूर पर विद्यापति का प्रभाव है। देखिए, उन्होने भी राधा का कुछ इसी प्रकार का चित्र निम्न पक्तियो में खीचा है—

राधा सयँ जब पुनतहि माधव माधव सयँ जब राधा।
दारुन प्रेम तबहि नहिं टूटत बाढत विरहक बाधा॥
दुहि दिसि दारू दहन जैसे दगधई आकुल कीट पराग।

उमँगि चले दोउ नैन बिसाल।
सुनि सुनि यह सदेस स्यामघन सुमिरि तिहारे गुन गोपाल।
आनन वपु उरजनि के अतर जलधारा बाढो तेहि काल।
मनु जुग जलज सुमेर सु ग तें जाय मिले सम ससिहि सनाल।
भीजे विय आँचर उर राजित तिनपर बर मुकुतन की माल।
मनो इदु आए नलिनी दलऽलकृत-अमी-ओसकन जाल।
कहँ यह प्रीति रीति राधा सों कहँ यह करनी उलटी चाल।
सूरदास प्रभु कठिन कथन तें क्यों जीवै विरहिनी बेहाल॥३६०॥

शब्दार्थ—वपु—शरीर। उरज—स्तन। अतर—बीच। सनाल—मृणाल सहित। विय—दोनों। आँचर—स्तन।

व्याख्या—उद्धव कृष्ण स कहते हैं कि हे कृष्ण! आपके सन्देश को सुनकर तथा आपके गुणो का स्मरण करके राधा की दशा अत्यन्त अधीर हो गई है तथा उनके दोनों विशाल नेत्रों से जल की धारा उमड पडी है। आपके सन्देश को कहते हीं उनका मुख, शरीर तथा उरोज नेत्रो की जलधारा से भीग गये। उस समय वे ऐसे प्रतीत होने लगे मानो दो कमल सुमेरु पर्वत की चोटी के ऊपर खिले हुए हैं जो शशि से उन कमलों के सुन्दर नाल द्वारा जुडे हुए हैं। कहने का भाव यह है कि पर्वतरूपी कुचो पर दो कमल रूपी नेत्र हैं जिनम से आँसुओ की धारा प्रवाहित हो रही है और यही धारा सुन्दर नाल है जो मुख रूपी चन्द्रमा से कुच रूपी पर्वत के ऊपर दो कमल रूपी नेत्रो को मिला

रही है। यौवन में वे दोनों स्तन आँसुओं की धारा में भीग गये। उन पर सुन्दर मोतियों की माला शोभायमान थी। अश्रुओं से भीगा वक्षस्थल ऐसा लग रहा था कि मानो चन्द्रमा (मुख) के उदित होने पर उनके द्वारा टपके अमृत (आँसू) से मुंदे कमल (स्तन) शोभकणों को धारण किये हुए शोभायमान हों। कहाँ तो राधा से आपकी वह प्रीति और कहाँ यह निर्गुणोपदेश का आदेश। वस्तुत: आपकी सब बातें उल्टी ही हैं। सूर कहते हैं कि उद्धव जी ने कृष्ण से कहा कि आप ही सोचिये कि आपके इन कठोर सन्देशों से विरह व्यथित गोपियाँ किस प्रकार जीवित रह सकती हैं?

विशेष—उत्प्रेक्षा अलंकार की छटा देखते ही बनती है।

नैन घट घटत न एक घरी।
कबहूँ न मिटत सदा पावस ब्रज लागी रहति झरी।
विरह इन्द्र बरसत निसिबासर यह अति अधिक करी।
उरध उसास समीर तेज जल उर भुवि उमगि भरी।
बूड़ति भुजा रोम द्रुम अंबर अरु कुच उच्च धरी।
चलि न सकत थकि रहे पथिक सब चंदन कीच खरी।
सब ऋतु मिटी एक भई ब्रजमहिं यहि विधि उलटि धरी।
सूरदास प्रभु तुम्हरे बिछुरे मिटि मर्याद टरी॥३६१॥

शब्दार्थ—घट—पानी से भरे घड़े। झरी—पानी की झड़ी। उर भुवि—छाती रूपी भूमि। भुजा—शाखा। रोम—रोम रूपी वृक्ष। अंबर—वस्त्र, आकाश। पथिक—यात्री, शरीर के विभिन्न अंग।

व्याख्या—राधा की विरह दशा का वर्णन करते हुए उद्धव कृष्ण से कहते हैं कि राधा के घड़े के समान नेत्र जल से सदैव सम्पन्न रहते हैं। उनमें एक घड़ी के लिए भी पानी कम नहीं होता क्योंकि ब्रज में सदैव वर्षाऋतु रहती है और जल बरसता रहता है। विरह के कारण राधा के नेत्रों से दिन-रात जल बरसता रहता है। बरसने की कुछ अधिकता हो गई है। राधा की गहरी-गहरी साँसें पवन का तीव्र वेग है और इस प्रकार इस तीव्र वायु के साथ आँसुओं का जल हृदय रूपी भूमि पर उमगित होकर बह रहा है जिससे चारों ओर जल ही जल दिखाई दे रहा है। आँसुओं की इसी जल-वृष्टि से शाखा रूपी भुजाएँ, भीगे वृक्षों के समान रोयें तथा ऊँचे स्थान की भाँति कुच आदि सभी डूब गये हैं। इसी भीषण वर्षा के कारण शरीर के सभी अंग रूपी पथिक थक गए हैं और वे उस कीचड़ के कारण जो कि संयोग के समय लगाये हुए चंदन के साथ आँसुओं से मिलकर बन गई थी अब मार्ग पर नहीं चल पाते। ब्रह्मा का चार ऋतुओं का विधान भी ब्रज में पलट गया।। यहाँ तो केवल एक पावस ऋतु ही रहती है। सूर कहते हैं कि उद्धव ने कहा कि हे कृष्ण, तुम्हारे वियोग के कारण ही ब्रह्मा की यह ऋतु वाली मर्यादा मिट गई।

व—(1) देखिए, निम्न पंक्तियों में रत्नाकर जी ने भी ब्रज में इस एक ही

ऋतु के रहने का वर्णन किया है—

लागी रहै नैननि सों नीर की झरी औ
उठै चित्त में चमक सो चमक चपला की है।
बिनु घनश्याम धाम-धाम ब्रज मण्डल में
ऊधो नित बसत बहार बरसा की है॥

(ii) सागरूपक अलकार की छटा भी दर्शनीय है।

मैं समुझाई अति, अपनो सो।
तदपि उन्हैं परतीति न उपजी सबै लखो सपनो सो।
कही तिहारी सबै कही मैं और कछू अपनी।
श्रवन न वचन सुनत हैं उनके जो घट महँ अकनी।
कोइ कहै बात बनाइ पचासक उनकी बात जु एक।
धन्य धन्य जो नारी ब्रज की बिनु दरसन इहि टेक।
देखत उमँग्यो प्रेम, यहाँ की धरी रही सब, रोयो।
सूर स्याम हौं रह्यौं ठगो सो ज्यों मृग चौंको भोयो॥३६२॥

शब्दार्थ—अपनो सो—भरसक प्रयास करके। घट—शरीर। अकनी—सुनकर भी। भोयो—धोखे में पडा हुआ।

व्याख्या—कृष्ण को समझाते हुए ऊधो जी कहते हैं कि हे कृष्ण ! मैंने राधा को अपना भरसक प्रयास करके समझाया किन्तु उन्हें मेरे कथन पर तनिक भी विश्वास नहीं हुआ। वह इस सबको स्वप्न समझकर सुनती रही। हे कृष्ण ! राधा के सामने मैंने आपकी तो सब बातें कही ही थी साथ ही अपनी ओर से भी बढ़ा-चढा कर बातें कहीं किन्तु जिस प्रकार कोई घडे मे बोले तो घडे से आवाज निकल कर बोलने वाले के ही कानों मे पड जाती है और घडे पर उसका कुछ प्रभाव नही रहता उसी प्रकार मेरी बातें राधा के कानो मे पडी और उस पर कोई असर न हुआ। कोई चाहे उन गोपियों से सहस्रों प्रकार की बातें बना-बना कर कहता रहे किन्तु धन्य हैं वे ब्रज की स्त्रियाँ क्योंकि उनकी तो बस एक ही प्रतिज्ञा है कि कृष्ण यदि एक बार दर्शन दे दें तो हम कुछ बात मानेंगी अन्यथा कुछ भी नही मान सकती। हे कृष्ण ! उन गोपियो की इस प्रकार की प्रेम की दृढता को देखकर मेरा हृदय भी प्रेम से उमगित हो उठा और मैं मथुरा की राजनीति तथा अपने निर्गुण ब्रह्म के उपदेश पर बहुत पछताया। सूर कहते हैं कि उद्धव ने कृष्ण से कहा कि मैं तो अपनी इस चर्चा से ऐसा चकित होकर रह गया जैसे कोई धोखे मे पडा हुआ मृग अपने को धोखे मे पडा हुआ समझकर चौंक पड़ता है।

विशेष—लैके पन सूछम अमोल जो पठायो आप,
ताको मोल तनक तुल्यो न तहाँ सांठी तें।
ल्याये धूरि पूरि-अंग अगनि तहाँ की जहाँ,
ज्ञान गयो सहित गुमान गिरि गाँठी तें॥

सुनि लीन्हो उनहो को कह्यो।
अपनी धात समुझि मन ही मन गुनि अरगाय रह्यो॥
अबलनि सों कहि परै जापै बात तोरि कनिकानि।
अनबोले पूरो है नियह्यो बहुत दिनन को जानि॥
जानि बूझि कै हौं क्यों पठयो सठ बावरो अयानो।
तुमहू बूझि बहुत बातन को वहां जाहु तो जानो॥
आज्ञा-भंग होय क्यों मोपै गयों तिहारे ठीले।
सूर ज्यायन ही की ओरी रह्यो जु गज सों लीले॥३६३॥

शब्दार्थ—गुनि—समझकर। अरगाय—पृथक्। बात तोरि कनिकानि—बहुत अच्छी प्रकार से समझाकर बातें करना। ठीले—बरबस भेजने से।

व्याख्या—ऊधो जी कृष्ण से कह रहे हैं कि ऐसी दशा में तो आप अब बस ब्रज के रहने वालो का ही कहना मान लीजिये। मैं तो अपनी चाल को बस अपने मन मे ही समझ-बूझकर रख लूं तथा उनसे अलग हो जाऊं तो अच्छा है; जो मनुष्य अबलाओं से अपनी बातों को खूब समझा-समझा कर कह सके, उसी को वहां भेजो। उन्होंने मुझे तो बिना किसी बात का ठीक उत्तर दिये ही चुप रहने के लिए वापिस भेज दिया है। हे कृष्ण ! तुमने मुझ जैसे अज्ञानी, पागल और दुष्ट मनुष्य को जान-बूझकर वहां क्यो भेजा ? तुम जो मुझसे यहां बैठे-बैठे बहुत-सी बातें पूछ रहे हो, तुम्ही यदि वहां चले जाओ तो तुम्हें पता लग जाय कि यह कार्य कितना कठिन है। परन्तु वास्तव मे बात यह है कि मैं आपकी आज्ञा का उल्लघन नही कर सकता था इसीलिए आपके बरबस भेजने पर वहां चला गया। सूर कहते हैं कि उद्धव ने कहा कि हे कृष्ण ! आपको तो मुझे ब्रज भेजने को कुछ ऐसा आग्रह हो गया था जैसे किसी हाथी को अपने मुख की वस्तु को पेट मे ठेलने का आग्रह रहता है।

विशेष—उद्धव जी ब्रज से निरुपाय होकर लौटे थे, अत वे कृष्ण से कहते हैं कि महाराज यदि तुम भी वहां जाओ तो दाल-आटे का भाव पता लग जाय।

जो पै प्रभु करुना के आलै।
तौ कत कठिन कठोर होत मन मोहिं बहुत दुख सालै।
बड़ो बिरद की लाज दीनपति करि सुदृष्टि देखौ।
मोसी बात कहत किन सनमुख कहा अवनि लेखौ।
निगम कहत बस होत भक्ति तें सोऊ है उन कीनी।
सूर उसास छांडि हा हा ब्रज जल अंखियाँ भरि लीनी॥३९४॥

शब्दार्थ—आलै—घर। सालै—पीड़ा देता है। बिरद—अंगीकृत रीति, बाना।

व्याख्या—उद्धव जी कृष्ण से कहते हैं कि यदि हे कृष्ण आप दया के घर हैं फिर आप गोपियो के प्रति इतने कठोर क्यो हैं ? आपकी इस कठोरता से मेरे हृदय

हुत पीड़ा होती है। हे कृष्ण ! अब तो आप अपनी महानता की लज्जा की रक्षा और गोपियों पर दया कर दो। अब आप मेरी इन बातों को सुनकर मेरी ओर नहीं देखते, सिर नवाकर पृथ्वी की ओर क्यों देख रहे हो ? वेद तो कहते हैं कि सच्ची भक्ति से भक्त के वश में हो जाते हो और वह सच्ची भक्ति गोपियाँ तुमसे ती ही हैं। सूर कहते हैं कि इतना कहते-कहते उद्धव लम्बे लम्बे साँस छोड़ने लगे, ों मे पानी भर लाये और 'हा हा ब्रज' कहकर बहुत जोर से विलाप करने लगे।

विशेष—देखने की बात यह है कि ज्ञान के देवता ऊधो गोपियों के प्रेम से इतने भावित हुए कि स्वय कृष्ण से ब्रज जाने का आग्रह करने लगे। धन्य है वह ब्रज, न्य है वह ब्रजभूमि और धन्य हैं वे गोपियाँ जिनके प्रेम का प्रभाव ज्ञानी उद्धव र इतना पड़ा कि वे इनकी याद करके स्वय भी कृष्ण के सम्मुख दहाड़ मारकर ोने लगे।

कहौ तो सुख आपनो सुनाऊँ।
ब्रज जुवतिन कहि कथा जोग की क्यौं न इतो दुख पाऊँ॥
हौं इक बात कहत निर्गुन की वाही में अटकाऊँ।
वे उमड़ीं वारिधितरग ज्यों जाकी थाह न पाऊँ॥
कौन कौन को उत्तर दीजै तातें भज्यौं अगाऊँ।
वै मेरे सिर पाटी पारहिं, कथा काहि ओढ़ाऊँ ?
एक आँधरी, हिय की फूटी, दौरे पहिरि खराऊँ।
सूर सकल ब्रज षटदरसी, हौं बारहखड़ी पढ़ाऊँ।॥३९५॥

शब्दार्थ—अगाऊँ—पहले ही। कथा—कथरी, गुदड़ी। षटदरसी—छहों शास्त्रों का ज्ञाता। बारहखड़ी—अक्षर ज्ञान।

व्याख्या—उद्धव जी कृष्ण से पूछ रहे हैं कि यदि आप कहें तो मैं अपने सुख का कथन करूँ। सच पूछा जाए तो ब्रज की नारियों के सामने मैंने जो योग की चर्चा करने का साहस किया था उसका इतना दण्ड तो मुझे मिलना ही चाहिए था। जब मैं निराकार भगवान् का प्रतिपादन करते हुए किसी एक बात को कहने में ही अटका रह जाता था तो वे सागर की तरंगों के समान मेरे पास उमड़कर आती थीं और मैं उनके हृदय की गहराई को नाप नही सकता था। ऐसी दशा में मैं उनकी किस किस बात का उत्तर देता। अत मैं वहाँ से भाग खड़ा हुआ। वे तो मेरे सिर में वेणी बाँधन लगती थीं। फिर भला मैं गुदड़ी किसे उढ़ाता अर्थात् वैराग्य किसको सिखलाता ? भला नेत्र विहीन कोई मूर्खा यदि खड़ाऊँ पहनकर दौड़ने का उपक्रम करे तो उसकी मूर्खता का भी क्या कोई ठिकाना है ? यही दशा मेरी थी, मैं जो उन्हें ज्ञान की शिक्षा देने चला गया। सूर कहते हैं कि उद्धव ने कहा कि हे कृष्ण ! तुम्हीं बताओ कि मुझसे अधिक और कौन मूर्ख हो सकता है कि जो उन्हें (गोपियों को) छहों दर्शनों का ज्ञान होते हुए भी मैं उन्हें अक्षर ज्ञान सिखलाने गया था।

विशेष—इस पद मे उपमा अलकार है।

तब तें इन सबहिन सचु पायो।
जब तें हरि-सँदेस तिहारो सुनत तांवरो आयो॥
फूले व्याल, दुरे ते प्रगटे, पवन पेट भरि खायो।
भूले मृगा चौंकि चरनन तें, हुतो जो जिय बिसरायो॥
ऊँचे बैठि विहग सभा-बिच कोकिल मगल गायो।
निकसि कदरा तें केहरि हू माथे पूँछ हिलायो॥
गृहबन तें गजराज निकसि कै अँग अँग गर्व जनायो।
सूर बहुरिहौ, कह राधा, कै करिहौ बैरिन भायो ?॥३९६॥

शब्दार्थ—सचु—सुख। तांवरो—ताप। व्याल—सर्प।

व्याख्या—राधा की व्यथा बताते हुए ऊधो कृष्ण से कहते हैं कि जब राधा ने तुम्हारा सन्देश सुना तो उन्हे ताप चढ़ गया। उनके इस प्रकार दुखित होने से उनके पराजित उपमानों को बहुत सुख मिला। साँप जो राधा की वेणी को देखकर लज्जा-वश छिप गये थे वे अब अपने छिपे हुए स्थानों से निकल आये और खूब हर्षित हुए तथा पेट भर कर हवा का भोजन किया। वे मृग जो राधा के नेत्रों को देखकर लज्जा-वश अपने आपको भूल गये थे तथा अपने नेत्रों को उनसे हेय समझने लगे आज फिर अपनी सब बातों को विस्मृत करके पैरो के निकट आकर बैठने लगे हैं। राधा की मीठी वाणी को सुनकर किसी समय जो कोकिल छिप गई थीं अब वे पक्षियों की सभा में ऊँचे स्थान पर बैठ कर अपने सुन्दर कण्ठ से मगल गान करने लगीं। सिंह जो उसकी कमर के सौन्दर्य को देखकर लज्जावश छिप जाता था आज शान से अपनी गुहा से बाहर आकर अपनी पूँछ हिलाने लगा है। अपने घर जगल से आज वह हाथी भी निकल पड़ा है जो राधा की मस्तानी चाल को देखकर अपनी चाल को भूल बैठा था। उसे आज फिर अपने अग अग के गर्व के प्रगटीकरण का अवसर मिला है। सूर कहते हैं कि उद्धव ने कृष्ण से कहा कि हे कृष्ण ! राधा ने पूछा है कि हे श्याम, अब तुम फिर कब आओगे : तुम मेरे इन शत्रुओं का मनचाहा कब तक करते रहोगे ?

विशेष—रूपकातिशयोक्ति अलकार का यह पद बहुत सुन्दर उदाहरण है। इसके अतिरिक्त हेतूत्प्रेक्षा भी है।

फिरि फिरि औपै कत दुख पावत।
अबकी और चतुर कोउ पठयो यारन ह्वै है आवत॥
मैं परमारथ सब समुझायो, रोषसहित वै कोपी।
सुफलकसुत को कहो मानिहैं आरति करिहैं गोपी॥
इतनी सुनत कमलदल लोचन खैंचि मुकर कर लीन्हो।
सूर स्याम मुसकाय जानि जिय तरक जानि हँसि दीन्हो॥३९७॥

शब्दार्थ—धारन—द्वार पर। सुफलक सुत—अक्रूर। भारति—आरती, सत्कार। तरक—तर्क।

व्याख्या—कृष्ण के यह कहने पर कि हे उद्धव ! तुम व्रज फिर जाओ, उद्धव जो कह रहे हैं कि आप मुझे ही व्रज में बार-बार भेजकर क्यों दुखी होते हो ? मेरी राय में तो यही ठीक रहेगा कि अब किसी चतुर पुरुष को वहाँ भेजा जाय। जब पता लगेगा वह तो द्वार पर से ही लौटकर आ जायगा। मैंने तो गोपियों को प्रत्येक प्रकार के स्वार्थ और परमार्थ की बात समझायी थी किन्तु उन्हें हर बार क्रोध ही आया। मेरी राय में अब आप अक्रूर को ही फिर से भेज दें। उनसे प्रसन्न होकर गोपियाँ उनका कहना मान लेंगी तथा उनकी आरती उतार लेंगी। ऐसा मजा चखावेंगी जो वे भी ध्यान रखेंगे। उद्धव की इतनी बात सुनकर कमल के समान सुन्दर नेत्र वाले कृष्ण ने उन्हें अपनी भुजाओं में समेट लिया। सूर कहते हैं कि इस प्रकार कृष्ण ने अपने सखा उद्धव के हृदय की बात को अपने मन में समझकर मुस्करा दिया।

सुनहु स्याम जु ये व्रज-बनिता बिरह तुम्हारे भई बावरी।
नाहिन नाथ और कहि आवत छाँड़ि जहाँ लगि कथा रावरी।
कबहुँ कहति हरि माखन खायो कौन बसै या कठिन गाँव री।
कबहुँ कहति हरि ऊखल बाँधे घर घर तें लै चलो दाँवरी।
कबहुँ कहति व्रजनाथ बन गये जोवत मग भई दृष्टि झाँवरी।
कबहुँ कहति या मुरली महियाँ लै लै बोलत हमरो नाँव री।
कबहुँ कहति व्रजनाथ साथ तें चंद्र उग्यो है एहि ठाँव री।
सूरदास प्रभु तुम्हरे दरस बिनु अब यह मूरति भई साँवरी॥३६८॥

शब्दार्थ—दाँवरी—रस्सी। झाँवरी—मलिन। महियाँ—में।

व्याख्या—उद्धव जी कृष्ण से कहते हैं कि हे कृष्ण ! आपके विरह में सभी व्रज की स्त्रियाँ पागल हो गई हैं। वे तो बस आपकी कथा ही कहती रहती हैं, उनसे और कुछ कहते ही नहीं बनता। वे आपकी लीलाओं का स्मरण करती हैं। कभी कहती हैं कि कृष्ण ने हमारा सारा माखन खा लिया, ऐसे कठिन गाँव में कौन रहे ? कभी कोई गोपी दूसरी गोपियों से कहती है कि चलो सखियो, अपने घर से रस्सियाँ ले चलो, हम हरि को ऊखल से बाँध देंगी। कभी कहती हैं कि घनश्याम को वन गये बहुत विलम्ब हो गया है, मार्ग देखते-देखते हमारी दृष्टि धुंधली हो गई है। कोई कहती है कि देखो कृष्ण मुरली द्वारा हमारा नाम ले लेकर हमें पुकार रहे हैं। कभी कहती हैं कि यहाँ कृष्ण के साथ राधिका को साथ-साथ खेलते देखा था। कभी वे कहती हैं, सूर कहते हैं, कि हे कृष्ण ! तुम्हारे दर्शनों के बिना चन्द्रमा रूपी वही राधा मलीन हो गई है।

विशेष—इस पद में प्रकारान्तर से कृष्ण की बाल-लीला अंकित है।

हरि आए सो भली कीनी ।
मोहिं देखत कहि उठी राधिका अक तिमिर को दीनी ॥
तनु अति कँपति विरह अति व्याकुल उर धुकधुकी खेद कीनी ।
चलत चरन गहि रही गई गिरि स्वेद-सलिल भय भीनी ॥
छूटी लट, भुज फूटी वलया, टूटी लर, फटि कचुकी झीनी ।
मनो प्रेम के परन परेवा याही तें पढि लीनी ॥
अवलोकति यहि भांति मानो छूटी अहमनि छीनी ।
सूरदास प्रभु कहाँ कहाँ लगि है अयान मति हीनी ॥३६६॥

शब्दार्थ—धुकधुकी—धड़कन । भीनी—युक्त । लट—केश । वलया—चूड़ी । लर—माला की लड़ी । कचुकी—चोली । झीनी—पतली, महीन । परन—प्रण । परेवा—कबूतर ।

व्याख्या—राधा की उन्माद दशा का वर्णन करते हुए उद्धव जी कृष्ण से कहते हैं कि हे कृष्ण ! जब मैं व्रज पहुँचा तो राधा जी ने यह समझा कि कृष्ण जी आ गये और कहा कि कृष्ण जी आ गये तो अच्छा ही किया । मुझे देखते ही वह उठीं और उन्होंने आँखें बन्द किये ही अन्धकार में चुम्बन किया । विरह से वह बहुत व्याकुल थीं और उनका हृदय धड़क रहा था । मेरे चलते ही उन्होंने चरण पकड़ लिये और गिर पड़ीं तथा पसीने से लथ-पथ हो गईं बालों की लटें छूट गईं और बाहों की चूड़ियाँ टूट गईं । उनकी माला की लड़ी भी टूट गई और उनकी जीर्ण चोली भी फट गई । मैंने यह समझ लिया कि वह प्रेमपाश में बँधी कपोती के समान व्याकुल हैं । सर्पिणी जैसे मणि के छिन जाने पर व्याकुल होकर छटपटाने लगती है, उसी प्रकार मैंने उनको देखा । मैं कहाँ तक राधा जी की दशा का वर्णन करूँ, वह तो प्रेम में दीवानी होकर बहुत ही बुद्धिहीन बन गई हैं ।

विशेष—(1) विप्रलम्भ शृ गार की 'उन्माद और जड़ता' इन दो दशाओं का इस पद में बहुत सुन्दर वर्णन है ।

(1.) उत्प्रेक्षा अलकार है ।

कृष्ण-वचन उद्धव-प्रति

ऊधो ! मोहिं व्रज बिसरत नाहीं ।
हस सुता की सुदरि कगरी अरु कुजन की छाहीं ॥
वै सुरभी, वै बच्छ दोहनी, खरिक दुहावन जाहीं ।
ग्वाल बाल सब करत कुलाहल नाचत गहि गहि बाहीं ॥
यह मथुरा कचन की नगरी मनि मुक्ताहल जाहीं ।
जबहिं सुरति आवति वा सुख की जिय उमगत, तनु नाहीं ॥
अनगन भांति करी बहु लीला जसुदा नद निबाहीं ।
सूरदास प्रभु रहे मौन ह्वै, यह कहि कहि पछिताहीं ॥४००॥

शब्दार्थ—खरिक—गोशाला । जाहीं—जिसमें । निबाहीं—निर्वाह किया ।

व्याख्या—कृष्ण ने उद्धव से ब्रज की सुन्दरता का स्मरण करके प्रत्युत्तर में कहा कि हे उद्धव ! मुझसे ब्रज का विस्मरण नहीं होता । ब्रज में सूर्य की कन्या यमुना की सुन्दर कछार है और घने-घने कुंजों की छाया है । ब्रज की वे गायें, बछड़े और दुहनियाँ ! जब हम गोशाला में दूध दुहाने जाते थे तो मेरे साथी जो रास्ते में शोर करते हुए हाथ में हाथ डालकर नाचते गाते हुए चलते थे, मुझसे भूलते नहीं हैं । हे उद्धव ! यह मथुरा सोने की नगरी अवश्य है और यहाँ मोती और मणियों की खान भी हैं परन्तु जब मुझे ब्रज में भोगे हुए सुख का स्मरण होता है तो मेरा हृदय वहाँ पहुँचने के लिए व्याकुल हो उठता है और मैं सुधबुध भूल जाता हूँ । मैंने वहाँ अनेकों प्रकार की लीलायें की थीं जिन्हें यशोदा और नन्द ने हँस-हँसकर निर्वाह किया था । सूर कहते हैं कि कृष्ण उद्धव से इतना कहते कहते ही चुप हो गये और ब्रज का स्मरण कर-कर के पछताने लगे ।

विशेष—प्रस्तुत पद भ्रमरगीत का अन्तिम पद है ।

वस्तुत कृष्ण ब्रज तथा ब्रज की सभी वस्तुओं को याद करके अवश्य ही पछताने लगे होंगे क्योंकि वे उनसे बहुत प्रेम करते थे ।